श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

गौडीय सेनाधिपति श्रील श्रीजीवगोस्वामी प्रभुपाद विरचितः

# श्रीभक्तिरसामृतशेषः

हिन्दी अनुवाद सहित

गौडीयसम्प्रदायाचार्य
श्रीहरिदास शास्त्रीणा सम्पादितः

आधुनिक प्रतिलिपि संस्करण

पण्डित श्रीरघुनाथ दास शास्त्रीजी महाराज
व्याकरण,वेदान्तदर्शन,(श्रीधामवृन्दावन)

www.bhaktidarshan.org

Whatsapp +918218476676

॥ श्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ॥

# श्रीभक्तिरसामृतशेषः

## श्रीमज्जीवगोस्वामिविरचितः ।



श्रीवृन्दावनधामवास्तव्येन
न्याय-वैशेषिकशास्त्रि, न्यायाचार्य, काव्य,व्याकरण, सांख्य, मीमांसा
वेदान्त, तर्क, तर्क, तर्क, वैष्णवदर्शनतीर्थ,विद्यारत्नाद्युपाध्यलंकृतेन
**श्रीहरिदासशास्त्रिणा सम्पादितः ।**



सद्ग्रन्थ प्रकाशक :—
**श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस**
श्रीहरिदास निवास, कालीदह
वृन्दावन, मथुरा ।

※ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ※

# विज्ञप्तिः



परम करुण भगवद् श्रीकृष्णचैतन्य देव की अनुकम्पा से **"श्रीभक्तिरसामृतशेष"** नामक अलङ्कार ग्रन्थ प्रकाशित हुआ, प्रस्तुत ग्रन्थरत्न के रचयिता, विश्रुत कीर्त्ति श्रीजीवगोस्वामिचरण हैं।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ में भक्तवृन्द के काव्यरसास्वादनोपयोगी काव्यालङ्कार, गुण दोष, रीति प्रदर्शन का समावेश न होने से साहित्यदर्पणोक्तप्रक्रिया के अनुसरण से श्रीजीवगोस्वामिपाद ने उक्त विषयों का सोदाहरण मनोहर विश्लेषण किया है।

साहित्य दर्पणोक्त तृतीय, पञ्चम, षष्ठ परिच्छेद प्रस्तुत ग्रन्थ में अनुपयोगी होने के कारण गृहीत नहीं हुए हैं, वस्तुतः रसप्रकरण का श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में, नाटक चन्द्रिका में नाटकादि का वर्णन होने से उक्त प्रकरण गृहीत नहीं हुआ, पञ्चम परिच्छेद का पृथक् विश्लेषण अनावश्यक होनेसे ही प्रस्तुत ग्रन्थ में उसका सन्निवेश नहीं हुआ है। साहित्य दर्पणोक्त परिच्छेद समूह के कारिकादि का ग्रहण होने परभी उदाहरण समूह का सन्निवेश भक्तिपक्ष में ही हुआ है, ग्रन्थकार की स्वोक्ति भी इस प्रकार है।—

**"राधाकृष्णपदाश्रयिरूपश्रीः शश्वदद्भुता स्फुरति।**
**भक्तिरसामृतसिन्धुर्यस्याः प्रसरन् जगन्ति पुष्णाति ॥१॥**
**उज्ज्वलनीलमणिः सोप्युदगात्तस्माद् रसामृताम्बुधितः।**
**क्षीराम्बुधितः प्रकटां हरिरुचिमप्यन्यथा घटयन् ॥२॥**
**तदमृतसिन्धुविसृष्टं हरयेऽलङ्काररत्नमाकलयन्।**
**साहित्यान्वयि दर्पणमपि सङ्कलितं करिष्यामि ॥३॥**

**अस्थाने परिपातान् म्लायति साहित्यदर्पणः सोऽयम् ।**
**मुरजिति समर्प्यमाणः स्थाने कान्ति सदालभताम् ।।४।।**
**साहित्यं निजवर्णनमवतंसं कर्त्तुमीहते स हरिः ।**
**तत् कुर्वन्नहमर्पितमधिहरि दर्पण–समर्पणं कुर्य्याम् ।।५।।"**

प्रस्तुत ग्रन्थ में सप्तप्रकाश (अध्याय) हैं, **प्रथम प्रकाश में—काव्यस्वरूप निरूपण, द्वितीय में—वाक्यस्वरूप निरूपण, तृतीय में—ध्वनिभेद, चतुर्थ में—शब्दार्थालङ्कार, पञ्चम में—दोष, षष्ठ में—रीति, सप्तम में—गुण निर्णय है,** युक्ति एवं उदाहरणादि वैशिष्ट्य मण्डित हैं।

"अलङ्कार शास्त्र"को सुधीगण काव्यमीमांसा शब्दसे कहते हैं, उक्त नामसे ही अलङ्कार शास्त्र की सम्यक् उपयोगिता परिस्फुट होती है, अलङ्कार शास्त्र में व्युत्पन्न व्यक्ति,—काव्य रचना में एवं काव्यस्थ गुण दोष रीति अलङ्कार प्रभृति का परिज्ञान में सक्षम होता है। चिकित्सा शास्त्र में निदान की आवश्यकता जिस प्रकार होती है, उस प्रकार ही भाषा में व्याकरण की आवश्यकता है, काव्य में भी अलङ्कार शास्त्र की आवश्यकता तद्रूप ही है। प्रस्तुत शास्त्र में दोष, गुण, रीति रसादिका सन्निवेश प्रचुरतया होने पर भी मुख्य रूपसे 'अलङ्कार' शब्द से ही कहते हैं।

भामहोद्भट रुद्रट वामन प्रभृति प्राचीन आलङ्कारिकगण गुणालङ्कार की प्रायशः समता को मानकर "अलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति"अलङ्कार आख्या देते हैं। अतएव अलङ्कार की प्रधानता के कारण शास्त्र भी अलङ्कार नाम से परिचित हुआ। इस प्रकार सिद्धान्त को ही **अलङ्कार प्रस्थान** कहते हैं।

काव्यादर्श नामक ग्रन्थ में श्रीदण्डीने प्रधानतया अलङ्कार का स्थापन करने परभी "गुणा एव काव्यप्राणाः" कहकर गौड़ीय वैदर्भी रीति भेद का निरूपण किया है। "श्लेषः प्रसादः समता" इत्यादि

दश गुण वैदर्भी मार्गका प्राण हैं। इसके विपरीत ही उनके मत में गौड़ी रीति है। वामन ने भी काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति में "गुणं काव्यशोभाविधायकं, अलङ्कारश्च गुणकृत काव्यशोभाया उत्कर्ष सम्पादकम्" कहकर गुणों का प्राधान्य ही माना है। इनके मत में "रीतिरेव काव्यात्मा"। वैदर्भी पाञ्चाली गौड़ी रीति के मध्यमें वैदर्भी रीति ही श्रेष्ठ है। ध्वन्यमान अर्थ को ही वाच्यार्थ का उपकरण मानकर इस मत में भी अलङ्कार का प्राधान्य स्वीकृत है। इसे **रीतिप्रस्थान** कहते हैं। भामहोद्भट—अलङ्कार का सर्वथा प्राधान्य को मानते हैं, एवं उससे अतिरिक्त धर्मान्तर का अस्तित्व को भी नहीं मानते हैं, अन्यान्य धर्मसमूह का अन्तर्भाव अलङ्कार में करते हैं।

भरत नाट्यशास्त्र में अलङ्कार एवं दोष गुणों की विवृत्ति है। आचार्य्य वामन ने शब्दगुणार्थगुणों का पार्थक्य सुस्पष्ट रूपसे दर्शाया है, भोजराज कृत सरस्वती कण्ठाभरण में दोष गुणों का विस्तृत विवरण एवं विभाग निरूपण भी है। रुद्रट् कृत काव्यालङ्कार में गुण अलङ्कार, दोष रीतियों का सन्निवेश समानरूपसे विद्यमान है। लाटीरीति को मानकर उन्होंने चतुर्विध रीति का प्रतिपादन भी किया है। लघु समास निबद्धा रचना को पाञ्चाली, मध्य समास युक्ता को लाटी, अतिविस्तृत समास बहुल रचना को गौड़ी कहते हैं, समास रहिता रचना को वैदर्भी कहते हैं, शब्दालङ्कार अर्थालङ्कार का भेद प्रदर्शन भी आपने किया है।

रुद्रट के ग्रन्थ में रस शब्दकी अवतारणा है, आपने "शृङ्गार वीर करुण बीभत्स भयानक अद्भुत हास्य रौद्र शान्त प्रेयान्" रूपमें दसविध रसका उल्लेख किया है। शृङ्गार रसका-सम्भोग-विप्रयोग भेद-नायकनायिका भेद का वर्णन भी आपने किया है। विप्रलम्भ शृङ्गार में उपमानुराग, मान प्रवास करुण रूपमें अवान्तर भेदभी माना है। वस्तुतः प्राचीन आलङ्कारिकों के मध्य में आपने ही रसका प्राधान्य एवं महत्त्व को घोषित किया है।

अग्निपुराणस्थ ३३७ अध्याय से ३४० पर्य्यन्त अलङ्कार का वर्णन है। "लक्ष्मीरिव विना त्यागान्तवाणी भाति नीरसा" (अग्नि ३३९।९) न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः। (३३९।१२) चिन्मयब्रह्म की स्वाभाविक आनन्दाभिव्यक्ति होनेसे चमत्कार अपर पर्य्याय रस होता है, रस का प्रथम विकार ही अहङ्कार है, उससे अभिमान होता है, उससे प्रीति का उद्रेक होता है। यह रति विभावानुभावसात्त्विक व्यभिचारी के सम्बलन से शृङ्गार रस होता है। (३३९।१-४)

राग से—शृङ्गार, उग्रता से—रौद्र, अवष्टम्भ से—वीर, संकोच से बीभत्स रस होता है। और भी शृङ्गार मे—हास्य, रौद्र से—करुण, वीर से—अद्‌भुत बीभत्स से—भयानक रसोत्पन्न होता है। (३३९।५-८) काव्य शोभावर्द्धक धर्म को अलङ्कार कहते हैं, 'अलङ्करणमर्थानामर्थालङ्कार इष्यते।' अलङ्कार के विना शब्दसौन्दर्य मनोहर नहीं होता है। अर्थालङ्कार रहित सरस्वती विधवा की भाँति होती है। (३४३-२)

"लक्ष्मीरिव विना त्यागान्त वाणी भाति नीरसा। (३३९।९) न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।" (३३९।१२)

शब्दार्थ—उभयविध अलङ्कार भेद से अलङ्कार त्रैविध्य का उल्लेख इस पुराण में है। "शब्दार्थयोरलङ्कारो द्वावलङ्कुरुते समम्। एकत्र निहितोहारः, स्तनं ग्रीवामिवस्त्रियः॥" (३४५।१)

परवर्त्ती आलङ्कारिकगण रस का आत्मारूप में वर्णन करने पर भी पूर्व प्रचलित अलङ्कार शास्त्र नाम से ही परिचित है।

ध्वन्यालोक में (१।५) आनन्दवर्द्धनाचार्य्य ने "काव्यस्यात्मा स एवार्थः" कह कर ध्वनि को ही काव्यात्मा माना है। इनके मत में ध्वनि के द्वारा अथवा व्यङ्गार्थ के द्वारा अभीप्सित वस्तु प्रतिपादन से काव्य चमत्कारिता एवं सौन्दर्य्य की अभिवृद्धि होती है। व्यञ्जना रूप व्यापारान्तर से वस्तु एवं अलङ्कार का रस भावादि का परिज्ञान होनेसे उत्तम काव्य होता है। ध्वनि से

ध्वन्यन्तर होनेसे काव्य उत्तमोत्तम नाम से अभिहित होता है। श्रीविश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण नामक ग्रन्थ में 'रसात्मक' वाक्य को ही काव्य कहा है। आनन्दवर्द्धनाचार्य्य ने व्यञ्जनावृत्ति विरोधी मतवादों का निरास करके ध्वनि वाद का स्थापन किया है। अभिनव गुप्तने भी 'लोचन' नामक धन्या लोक की टीका में अर्वाचीन विपक्षों के मतवाद का निरास करके ध्वनिवाद का स्थापन किया है। अनन्तर मम्मटभट्ट ने भी काव्य प्रकाश में व्यञ्जनावृत्ति की महिमा का गान सर्वातिशय रूप से किया है। काव्य प्रकाश की रीति के अनुसरण से ही कविराज श्रीविश्वनाथ ने साहित्यदर्पण की रचना की है। उसके बाद पण्डितराज श्रीजगन्नाथ ने रसगङ्गाधर' नामक ग्रन्थरत्न में पूर्वाचार्य्यकृत अस्पष्ट सन्दिग्ध प्रमेय समूह का स्थापन निःसन्दिग्ध रूप से किया है। रुय्यक ने अलङ्कारों का श्रेणी विभाग तथा अवान्तर भेद का प्रदर्शन अलङ्कार सर्वस्व में किया है। साहित्यदर्पण-रसगंगाधर एकावली चित्रमीमांसा प्रभृति ग्रन्थ में रुय्यक मत का ही सुसंग्रह हुआ है।

"रसो वै काव्यस्यात्मा" काव्य का आत्मा रस है, इस मत का समादर अनेकों ने नहीं किया, किन्तु नवीन आलङ्कारिकों ने काव्यात्मा रस को व्यञ्जनावृत्ति लभ्य कह कर उक्त मत को सम्मानित ही किया है। ध्वनि मत में प्राचीनार्वाचीन प्रसिद्ध मत समूह का समावेश यथायथ रूप में हुआ है। उन सबों में परस्पर सम्बन्ध तथा असन्दिग्धता विशेष रूप से परिलक्षित होती है। अतएव "रसो वै काव्यस्यात्मा" मत का बहुशः समर्थन हुआ है। 'रसो वै काव्यस्यात्मा" शब्दार्थौ तस्य शरीरं, गुणारसधर्मा एव।

प्राचीन आलङ्कारिकों के मत में काव्य प्राणरूप में जिस का निरूपण हुआ है, वह अलङ्कार है। काव्य शरीरभूत शब्दार्थ का शोभा सम्पादक रूप में काव्यात्मभूत रसाभिव्यक्ति का ही वह कारण है। यह सिद्धान्त **"ध्वनिप्रस्थान"** नामक चतुर्थ श्रेणी का है।

इस मत में शब्दार्थ का अविच्छेद्य सम्बन्ध स्वीकृत हुआ है।

गुण—शब्दगत एवं अर्थगत है। दोष एवं अलङ्कार शब्दार्थ उभय धर्मरूप में स्वीकृत हुआ है। काव्यात्मभूत रस ध्वनि की अभिव्यक्ति में प्रत्येक की उपयोगिता है। इस प्रकार सर्वाङ्गीण ध्वनि प्रस्थान का समादर समस्त सहृदय मनीषिओं ने किया है। प्रसङ्गवशतः ऋग्वेदीय अलङ्कार समूह का प्रदर्शन करते हैं—यास्ककृत निघण्टु में (३।१३) वैदिक पर्य्याय निरूपण प्रसङ्ग में उपमालङ्कारों का विवरण है।—

इदमिव (१), इदं यथा (२), अग्निर्न ये (३), चतुरश्चिद्दद-मानात् (४), ब्राह्मणा व्रतचारिणः (५), वृक्षस्य नु ते पुरुहूतवयाः (६), जार आ भगम् (७), मेषोभूतोऽभी यन्नयः (८), तद्रूपः (९), तद् वर्णः (१०), तद्वत् (११), तथा (१२), इति द्वादशोपमा।

अस्य विवृत्ति र्यथा नैघण्टुक काण्डे—

अस्य निपाता उच्चावचेष्वर्थे निपतन्ति उपमार्थेऽपि, उपमा नाम—कस्मिंश्चिदेवार्थे यः प्रसिद्धो गुणः तदन्यस्मिन्न प्रसिद्धस्तद्-गुणेऽर्थे शब्दमात्रेण यदुपसंयोज्य तद्गुणप्रकाशनं क्रियते—सोपमा। दुर्मदासो न सुरायामित्युपमार्थीय उपरिष्टात् उपचार स्तस्य येनोपमिमीते; (५।७।१८) मन्त्रेऽस्मिन् न शब्दोऽयं उपमार्थे व्यवहृतः। लौकिके संस्कृते 'न' शब्दो निषेधार्थे प्रयुज्यते, वेदे तु निषेधोपमा-द्योतकोऽयमिति मन्तव्यम्। व वा शब्दावपि उपमावाचकौ। लौकिके तु केवलमुपमार्थे तौ प्रयुज्येते यथा—(१) जातामन्ये तुहिन मथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् (मेघदूतं ८३), (२) मणीवोष्ट्रस्य लंबेते (सिद्धान्त कौमुदी), (३) हृष्टो गर्जति चातिदर्पितबलो दुर्य्योधनो वा शिखी (मृच्छ ५।६)। पुनरुपमा लक्षणनिर्णय—सामान्य-लक्षणमासां ब्रवीति "यदतत्तत् सदृशमिति गार्ग्यः।" यत् किञ्चिदर्थ-जातमतद्भवति, तत् स स्वरूपं च, यथा—अनग्निः खद्योतः, अग्नि सरूपश्च सोऽग्निनोपमीयते—अग्निरिव खद्योत इति। एवमेतत् सरूपेण गुणेन गुणसामान्यादुपमीयते—इत्येवं गार्ग्यः आचार्यो मन्यते। 'तदासां कर्म' स आसामुपमानानामर्थः यदप्रसिद्धतर गुणस्य कस्यचित्

(२।१।५५, ५६), इत्यादौ महाभाष्ये (२।१।५५), चोपमानस्य लक्षणमास्ते निरूपितम् ॥

सम्प्रति ध्वनि प्रस्थानानुसरणरत गौड़ीय वैष्णव साहित्य समूह में निबद्ध प्रणाली एवं अलङ्कारों का दिग्दर्शन करते हैं। १४६३ शकाब्दा में श्रीरूपगोस्वामीचरण ने श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु का प्रणयन किया, तदनन्तर शकाब्दा १४७१ में श्रीउज्ज्वलनीलमणि नामक परिशिष्ट ग्रन्थ का निम्मर्माण किया, रसामृतसिन्धु ग्रन्थ का ही उज्ज्वलनीलमणि परिशिष्ट ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ने स्वयं हि कहा है। (पश्चिम १।२)

"निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरूहत्वादयं रसः।
रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य वितताङ्गोऽपि लिख्यते ॥"

उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थमें शृङ्गार रसका ही सुविस्तृत वर्णन हुआ है, यह ग्रन्थ श्रीशिङ्गभूपाल कृत 'रसार्णवसुधाकर' के छायावलम्वन से रचित हुआ है। रसामृत एवं उज्ज्वल में भक्तिरस का ही सम्यक् आलोचना है, गोस्वामीपाद ने भक्ति को ही मुख्य अभिधेय रूप में माना है, एवं भक्ति रस का अभिनव व्याख्यान भी प्रस्तुत किया है। रसामृतोक्त भक्तिरस लक्षण इस प्रकार है,—

"विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकै र्व्यभिचारिभिः
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः।
एषा कृष्ण रतिः स्थायीभावो भक्तिरसो भवेत् ॥" (२।१।५-६)

भाग्यवान् जन ही भक्तिरसास्वादन का अधिकारी है, उन्होंने अधिकारी का निर्णय निम्नोक्त शब्दों से किया।

"प्राक्तन्याधुनिकी चास्ति यस्य सद्भक्ति वासना।
एष भक्तिरसास्वादतस्यैव हृदि जायते ॥"

रस—ब्रह्मवत् अवाङ्मनसोऽगोचर होने पर भी भाग्यवान् द्रष्टा, श्रोता, रसास्वादन करने में सक्षम होते हैं। दृश्य काव्य में द्रष्टा, श्रव्य काव्य में श्रोता को सामाजिक कहते हैं, दृश्य काव्य में अनुकार्य्याभिनय दर्शक का, श्रव्यकाव्य में वर्णनीय नायक का

प्रसिद्धतर गुणेनान्येन गुण प्रकाशनमित्यादि। ज्याय सा वा गुणेन, प्रख्याततमेन वा कनीयांसे वा प्रख्यातः वोपमिमीते। तद् यथा— सिंहे मानवकः चन्द्र इव कान्तो मानवकः इत्यादि।

(१) तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू (७।५।३२।६), सक्तूमिव तितउना (८।२३।२२), अत्र इव शब्द उपमा द्योतकः। (२) यथा इति—यथा कर्मोपमा, "यथा वातो यथा वनं" यथा समुद्र एजति (४।४।२०।४) अत्र यथा—इव। (३) अग्नि र्न ये भ्राजसा (८।३।१२।२), अत्र न— इव। (४) "चतुरश्चिदददमानात्" अत्र चित्—इव। (५) "ब्राह्मणा व्रतचारिणः" (५।७।३।१), "अत्र ब्राह्मण इव व्रत चारिणः" इति लुप्तोपमा। (६) 'वृक्षस्य नु ते' (४।६।१७।३), अत्रोपमार्थे 'नु'। (७) 'जार आ भगम्' (३।६।१०।१), आ इव। (८) मेषोभूतो भि यन्नयः (५।७।२४।५), अत्र मेष इत्येषा भूत शब्देनोपमा। (९-१०) अग्निरिति - एषा रूपोपमा; हिरण्य वर्णः (२।७।२३।५), (११) वदिति–एषा सिद्धोपमा; ब्राह्मण वदधीते, वृषलवच्चा क्रोशति। (१२) 'था' इत्ययं चोपमाशब्दः, तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा (४।२।२३।१)।

अथ लुप्तोपमान्यर्थोपमानीत्या चाक्षते—सिंहो व्याघ्रः, इति पूजायां, श्वा काक इति कुत्सायां, काक इति शब्दानुकृति स्तादिदं शकुनिषु बहुलं न शब्दानुकृति विद्यते इत्यौपमन्यवः।

उदाहृते मन्त्रसमूहे उपमानां चातुर्विध्यं स्वीकृतमस्ति—

(१) कर्मोपमा, (२) रूपोपमा, (३) सिद्धोपमा, (४) लुप्तोपमा। यास्केन उपमान– शब्दोऽपि व्यवहृतः। "यावन्मात्रमुषसोन प्रतीकम्" इति (८।४।१२।३), मन्त्र व्याख्यायां वास्त्युपमानस्य संप्रत्यर्थे प्रयोगः।

पाणिनि ने स्वीय व्याकरण में उपमानोपमिति सामान्य प्रभृति शब्दों का प्रयोग किया है।

(१) उपमा—उपमानानि सामान्य वचनैः (२।१।५५), उपमानादप्राणिषु (५।४।९७), उपमानाच्च (५।४।१३७), (२) उपमितं —उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे (२।१।५६), (३) सामान्यम्

वर्णनकारी के श्रोता का रसास्वाद होता है। यह मत अनेक आलङ्कारिकों का सम्मत है। 'तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम्' साहित्यदर्पणकार ने भी कहा है। (३)

भक्तिरसामृतोक्त **'रसलक्षण'** इस प्रकार है—(२।५।१०४)

व्यतीत्य भावना वर्त्म यश्चमत्कार सार भूः।
हृदि सत्त्वोज्ज्वले वाढं स्वदते स रसो मतः॥

भरतमुनि ने भी कहा है—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः
विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकै र्व्यभिचारिभिः
स्वाद्यत्वं नीयमानासौ स्थायी भावो रसो मतः॥

अलङ्कारकौस्तुभ में भी उक्त है—

वहिरन्तः करणयो र्व्यापारान्तर रोधकम्।
स्वकारणादिसंश्लेषि चमत्कारि सुखं रसः॥

रस का निमित्त कारण विभाव है, समवायि—स्थायिभाव है, असमवायि-सञ्चारि भाव है। कार्य रूप में अनुभाव एवं सात्त्विकादि का ग्रहण होता है। साराथं यह है कि—सामाजिक के चित्तगत स्थायिभाव—काव्यगत विभानुभाव सात्त्विक व्यभिचारि भाव के सहित मिलित होकर रस होता है, अर्थात् आस्वादन अवस्था को प्राप्त करता है। प्राकृत एवं अप्राकृत भेद से रस-शास्त्र दो प्रकार हैं, भक्ति वादियों के मत में प्राकृत नायक प्रभृति का रसास्वाद नहीं होता है, किन्तु श्रीरामसीतादिवत् दिव्य नायक नायिका का रसास्वाद होता है। अतएव भगवद् विषयक काव्य-शास्त्र विनोद के विना सामाजिक का रसास्वाद नहीं होता है। अनुकार्य्य का रसास्वादन ही जब नहीं होता है, तब तो सामाजिक का रसास्वादन होना भी असम्भव है। प्राकृत अनुकार्य्यादि का रसास्वादन असिद्ध होनेसे लौकिक काव्यनाट्य की आलोचना से सामाजिक का भी रसास्वादन नहीं होगा। साधारण रसवेत्ता के मत में "पारिमित्याल्लौकिकत्वात् सान्तरायत्वाच्च, (साहित्यदर्पण-३) अनुकार्य्य में रसास्वादन असिद्ध

होने पर भी महाकवि के लेखनी नैपुण्य से काव्य-नाट्यादि से रसास्वाद होना सम्भव है। इससे सत् सामाजिक का भी रसास्वाद होता है। भक्तिरसायन में श्रीमधुसूदन सरस्वतीपाद ने भी कहा है— "अतस्तदाविर्भावित्वं मनसि प्रतिपद्यते।
किञ्चिन्नयूनाञ्च रसतां याति जाड्यविमिश्रणात्॥" (१।१३)

टीका—विषयावच्छिन्न चैतन्यमेव द्रवावस्थमनोवृत्त्यारूढतया आविर्भावित्वं प्राप्यरसतां प्राप्नोतीति न लौकिक रसस्यापि परमानन्दरूपतानुपपत्तिः, अतएव अनवच्छिन्न चिदानन्दघनस्य भगवतः स्फुरणात् भक्तिरसेऽत्यन्तानन्दमाधिकचमानन्दस्य, लौकिक रसे तु विषयावच्छिन्नस्यैव चिदानन्दांशस्य स्फुरणात्तदानन्दस्य न्यूनतैव, तस्माद् भक्तिरस एव लौकिक रसानुपेक्ष्य सेव्यइत्यर्थः।

भक्तिरसामृत के रस लक्षण में—"हृदि सत्त्वोज्ज्वले वाढं स्वदते स रसो मतः" सत्त्व शब्द का उल्लेख हुआ है। साधारणतः प्रतीति के लिए साहित्यदर्पणोक्त विश्लेषण से ही उसका अर्थ जानना आवश्यक होगा। भक्ति स्वरूप को अप्राकृत चिदानन्द रूप माना गया है। साहित्य दर्पणकार ने कहा है—

"रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते। वाह्यमेय विमुखतापादकः कश्चनान्तरो धर्मः सत्त्वमिति च॥"

अतएव काव्यनाट्य दर्शनरत साधारण समस्त व्यक्तियों का रसास्वाद नहीं होता है। भाग्यवान् सहृदय व्यक्ति का ही रसास्वाद होना सम्भव है। साधारण रसग्रन्थ में इस सत्त्व को ही सामाजिक का स्थायीभाव कहते हैं। उसके बिना सामाजिक का रसास्वाद नहीं होता है। सत्त्वोद्रेक का हेतु निरूपण भी दर्पणकार ने किया है—"अत्र च हेतु स्तथाविधालौकिक काव्यार्थ परिशीलनम्।" अर्थात् अलौकिक काव्यार्थरूप विभावादि का सम्यक् अनुशीलन से ही अत्यन्त अभिनिवेश होता है। उससे ही सत्त्वोद्रेक होना सम्भव है। अतएव—"सामाजिकचित्तगतस्थायिभावो हि काव्यनाट्यस्थित

विभावादिभिर्मिलित्वा रसाय कल्पतेति" कथन समीचीन है।

**भाव:—प्रायश:** रसभाव का साम्य होने पर भी उभय में किञ्चित् तारतम्य विद्यमान है। रसामृत के (२।५।१०५) में भाव लक्षण यह है—

"भावनाया: पदं यस्तु बुधेनान्यबुद्धिना।
भाव्यते गाढ़ संस्कारैश्चित्ते भाव: स कथ्यते ॥"

भरत ने भी कहा है—देहात्मकं भवेत् सत्त्वं सत्त्वाद् भावा: समुत्थिता:, रसानुभवोपयोगिजन्मान्तरीण संस्कारादिकं सूक्ष्मभावेन शिशुतायां स्थितमपि तद्विकाशाय सामाजिकस्थ (अनुकार्य्यस्यापि) वय:सन्धि प्रभृतिकं वयोवस्था विशेषमपेक्षते ॥

"रस तरङ्गिणी" ग्रन्थ में भानुदत्त ने भी कहा है—"चित्तस्य रसानुकूलो विकारोऽवस्थाविशेषो वा भाव:" विकारोऽयं द्विविध:—(१) आन्तर:, (२) शरीरश्च। स्वायी सञ्चारी य भाव: आन्तर:, तथानुभाव: (उद्भास्वर–नृत्यगीतादिकं) सात्त्विक भावश्च शारीरी विकार:। स्थायिभावो हि मुख्यतया पञ्चविधो गौणतश्च सप्तएव। सञ्चारिणा स्त्वयस्त्रिशत् सात्त्विकाश्चाष्ट। सामाजिकस्य (अनुकार्य्यस्यापि) चित्ते स्थायिभावस्य परिपुष्टतानुयायि खलु अनुभाव—सञ्चारिभावयो स्तरंग प्रावल्यस्यापि न्यूनाधिक्यं जायते।

अलङ्कार कौस्तुभ (५) में स्थायीभाव का वर्णन है—

"आस्वादाङ्कुरकन्दोऽस्ति धर्म: कश्चन चेतस:।
रजस्तमोभ्यां हीनस्य शुद्धसत्त्वतया मत: ॥
स स्थायी कथ्यते विज्ञै र्विभावस्य पृथक्तया।
पृथक्विधत्वं चात्येष सामाजिकतया सताम् ॥"

सामाजिकतया सतां सामाजिकानामेक एव कश्चिदास्वादाङ्कुरकन्दो मनस: कोऽपि धर्मविशेष: स्थायी। स तु विभावस्योक्तप्रकार द्विविधस्य भेदैरेव भिद्यते। अनुकार्य्याणान्तु स्वतन्त्रा एव स्थायिनो नानाविधा:।

पूर्वोक्त द्वादश प्रकार भाव निज निज अनुकूल उपकरणों के सहित

मिलित होकर परम आस्वादन अवस्था को प्राप्त करते हैं। एवं अनवच्छिन्न सुस्थिर रूप से हृदय में अवस्थित होकर स्थायीभाव कहलाते हैं। उक्त द्वादश विधता को छोड़ कर अपर कोई भाव स्थायीभाव नाम से परिचित नहीं होते हैं। उसके मध्य में कतिपय भाव सञ्चारिता को प्राप्त करते हैं,—जिस प्रकार मधुर में हासादि, साहित्यदर्पणकार के मत में (साहित्यदर्पण ३) "रत्यादयोऽप्यनियते रसे स्यु र्व्यभिचारिणः" प्रवलमभिव्यक्तः सञ्चारी, सामान्यतया व्यक्तः स्थायी, तथा देवादि विषयारतिश्चापाततो भाव इति कथ्यते।

"सञ्चारिणः प्रधानानि देवादि विषया रतिः।
उद्बुद्धमात्रस्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥"

श्रीबलदेव कृत साहित्य कौमुदी के (४।१२) मूल में उक्त है,—

"रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथांजितः।" (४।१२)

कृष्णानन्दिनी टीका में लिखित है—"किञ्च हासादयः क्वचिद् व्यभिचारिणश्च स्युः, यदुक्तं शृङ्गारवीरयोर्हासो वीरे क्रोधस्तथा मतः। शान्ते जुगुप्सा कथिता व्यभिचारितया पुनः॥" (४।१३)

सञ्चारिभाव भावों के परिचय में (३।२३५) साहित्य दर्पणकार ने "सञ्चारिणः प्रधानानि" शब्द से कहा, दृष्टान्त रूप में टीका में भी कहा—"परमविश्रान्ति स्थानेन रसेन सहैव वर्त्तमाना अपि राजानुगत बिवाहप्रवृत्तभृत्यवदापाततो यत्र प्राधान्येनाभिव्यक्ता व्यभिचारिणी देव-मुनि-गुरु-नृपादि-विषया च रतिरुद्बुद्धमात्रा विभावादिभिरपरि-पुष्टतया रसरूपतामनापद्यमानाश्च स्थायिनो भावा भावशब्दवाच्यः।"

विभावेनानुभावेन व्यक्त सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्॥ (दर्पण ३।१)

विभावादयो वक्ष्यन्ते। सात्त्विकाश्चानुभावरूपत्वात् न पृथगुक्ताः। व्यक्तो दध्यादि न्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसो नतु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते। तदुक्तं लोचनकारैः—"रसाः

प्रतीयन्ते इति त्वोदन पचतीतिवद्व्यवहार:" इति। अत्र चरत्यादि पदोपादानादेव स्थायित्वे प्राप्ते पुनः स्थायिपदोपादानं रत्यादीनामपि रसान्तरेष्वस्थायित्वप्रतिपादनार्थम्। ततश्च हास क्रोधादय: शृङ्गार वीरादौ व्यभिचारिण एव। तदुक्तं "रसावस्थ: परं भाव: स्थायितां प्रतिपद्यते" रसावस्थोभाव एव स्थायीभाव:। अयमेव विभादिभि-र्मिलित्वा रसाय परिणमति। "भावाएवाभिसम्बद्धा: प्रयान्ति रसरूपताम्।" वस्तुतस्तुस्थितिरियमेव—

"न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जित:
परस्परकृतासिद्धिरुभयो रसभावयो:।"

साहित्यदर्पण की इस उक्ति से प्रतीत होता है—रस एवं भाव, कस्तुरी एवं कस्तूरी गन्ध के समान ही अविच्छेद्य सम्बन्धान्वित है॥

आलङ्कारिकों के मत में तो भाव भी रस ही है,—

"रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धि: शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद् रसा:॥"

रस धर्म के उपयोगी होने के कारण भावादि में भी उपचार से रस शब्द का प्रयोग होता है। भक्तिरसामृत में उक्त है,—

"भावा विभावजनिताश्चित्त वृत्तय ईरिता:।"

नाट्यशास्त्र का कथन है—

"विभावेनोद्भृतो योऽर्थ:, स भाव इति संज्ञित:॥"

काव्य प्रकाश (४) में **विभाव** लक्षण निम्नोक्त प्रकार है—

कारणान्यथ कार्य्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादे: स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्य काव्ययो:।
विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिण:॥"

लौकिक में रस का कारण—नायक एवं नायिका है। काव्य एवं नाट्य में अभिनय एवं वर्णन कुशलता से विभावता को प्राप्त

करते हैं, जैसे नलदमयन्ती है। सामाजिक का स्थायिभाव को विभावित करता है, अर्थात् भावना पदवी को प्राप्त कराता है, अतः उसे विभाव कहते हैं। विभाव द्विविध है,—आलम्वन एवं उद्दीपन, नायक नायिकादि—आलम्वन है। कैशोर, वसन्त, मलयपवनादि—उद्दीपन है। रसामृत में उक्त है—(२।१।१५)

'तत्र ज्ञेया विभावास्तु रत्यास्वादन हेतवः।"

अग्निपुराण में वर्णित है—

'विभाव्यते हि रत्यादि यत्र येन विभाव्यते।
विभावो नाम स द्वेधा आलम्वनोद्दीपनात्मकः॥"

साहित्यदर्पण के मत में—"विभाव्यन्ते, आस्वादाङ्कुर प्रादुर्भाव योग्याः क्रियन्ते सामाजिक रत्यादिभावा एभिरिति विभावा उच्यन्ते।"

विषयाश्रय भेद से आलम्वन द्विविध है।

(२) अनुभाव—( रसामृत २।२।१ ) अनुभावास्तु चित्तस्थ भावानामवबोधकाः। चित्तस्थ भावों का अवबोधक को अनुभाव कहते हैं। अलङ्कार उद्भास्वर वाचिक भेद से त्रिविध का उल्लेख उज्ज्वल के अनुभाव प्रकरण में है।

(३) सात्त्विक—(रसामृत २।३।१) कृष्ण सम्बन्धिभिः साक्षात् किञ्चिद् वा व्यवधानतः, भावैश्चित्तमिहाक्रान्तं सत्त्वमित्युच्यते बुधैः, सत्त्वादस्मात् समुत्पन्ना ये भावास्ते तु सात्त्विकाः।"

अनुभाव विशेष ही सात्त्विक है, तथापि पृथक् नाम से अभिहित होने का कारण है। शुद्ध सत्त्व से आविर्भूत होने के कारण ही गोबलीवर्द्द न्याय से सात्त्विक कहते हैं। स्तम्भ कम्पादि अष्टविध होते हैं।

(४) व्यभिचारी—अपर नाम सञ्चारो है (रसामृत २।४।१-२)

विशेषेनाभिमुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति,
वागङ्ग सत्त्वसूच्या ये ज्ञेया स्ते व्यभिचारिणः।
सञ्चारयन्ति भावस्य गतिं सञ्चारिणोऽपि ते॥

जो भाव स्थायीभाव को पुष्ट करता है, एवं उक्त स्थायीभाव से ही उत्थित होकर उसमें विलीन होता है, उसे सञ्चारी कहते हैं।

सामाजिक के स्थायीभाव को वैचित्री युक्त करता है, अतः इसे सञ्चारी कहते हैं। निर्वेद विषाद ग्लानि प्रभृति त्रयस्त्रिशद् व्यभिचारी भाव हैं।

विभाव के द्वारा सहृदय सामाजिक के चित्त में जो भावित होता है, उसे भाव कहते हैं। जिस से सामाजिक के चित्त में भावोन्मेष, अथवा आविर्भाव होता है, उसे भी भाव कहते हैं। मूलगत नायक नायिका को **अनुकार्य्य** कहते हैं। इस प्रकार **अनुकार्य्य** एवं सामाजिक एतदुभय में अनुभाव सात्त्विक व्यभिचारी भाव की स्थिति होती है।

संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) काव्य-नाट्य श्रवण दर्शन प्रभृति से सामाजिक के चित्त में विभाव—अनुभाव की उपस्थिति होती है।

(२) आक्षेप से अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति से बोध होने पर सामाजिक के चित्त में सत्वर सञ्चारी एवं स्थायिभाव का आविर्भाव होता है।

(३) साधारणी करणाख्य व्यापार से 'नलदमयन्ती' का अथवा मेरा है। इस प्रकार रीति से विभावादि चतुष्टय का प्रत्यय सामाजिक का होता है।

(४) अनन्तर व्यञ्जना के द्वारा अनुकार्य्य के सहित ही समानाकार रस की प्रतीति सामाजिक की होती है।

(५) स्वदनाख्य व्यापार के द्वारा 'अहमेव दमयन्ती विषयको रतिमान् नल एव' इस प्रकार स्वीयरसवासित चित्त में रत्यादि अभेदात्मक निज में नायकाभेदात्मकरससाक्षात्कार सहृदय सामाजिक का होता है। रसामृतसिन्धु एवं साहित्य कौमुदी में नाटयशास्त्र के प्रमाण से साधारणीकरण का सुसंस्थापन हुआ है।

"शक्ति रस्ति विभावारेः कापि साधारणी कृतौ,
प्रमाता तदभेदेन स्वं यया प्रतिपद्यते।"

साधारण्य का अर्थ है—स्व एवं पर सम्बन्ध निर्णय न होना। रसामृतसिन्धु (२।५।१०१) की नाटचशास्त्र श्लोक की टीका में श्रीजीव गोस्वामी का कथन यह है—"मुनिवाक्ये तु भेदांशः स्वयमस्त्येव, इत्यभेदांश एव तु विभावादेः शक्तिरिति भावः।" भरतमुनि के मत में किन्तु नाटच रसास्वादक प्रमाता सामाजिक है, दृश्यका य का प्रेक्षक ही रसास्वादक होता है। सब व्यक्ति दर्शक सामाजिक नहीं होते हैं—कारण, कहा भी है—

"य स्तुष्टे तुष्टि मायाति शोके शोकमुपैति च।
क्रुद्धः क्रुद्धे भये भीतः स नाटचे प्रेक्षकः स्मृतः॥"

उक्त रीति से श्रव्य काव्य में भी सहृदय श्रोता पाठक,—सामाजिक होगा, सवासन सभ्य का ही रसास्वादन होगा। वासना हीन व्यक्ति का रसास्वादन नहीं होता है, जिस प्रकार रङ्गमञ्चस्थ काष्ठ प्रभृति का रसोद्बोध नहीं होता है।

**धर्मदत्त** ने कहा—

"निर्वासनानान्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः।"

**अभिनव गुप्त** का कथन है-"येषां काव्यानुशीलनवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय तन्मयी भवन योग्यता, ते हृदय संवादभाजः सहृदयाः।"

**आनन्दवर्द्धनाचार्य** के मत में--"रसज्ञतैव सहृदयत्वमिति॥"

**अलंकार कौस्तुभ** (५) में उक्त है—"यदि तु विगलित वेद्यान्तरत्व मनुकर्त्तृणामपि दृश्यते, तदा तेषामपि सामाजिकत्वमेव, अनुकरणन्तु संकार वशादेव जीवन्मुक्तानामाहारविहारादिवत्। तेन सामाजिकानामेव रसःसम्पद्यते॥"

अलङ्कार कौस्तुभस्थ भक्ति रस का उदाहरण,—

"जय श्रीमद् वृन्दावन मदननन्दात्मजविभो
प्रियामीरी वृन्दारिक निखिल वृन्दारकमणे।

चिदानन्दस्यन्दाधिक पदारविन्दासव मणे
नमस्ते गोविन्दाखिलभुवनकन्दाय महते ॥"

अत्र देवविषयत्वाच्चेतोरञ्जकता रतिरेव भावः। स एव स्थायी, आलम्वनम्—श्रीकृष्णः, उद्दीपनम् तन्महिमादि अनुभावः हृदय द्रवादिः, व्यभिचारी—निर्वेद दैन्यादिः। परोक्षो भक्तानाम्, सामाजिकानान्तु प्रत्यक्षः ॥

अलङ्कार कौस्तुभ में (५।१२) प्रेमरस का उदाहरण—

"प्रेयांस्तेऽहं त्वमपि च मम प्रेयसीति प्रवाद
स्त्वं मे प्राणा अहमपि तवास्मीति हन्त प्रलापः।
त्वं मे ते स्यामहमिति च यत्तच्च नो साधु राधे
व्याहारे नौ नहि समुचितो युस्मदस्मत् प्रयोगः ॥"

अत्र चित्त द्रवःस्थायी ; स च उभयनिष्ठः, आलम्वनमन्योन्यम्। उद्दीपनमन्योन्यगुणपरिमलः। अनुभावः,—विशिष्य निर्वचनाभावः, व्यभिचारी—मत्यौत्सुक्यादिः। परोक्षः—श्रीकृष्ण राधयोः, सामाजिकानां प्रत्यक्षः, प्रेमरसे सर्वेरसा अन्तर्भवतीति प्रेमाङ्ग श्रृङ्गारादयोऽङ्गिन इत्यत्र महीयानेव प्रपञ्चः।

**भक्ति रस निर्णायक गौड़ीय वैष्णव ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय यह है—(१) श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु**—श्रीगौड़ीय रस-साहित्य कल्पतरु का सर्वोत्कृष्ट गलित फल स्वरूप असमोर्द्ध भक्ति रसविज्ञान शास्त्र है। श्रीचैतन्यदेव से शिक्षा प्राप्त श्रीपाद रूपगोस्वामी उक्त ग्रन्थ प्रणेता हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ सरस एवं विशुद्ध व्रजरीति परिपाटी का उपाय प्रदर्शक है, इस ग्रन्थ के तात्पर्य्यानुसार जीवन प्रणाली नियमित होनेसे मानव विश्वकीर्त्ति विस्तारी आनन्द वृन्दावन के अमृतमय राज्य में प्रवेश कर सकते हैं। इसमें भक्ति रूपा उच्चतमा चिद्वृत्ति के धर्म-कर्मादि का अङ्कन विशेष निपुणता के सहित हुआ है। भक्ति रूपा चिद्वृत्ति का उद्भव, क्रमविकाश, एवं चरम परिणति का ईदृश मनोरम सर्वाङ्ग सुन्दर इतिहास अन्यत्र विरल है।

विषय विभाग का नैपुण्य, निर्दोष सरस कवित्व, सुसूक्ष्म दार्शनिकता, मानव समाज में अपरिचित श्रेष्ठतम मानवता निर्म्माण के उपाय प्रदर्शकत्वादि का एकत्र अवलोकन की अभीप्सा होने पर इस ग्रन्थ का अनुशीलन करना एकान्त कर्त्तव्य है। जो जन मुख्य भागवत वैष्णवीय भजन की विशुद्ध भजन प्रणाली को जानने के लिए समुत्सुक हैं। उनके लिए यह ग्रन्थ अवश्य अवलोकनीय है।

अतीव सरस एवं परम पवित्रता की सुदृढ़तम भित्ति में सुप्रतिष्ठित जो गौड़ीय वैष्णव पद्धति है, उसका परिज्ञान भी इस ग्रन्थ पाठ से ही होगा।

चित्तवृत्ति को सुशिक्षाके द्वारा सुसंयत करने से ही मानव महान् होता है। प्राथमिक जीवन में असंयत चित्तवृत्ति समूह की किस प्रकार से संयत करके वैधी भक्ति की सहायता से परमादर्श परमप्रिय श्रीभगवच्चरणों में समाकृष्ट करना होता है। शास्त्रीय सुविधान से कैसे चित्त सुनिर्म्मल होकर उसमें श्रीभगवान् में प्रीति का उदय होता है, एवं उक्त प्रीति ही कैसे रागानुगा में परिणत होकर सांसारिक विषय वितृष्णा को उत्पन्न करके श्रीकृष्ण भजन को ही एकमात्र सुख कर रूप में प्रतिभात कराती है—इस ग्रन्थ में उसकी सुविस्तृत विवृति है।

अतुलनीया रागानुगा भक्ति कैसे भाव-भक्त्यादि में सञ्चारित होती है। कैसे मानव व्रजभाव प्राप्त करने का अधिकारी होता है। भाव, अनुभाव, विभावादि का स्वरूप समूह साहित्यिक रसशास्त्र में दृष्ट होने पर भी कैसे मानव अखिल रसामृत मूर्त्ति श्रीभगवान् के भजन पथ में निर्दुष्ट अप्राकृत रसशास्त्र के विषय को लेकर अग्रसर हो सकता है। उन आनन्द लीलामय विग्रह के स्वरूप, गुणादि का बहुविध परिज्ञान उस ग्रन्थ से होता है। यह ही व्रजभक्ति रस का एकमात्र विज्ञान शास्त्र है।

श्रीकृष्ण एवं भक्तिरस सम्बन्धि विस्तृत ग्रन्थ में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर रूप में विभाग चतुष्टय है। स्थायी भावोत्पादन

नामक पूर्वविभाग में—सामान्य, साधन, भाव, प्रेमभक्ति विषयक लहरी चतुष्टय हैं। **"भक्तिरस सामान्य निरूपण"** नामक दक्षिण विभाग में— विभाव, अनुभाव, सात्त्विक व्यभिचारी एवं स्थायीभाव भेद से पञ्चलहरी हैं। **"मुख्य भक्तिरस निरूपण"** नामक पश्चिम विभाग में—शान्त, प्रीत भक्तिरस अर्थात् दास्य, प्रेयो भक्तिरस अथवा सख्य, वात्सल्य भक्तिरस एवं मधुर भक्तिरस भेद पञ्चलहरी, तथा **"गौण भक्तिरसादि निरूपण"** नामक उत्तर विभाग में—क्रमशः हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक, बीभत्स भक्तिरस, मैत्री वैरीस्थिति, रसाभास—रूप नवमलहरी विद्यमान हैं।

२१४१ श्लोक समन्वित प्रस्तुत ग्रन्थ का रचना काल १४६३ शकाब्द है। इसमें टीकात्रय विद्यमान हैं—(१) श्रीजीवगोस्वामी कृता 'दुर्गम सङ्गमनी', (२) श्रीमुकुन्द गोस्वामी कृता 'अर्थ रत्नाल्प दीपिका', श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती कृत 'भक्तिसार प्रदर्शिनी'।

**ग्रन्थोक्त उत्तमा भक्ति का लक्षण—**

"अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥" (पूर्व १।८)

प्राचीन भागवत मत में एवं पाञ्चरात्र मत में वीज रूप में निहित सिद्धान्त ही गौड़ीय सिद्धान्त है। अतएव प्रमाण स्वरूप में उट्टङ्कित पाञ्चरात्र श्लोक यह है—

"सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलं।
हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते॥"

अनन्तर (भा० ३।२९।१३-१४) श्लोक में उद्धृत हुआ है।

"अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।
सालोक्यसार्ष्टि सारूप्य सामीप्यैक्यमप्युत॥
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत् सेवनं जनाः।
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः॥"

उक्त भक्ति का लक्षण ही सर्वश्रेष्ठ है। भागवत, पाञ्चरात्र, नारदीय भक्ति सूत्र, शाण्डिल भक्ति की तुलना करने से प्रतीत होता है कि—श्रीरूप कृत व्रजभक्ति का लक्षण ही निर्दुष्ट है।

**नारदीय** भक्तिसूत्र—
"सा कस्मैचित् परमप्रेमरूपा। सातु कर्मज्ञान योगेभ्योऽप्यधिकतरा"

**शाण्डिल्य** सूत्र— "सा परानुरक्तिरीश्वरे" तुलना करने से प्रतीत होता है कि—श्रीरूप कृत लक्षण में—'कृष्ण' शब्द पाञ्चरात्रोक्त 'हृषीकेश' शब्द भागवतीय 'पुरुषोत्तम' शब्द से सर्वाधिक **भाव** व्यञ्जक है।

प्रेम लक्षण में उक्त है—

**"सम्यङ् मसृणित स्वान्तो ममत्वाति शयाङ्कितः,**
**भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ॥"**

'सम्यङ् मसृणित', 'अतिशयाङ्कित' शब्दद्वय पाञ्चरात्रोक्त अनन्य ममता, 'सङ्गताममता' शब्द की अपेक्षा अधिकतर **हृदय ग्राही** है।

नारदीय सूत्र—'कस्मै' शब्द, शाण्डिल्य सूत्र—'ईश्वर' शब्द से भी श्रीरूप कृत 'कृष्ण' शब्द सर्वाधिक स्पष्ट रस व्यञ्जक है।

पाञ्चरात्रीय भक्ति लक्षण में उक्त—'सेवन' शब्द से केवल सेवा का बोध ही होता है। किन्तु श्रीरूप कृत लक्षण में आनुकूल्य के योग से लक्षण सर्वोत्तम गुण सम्पन्न हुआ है। आनुकूल्य शब्द का अर्थ है, सेव्य के प्रति रोचमानाप्रवृत्ति। अवगाहन करने से गोस्वामी कृत लक्षण का माधुर्य्यानुभव सर्वाधिक रूप से होगा।

श्रीरामानुजाचार्य्य—'वेदार्थ सारसंग्रह के मोक्षोपाय प्रसङ्ग' में कहे हैं— "वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्,
विष्णुराराध्यते येन नान्यत्तत्तोषकारणम् ॥" (विष्णुपुराण)

किन्तु श्रीचैतन्यदेव के मत में वह प्रथम सोपान है। अतएव गौड़ीय सिद्धान्त निखिल उत्कर्ष मण्डित, एवं सर्वभावावगाही है।

उक्त लक्षणाक्रान्ता भक्ति षड् विधा हैं, (१।११)—

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्ष लघुताकृत् सुदुर्ल्लभा ।
सान्द्रानन्द विशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी मता ॥

**साधन भक्ति—**

कृति साध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा ।
नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता ॥ (२।२)

वैधी रागानुगा भेद से यह भक्ति द्विविधा है। उत्तम, मध्यम, कनिष्ठाधिकारी भेद से अधिकारि निर्णय के पश्चात् चतुःषष्टि अङ्गों का वर्णन सप्रमाण हुआ है। उक्त अङ्ग समूह के मध्य में—**श्रीमूर्त्ति सेवा, श्रीमद्भागवतार्थास्वाद, साधुसङ्ग, नामसङ्कीर्त्तन, तथा श्रीधाम वास** मुख्य है।

दुरुहाद्भुत वीर्य्येऽस्मिन् श्रद्धा दूरेऽस्तु पञ्चके ।
यत्र स्वल्पोऽपि सम्बन्धः, सद्धियां भावजन्मने ॥ (२।११०)

प्रासङ्गिक रूप में युक्त वैराग्य (१२५) फल्गुवैराग्य निर्णय, एकाङ्ग अनेकाङ्ग भक्ति साधना की विवृत्ति है।

**रागानुगा भक्ति लक्षण—**

विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिजनादिषु ।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते ॥

**रागात्मिका—**

इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत् ।
तन्मयी या भवेद् भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता ॥
(पूर्व २।१३२)

कामानुगा सम्बन्धानुगा भेद से उक्त भक्ति द्विविध हैं, (१४३)—उक्त भक्त्यधिकारी जन, व्रजवासि जनादि भावलुब्ध जन ही हैं।

तत्तद् भावादि माधुर्य्ये श्रुते धी र्यदपेक्षते ।
नात्र शास्त्रं न युक्तिश्च तल्लोभोत्पत्ति लक्षणम् ॥

**रागानुगा परिपाटी—**

कृष्णं स्मरन् जनश्चास्य प्रेष्ठं निज समीहितम् ।
तत्तत् कथा रतश्चासौ कुर्य्याद् वासं व्रजे सदा ।। (१०५)
सेवा साधक रूपेण सिद्ध रूपेण चात्र हि ।
तद्भाव लिप्सुना कार्य्या व्रजलोकानुसारत: ।। (१५१)

**भाव भक्ति लहरी, भाव लक्षण—**

शुद्धसत्त्व विशेषात्मा प्रेमसूर्य्यांसु साम्यभाक् ।
रुचिभिश्चित्तमासृण्य कृदसौ भाव उच्यते ।। (३।१)

**भावाविर्भाव कारण—**

साधनाभिनिवेशेन कृष्णतद्भक्तयोस्तथा,
प्रसादेनातिधन्यानां भावोद्वेधाभिजायते । (३।५)

**भावाविर्भाव लक्षण—**

क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता ।
आशाबन्ध: समुत्कण्ठा नाम गाने सदारुचि: ।।
आसक्तिस्तद् गुणाख्याने प्रीतिस्तद् वसति स्थले ।
इत्यादयोऽनुभावा: स्यु र्जात भावाङ्कुरे जने ।। (३।११)

**प्रेमभक्ति लहरी में प्रेम लक्षण—**

सम्यङ् मसृणित स्वान्तो ममत्वाति शयाङ्कित: ।
भाव: स एव सान्द्रात्मा बुधै: प्रेमानिगद्यते ।। (४।१)
प्रेमेदं भावोत्थ श्रीहरि प्रसादोत्थं चेति द्विधा भिद्यते ।

**प्रेमोदय में क्रम—**

आदौ श्रद्धा तत: साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया ।
ततोऽनर्थनिवृत्ति: स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्तत: ।।
अथासक्तिस्ततोभावस्तत: प्रेमाभ्युदञ्चति ।
साधकानामयं प्रेम्ण: प्रादुर्भावे भवेत् क्रम: ।। (४।११)

साधक देह में साधारण प्रेमाविर्भाव पर्य्यन्त होता है । प्रेम के विलास रूप स्नेहादि का आविर्भाव नहीं होता है । अत: स्नेहमानादि

का वर्णन भक्तिरसामृत में नहीं है, उज्ज्वल में वर्णन हुआ है।

**दक्षिण विभाग में—**

(१) **विभाव लहरी**—विषयालम्वन श्रीकृष्ण के ६४ गुण समूह (१।११-११७), पूर्ण, पूर्णतर, पूर्णतम भेद (११८-११९), धीरोदात्त-धीर ललित, धीरोद्धत, धीरप्रशान्त भेद (१२०-१२७), शोभाविलासादि अष्टगुण (१३३-१४०), सहाय (१४१), शान्त, दास, सखा, गुरु, प्रेयसी भेद से पञ्चविध भक्त (१५४), उद्दीपन विभाव गुणचेष्टा प्रसाधनादि (१५४-१८६)।

(२) **अनुभाव लहरी**—'अनुभावा चित्तस्थ भावानामवबोधका:। (२।१), नृत्य विलुठित गीतादि।

(३) **सात्त्विक लहरी**—स्तम्भ स्वेद रोमाञ्च प्रभृति अष्टविध सात्त्विक, स्निग्ध, दिग्ध— रुक्ष भेद से त्रिविध।

(४) **व्यभिचारी लहरी**--निर्वेद विषाद दैन्यादि त्रयस्त्रिशत्।

(५) **स्थायिभाव लहरी**—

अविरुद्धान् विरुद्धांश्च भावान् यो वशतां नयन्
सुराजेव विराजेत सा स्थायी भाव उच्यते।
स्थायी भावोऽत्र स प्रोक्त: श्रीकृष्ण विषयारति: ।।

मुख्य गौण भेद से द्विविध, प्रीति, सख्य, वात्सल्य, प्रियतारूप पञ्च मुख्य, हास विस्मयोत्साह शोक-क्रोध-भय-जुगुप्सा भेद से गौण सात हैं।

**पश्चिम विभाग में—**

(१) शान्त, (२) प्रीत, (३) प्रेयो, (४) वत्सल, (५) मधुर भक्तिरस का विभेद वर्णन।

**उत्तर विभाग में—**

हास्यादि सप्त गौण भक्तिरस, परस्पर मित्र वैरीस्थिति, रसाभास का वर्णन।

(२) **उज्ज्वल नीलमणि**—

अखिलरसामृतमूर्त्ति श्रीकृष्ण का उज्ज्वल रस-विज्ञान शास्त्र है। इसमें नायक नायिकादि भेदादि शृङ्गार रस का विस्तृत वर्णन है।

(१) **नायक भेद प्रकरण में**—विषयालम्वन श्रीकृष्ण की मधुर रसोचित गुणावली, धीरोदात्तादि नायक भेद पति, उपपति भेदद्वय, परकीया रस में ही शृङ्गार रस का परमोत्कर्ष **"अत्रैव परमोत्कर्षः शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः"** बहु वार्य्यमानत्व, प्रच्छन्न कामुकत्व, मिथोदुर्ल्लभत्व ही रति के पारतम्य में कारण है. भरत मत के द्वारा समर्थन। "लघुत्वमत्र यत् प्रोक्तम्" श्रीजीव, विश्वनाथ की स्वकीया परकीया में विचार पद्धति। धीरोदात्तादि चतुर्विध नायक के अनुकूल दक्षिण शठ, धृष्ट भेद, ९६ विध नायक भेद।

(२) **सहाय भेद प्रकरण**—चेट, विट, विदूषक, पीठमर्द, प्रियनर्म भेद से सहायक पञ्चविध। विविध गुणसमूह स्वयं दूती, आप्तदूती, कटाक्ष वंशीध्वनि स्वयं दूती, तथा वीरा वृन्दादि आप्तदूती।

(३) **कृष्णवल्लभा प्रकरण में**—स्वकीया परकीया भेद से द्विविधा प्रेयसी। कन्यका परोढ़ा नायिका, परोढ़ा साधनपरा, देवी, नित्य प्रिया भेद से त्रिविधा. साधनपरा—यूथयुक्ता, मुनिगण उपनिषद्वृन्द, यूथ हीना—प्राचीना नवीना नित्यप्रिया, राधा चन्द्रावली प्रभृति।

(४) **राधा प्रकरण**—सर्वथाधिका राधा, महाभाव स्वरूपिणी,

सुष्ठुकान्त स्वरूपेयं सर्वदा वार्षभानवी।
धृत षोड़श शृङ्गारा द्वादशाभरणाश्रिता॥

श्रीराधा के पञ्चविंशति गुणसमूह, पञ्चविध सखीवृन्द—सखी, नित्यसखी, प्राणसखी, प्रियसखी, परमप्रेष्ठ सखी।

(५) **नायिका भेद प्रकरण**—मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा भेद से त्रिविध नायिका, मध्या, प्रगल्भा, धीरा, अधीरा, धीराधीरा, भेद नायिका की अष्टावस्था—अभिसारिका, वासक सज्जा, उत्कण्ठिता,

खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, प्रोषित भर्तृका, स्वाधीन भर्तृका. उत्तमा, मध्यमा, कनिष्ठा भेद से त्रिविधा हैं।

(६) **यूथेश्वरी भेद प्रकरण में**— अधिका, समा, लघु, त्रिविधा, प्रखरा, मध्या, मृद्वी रूपेण त्रैविध्य हैं।

(७) **दूती प्रकरण में**—दूती दो प्रकार हैं, स्वयं दूती, आप्तदूती, स्वयं दूती के द्वारा स्वाभियोग का प्रकाश—वाचिक, आङ्गिक चाक्षुष रूप से होता है। आप्तदूती त्रिविध हैं, अमितार्था, निसृष्टार्था, पत्रहारी, इन सब की विशेष क्रिया का उल्लेख है।

(८) **सखी प्रकरण में**—प्रखरा, मध्या, मृद्वी भेद से सखी त्रिविध हैं। वामा, दक्षिणा, ये नित्य नायिका, नित्यसखी, समस्नेहा, असमस्नेहा हैं।

(९) **श्रीहरिवल्लभा प्रकरण में**—व्रजदेवियों के सपक्ष, सुहृत्पक्ष, तटस्थ, विपक्ष का वर्णन है।

(१०) **उद्दीपण प्रकरण में**—गुण, नाम, चरित्र. मण्डन, तटस्थादि भाव उद्दीपन. वाचिक-कायिक-मानस भेद से गुण त्रिविध, वयःसन्धि, माधुर्य्य. यौवन का भेद। रूप-लावण्य सौन्दर्य्यादि नाम-रासादि चरितावली का उल्लेख है।

(११) **अनुभाव प्रकरण में**—नायिका के अलङ्कार समूह, भाव, हाव प्रभृति का वर्णन, अवान्तर भेद, उद्भास्वर है।

उद्भासन्ते स्वधाम्नीति प्रोक्ता उद्भास्वरा बुधैः।
नीव्युत्तरीय धम्मिल्लस्रंसनं गात्रमोटनं।
जृम्भा घ्राणस्य फुल्लत्वं निश्वासादय स्ते मताः॥

(१२) **सात्त्विक प्रकरण में**—स्तम्भ-स्वेदादयोऽष्ट सात्त्विक का वर्णन है।

(१३) **व्यभिचारी प्रकरण में**—निर्वेद विषादादि त्रयत्रिंशत् सञ्चारिभाव का वर्णन है। भावसन्धि-शावल्य-शान्ति-प्रभृति की सुविस्तृत आलोचना है।

(१४) **स्थायोभाव प्रकरण में**—शृङ्गार रस में मधुरारति को स्थायीभाव कहते हैं। रत्याविर्भाव का कारण—

अभियोगाद् विषयतः सम्वन्धादभिमानतः।
सा तदोयविशेषेभ्य उपमातः स्वभावतः।
रतिराविर्भवेदेषामुत्तमत्वं यथोत्तरम् ॥

निसर्ग-स्वरूप भेद से स्वभाव दो प्रकार हैं, ललनानिष्ठो भयनिष्ठत्व भेद से स्वरूप भी द्विविध हैं। यह रति—साधारणी, समञ्जसा, समर्था भेद से त्रिविध हैं। प्रेम (प्रौढ़ प्रेम), स्नेह (घृतमधु स्नेह), मान (उदात्त ललित), प्रणय (मैत्र, सुमैत्र, सख्य, सुसख्य), राग (नीलिम रक्तिमा, प्रत्येक द्विविध नीलीश्याम, कुसुम्भ, मञ्जिष्ठा), अनुराग, भावः—(रूढ़ निमेषासहिष्णुता, आसन्नजनताहृद्वि लोड़नं, कल्पक्षणत्व, क्षणकल्पत्व, अधिरूढ़, **मोदन मोहन**), दिव्योन्माद, उद्घूर्णा दशविध।

मादन—सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः।
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा ॥ (१५५)

(१५) **शृङ्गार भेद प्रकरण में**—विप्रलम्भ-सम्भोग।

(१६) **पूर्वराग प्रकरण में**—

रति र्या सङ्गमात् पूर्वं दर्शन श्रवणादिजा।
तयोरुन्मीलति प्राज्ञैः पूर्वरागः स उच्यते ॥

इसका साक्षात् दर्शन—स्वप्न दर्शन भेद है। वन्दी—दूती, सखी मुख से श्रवण, प्रौढ़ होनेसे लालसादि दशदशा होती हैं।

(१७) **मान प्रकरण में**—स हेतुक-निर्हेतुक मान का निर्णय है।

(१८) **प्रेमवैचित्य प्रकरण में**—लक्षण एवं उदाहरण वर्णित है।

(१९) **प्रवास प्रकरण में**—बुद्धिपूर्व-अबुद्धिपूर्व भेदद्वय, चिन्ता, जागर, उद्वेगादि दशाओं का विस्तृत वर्णन है।

(२०) **संयोग वियोग स्थिति प्रकरण में**—प्रकट लीला में मथुरा गमन, नित्यलीला में वृन्दावन में नित्य स्थिति वर्णित है।

(२१) **सम्भोग प्रकरण में**—जाग्रदवस्था में मुख्य, स्वप्न में गौण, सम्भोग, मुख्य सम्भोग—चतुर्विध, पूर्वराग के पश्चात् संक्षिप्त, मान के अनन्तर संकीर्ण, किञ्चिददूरप्रवास से सम्पन्न, सुदूर प्रवास के पश्चात् समृद्धिमान् । इसके सुविस्तृत विश्लेषण है ।

(२२) **गौण सम्भोग प्रकरण में**—स्वप्न में संक्षिप्तादि भेद चतुष्टय सन्दर्शन, जल्प, स्पर्शनादि सम्भोग की वर्णना है । **संयोग एवं लीलाविलास के मध्य में लीलाविलास का ही समादर है ।**

विदग्धानां मिथो लीलाविलासेन यत् सुखम् ।
न तथा संप्रयोगेन स्यादेवं रसिका विदुः ।। (२२)

**उपसंहार में—**

अतलत्वादपारत्वादाप्तोऽसौ दुर्विगाहताम् ।
स्पृष्टः परं तटस्थेन रसाब्धि र्मधुरोमया ।।

इस ग्रन्थ की टीका तीन हैं,—**'लोचन रोचनी'**—श्रीजीव कृता, **'आनन्द चन्द्रिका'**—श्रीविश्वनाथ कृता, श्रीविष्णुपद गोस्वामिकृता —**'स्वात्म प्रमोदिनी'** ।

(४) **नाटक चन्द्रिका**—श्रीविदग्ध माधव ललितमाधवनाटक द्वय के लक्षणोदाहरण लक्ष्य विषयों का समन्वय साधक ग्रन्थ, श्रीरूप गोस्वामि प्रणीत है ।

भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र तथा शिङ्गभूपाल कृत **रसार्णवसुधाकर** के आदर्श से रचित **'नाटक चन्द्रिका'** नामक नाट्यशास्त्र है। **भरत मतविरोधी साहित्य दर्पण का वर्जन** इस ग्रन्थ में हुआ है ।

वीक्ष्य भरतमुनि शास्त्रं रसपूर्व सुधाकरञ्च रमणीयम् ।
लक्षणमति संक्षेपाद् विलिख्यते नाटकस्येदम् ।। (१)
नातीव संगतत्वाद् भरतमुने र्मत विरोधाच्च ।
साहित्य दर्पणीया न गृहीता प्रक्रियाः प्रायः ।। (२)

प्रस्तुत ग्रन्थ में नाटक लक्षण, दिव्य दिव्यादिव्यादिव्य भेद से नायक त्रिविध, ख्यात, क्लृप्त मिश्रेति त्रिविध—इतिवृत्त, प्रस्तावना, आशीर्वाद, नमस्क्रियादि वस्तुनिर्देशात्मक नान्दीत्रय, प्ररोचना, आमुख—पञ्चक, सन्धि, वीजादि पञ्च प्रकृति। आरम्भादि पञ्चावस्था,

मुखादि संध्यङ्ग पञ्चक, द्वादश वीज भेद, त्रयोदश प्रतिमुख सन्धि भेद, द्वादश गर्भसन्धि भेद, एकविंशति सन्ध्यन्तर, षट्त्रिंशद् भूषण भेद, चार पताका स्थान, विष्कम्भादि अर्थोपक्षेपक, स्वगतादि नाट्योक्ति, अङ्ग स्वरूप, गर्भाङ्क स्वरूप, अङ्क संख्या, नाटक के रसादि, संस्कृत प्राकृत भाषाविधान, भारती प्रभृति वृत्ति भेदा नर्म एवं उसका भेद सलक्षणोदाहरण के सहित वर्णित है।

(५) **अलङ्कार कौस्तुभ**—कवि कर्णपुर गोस्वामी प्रणीत दश किरणात्मक अलङ्कार ग्रन्थ। **प्रथम किरण में**—"ध्वनिर्नाद ब्रह्म" निर्णय करने के पश्चात् परापश्यन्तीत्यादि योग-शास्त्र मतानुसार नाद का सर्वोत्कर्ष स्थापित हुआ है। ध्वनि का काव्य प्राणत्व प्रतिपादन के अनन्तर रसापकर्षक दोष रहित यथासम्भव गुणालङ्कार रसात्मक शब्दार्थ युगल को काव्य कहा है।

कवि लक्षण में—'स वीजो हि कवि ज्ञेयः; वीजं नाम प्राक्तन संस्कार विशेष काव्यरोहभूः।' काव्यं हि द्विविधम्—

उत्तमं ध्वनि वैशिष्टे मध्यमे तत्र मध्यमम्।
अवरं तत्र निष्पन्द इति त्रिविधमादितः॥
पुनः ध्वनेर्ध्वन्यन्तरोद्गारे तदेव ह्युत्तमोत्तमम्।
शब्दार्थयोश्च वैचित्र्ये द्वे यातः पूर्वपूर्वताम्॥

शब्दार्थ वृत्तिद्वय निर्णयात्मक **द्वितीय प्रकरण में**—स्फोट वाद का निर्णय के अनन्तर साधु असाधु भेद से वर्णात्मक शब्द का द्वैविध्य प्रतिपादन हुआ है। जाति-क्रिया-गुण-द्रव्य के द्वारा उसका चतुर्विधत्व प्रतिपादित हुआ है। मुख्य लाक्षणिक व्यञ्जक भेद से शब्द त्रिविध, पुनः योगरूढ़ रूढ़ यौगिक भेद से त्रिविध हैं। समास शक्ति का बहुविधत्व प्रदर्शन के अनन्तर अभिधादि वृत्ति त्रय का स्थापन किया है।

नानार्थानां शब्दानां भेदकाः खलु—

संयोगश्च वियोगश्च विरोधः सहचारिता।
सान्निध्यमन्यशब्दस्य देशसामर्थ्यमौचिती।
लिङ्गमर्थः प्रकरणं कालो व्यक्तिरिमादिशः॥

अथार्थानां व्यञ्जकत्वस्य विषयः—

बोद्धव्य वक्तृ प्रकृति काकुप्रकरणैः सह ।
देशकालादयश्चार्थे वैशिष्ट्याद् व्यङ्गबोधकाः ॥

ध्वनि निर्णयात्मक **तृतीय किरण** हैं। रसाख्यध्वनि का ही आत्मत्व स्थापित्त हुआ है। अभिधामूलक लक्षणामूलक ध्वनि के मध्य में लक्षणामूलक ध्वनि—अविवक्षितवाच्य होगा। अर्थान्तरोप-संक्रान्त अत्यन्त तिरस्कृत भेद द्विविध हैं। अभिधामूलक ध्वनि में विवक्षित वाच्य—लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग द्विविध हैं। इसके एकपञ्चाशत् भेद सलक्षणोदाहरण प्रतिपादित हैं। प्रकृति प्रत्ययादि जन्यवस्त्वलङ्कारादि व्यङ्ग के उदाहरण समूह वर्णित हैं। अनन्तर त्रिविध सङ्कर का निरूपण करके सिद्धान्त किया है— ध्वने र्व्यापार युगलं ध्वननं मनुध्वननञ्च, यत्र केवलं ध्वननं **तदुत्तमं** काव्यम्, यत्र तु ध्वननानुध्वनने तदुत्तमोत्तममिति ॥

**चतुर्थ किरण में**—गुणोभूत व्यङ्ग्य का सोदाहरण वर्णन है— स्फुटमपराङ्गं वाच्यमपोषकं कष्टगम्यञ्च सन्दिग्ध प्राधान्यं तुल्यप्राधान्य काकुगम्ये च अमनोज्ञश्चेति गुणीभूत व्यङ्ग्य भेदाः ॥ ध्वनि वैशिष्ट्य में आठ प्रकार भेद वर्णित हैं।

**पञ्चम किरण में**—रस भाव, तद् भेद निरूपण हैं। रस की अभिव्यक्ति का लक्षण, विभावानुभाव का वर्णन भरत मतानुसरण से हुआ है। रति रस आभासादि का वर्णन हैं, सामाजिक की रसास्वादन पद्धति को सूचित करके चमत्कार का ही रसत्व प्रतिपादन किया है।

रसेसारश्चमत्कारो यं विना न रसोरसः ।
तच्चमत्कार सारत्वे सर्वत्रैवाद्भुतोरसः ॥

दृश्य एवं श्रव्य में शृङ्गार वीर करुणाद्भुत हास भयानक बीभत्स, रौद्र, शान्त, वात्सल्य भेद से एकादश रस स्वीकृत हैं। इसमें 'प्रेमरस' नामक रस का अङ्गीकार है, वह अङ्गी है, समस्त रसों का अन्तर्भाव उक्त 'प्रेमरस' में होता है। शृङ्गाररस वर्णन के समय **सम्भोग विप्रलम्भ शृङ्गार का वर्णन** किया है, **पूर्वराग में दशदशा**

विरह त्रिविध, मानद्वय का प्रदर्शन हुआ है। मिथो अवलोकनादि मधुपानान्त सम्भोग प्रकरण लिखने के पश्चात् विप्रलम्भ का भेद उल्लित हुआ है।

विरहमान, नायक भेद, तद्गुणावलि स्वकीया परकीया नायिका भेद, अष्ट अवस्था, भाव अलङ्कार निर्णय के सहित साङ्गोपाङ्ग आलम्बन विभाव का निरूपण हुआ है। उद्दीपन विभाव में सखी दूती, सात्त्विक व्यभिचारि प्रभृति भावोदय का मनोरम वर्णन है।

गुणविवेचनात्मक **षष्ठ किरण** हैं, इसमें माधुर्य्यादि गुणत्रय का निरूपण हैं। अर्थ व्यक्ति उदारत्व सप्तातिरिक्त गुण का उल्लेख भी हुआ है।

**सप्तम किरण में**—शब्दालङ्कार का निरूपण है, वक्रोक्ति श्लेष, अनुप्रास, यमक, भाषादि श्लेष का उदाहरण एवं विविध चित्र काव्य का वर्णन हैं।

अर्थालङ्कार निरूपणात्मक **अष्टम किरण में**—उपमादि समस्त अलङ्कारों का सुविशद वर्णन है। अन्तः में शब्दार्थालङ्कार का दोष प्रदर्शन हुआ है।

रीति निर्णयात्मक **नवम किरण में**—वैदर्भी प्रभृति रीति चतुष्टय का निरूपण है।

अथ दोष निरूपणात्मके **दशम किरण में**—पदपदांश वाक्यार्थ रसगतान् स प्रपञ्चान् तान् निर्णीतवान्॥ इस ग्रन्थ में श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती कृत सुबोधिनी टीका है।

(६) **साहित्य कौमुदी**—श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण विरचिता कृष्णानन्दिन्याख्या व्याख्या सम्बलित अलङ्कार ग्रन्थ साहित्य कौमुदी है। इसमें अग्निपुराणस्थ साहित्य क्रिया के अनुसार भरतमुनि प्रणीत कारिका की व्याख्या है। ग्रन्थकार ने उक्त कारिका समूह की वृत्ति रचना हेतु एकादशपरिच्छेद के द्वारा उक्त कारिका का सन्निवेश किया है।

**प्रथम परिच्छेद में**—काव्य प्रयोजनादि, काव्य स्वरूप, उत्तमादि काव्य भेद समूह हैं। **द्वितीय में**—शब्दार्थ भेद, वाचक प्रभृति का स्वरूप भेद वर्णन है। **तृतीय में**—अर्थ व्यञ्जकतादि का वर्णन। **चतुर्थ में**—ध्वनि भेद, रसस्वरूप, रसविशेष, स्थायिभाव, व्यभिचारी भाव, रसाभास, लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रम विभाग का वर्णन है। **पञ्चम में**—गुणीभूतव्यङ्ग्य भेद का वर्णन है। **षष्ठ में**—शब्दार्थ चित्र, **सप्तम में**—दोष निरूपण, **अष्टम में**—गुण विचार, **नवम में**—शब्दालङ्कार, **दशम में**—अर्थालङ्कार, **एकादश में**—भरतोक्त परिशिष्ट शब्दालङ्कार अर्थालङ्कार का वर्णन है।

(७) **षट् सन्दर्भ** उपास्य, उपासक, साध्य, साधन एवं प्रमाण गत सार्वभौम ऐक्य प्रतिपादक श्रीभागवत तत्त्व समन्वयात्मक षट् सन्दर्भ ग्रन्थ है। प्रणेता श्रीजीवगोस्वामि चरण हैं। शास्त्र प्रतिपाद्य परमतत्त्व का निरूपण "**तत्त्व, भगवत्, परमात्म, कृष्ण**" सन्दर्भ चतुष्टय में है। **भक्ति सन्दर्भ** में—अभिधेय तत्त्व का सुविशद वर्णन एवं **प्रीति सन्दर्भ में**—पुरुष प्रयोजन का सुष्ठु निर्द्धारण है। भगवत्प्रीति का सर्वश्रेष्ठत्व, प्रीति लक्षण, दृश्यश्रव्य की रस भावना विधि, द्वादश रसविचार सुविन्यस्त हैं।

(८) **भक्तिरसामृतसिन्धु बिन्दु**—

(९) **उज्ज्वलनीलमणि किरण**—श्रीमद् विश्वनाथ चक्रवर्त्तीपाद विरचित ग्रन्थद्वय में मूलोक्त विषयों का संक्षेप एवं भक्तिरस का निरूपण प्राञ्जल रूप से है।

(१०) **काव्य कौस्तुभ**—श्रीबलदेव विद्याभूषणपाद कृत नवप्रभात्मक ग्रन्थ में साहित्य कौमुदी के समान साहित्यालङ्कारगत विषय समूह का विवेचन स्वाधीन भाव से है। इसमें विषादनादि नवीन अलङ्कारों का निरूपण है। उदाहरण समूह का उल्लेख प्रायशः पूर्वाचार्य्योक्ति से ही हुआ है।

**हरिदास शास्त्री**

# ❀सूचीपत्रम्❀

—:०❀०:—



## सूचीपत्रम्

### वर्णानुक्रमेण



## सूचीपत्रम्

### वर्णानुक्रमेण









** श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् **

* *

# * श्रीश्रीभक्तिरसामृतशेषः *

## प्रथमः प्रकाशः ।

***

राधाकृष्णपदाश्रयिरूपश्रीः शश्वदद्भुता स्फुरति ।
भक्तिरसामृतसिन्धुर्यस्याः प्रसरन् जगन्ति पुष्णाति ॥१॥
उज्ज्वलनीलमणिः सोप्युदगात्तस्माद् रसामृताम्बुधितः ।
क्षीराम्बुधितः प्रकटां हरिरुचिमप्यन्यथा घटयन् ॥२॥
तदमृतसिन्धु–विसृष्टं*हरयेऽलङ्काररत्नमाकलयन् ।
साहित्यान्वयि * दर्पणमपि सङ्कुलितं करिष्यामि ॥३॥

---

नत्वा गदाधरं देवं गौरचन्द्रसमन्वितम् ।
रसामृतावशेषस्य व्याख्या मुदावितन्यते ॥

श्रीराधाकृष्ण के श्रीचरणावलम्बन परायण श्रीरूपगोस्वामी महाशय की निरन्तर अति अद्भुत शोभा स्फुरित हो रही है, जिन से भक्तिरसामृत सिन्धु प्रकट होकर जगत् पालनकार्य सुसम्पन्न होताहै ।१

रसामृत सिन्धु से ही उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ भी आविर्भूत हुआ है, वह क्षीराब्धि में प्रकटित श्रीनारायण की कान्ति को भी पराजित कर देदीप्यमान है ॥२॥

श्रीभक्ति रसामृत सिन्धु में अलङ्कार विवेचन प्रकरण को छोड़ दिया गया है, किन्तु श्रीहरि को अलङ्कार से विभूषित करना

---

* त्यक्तं । समर्पयन् ॥ अलङ्काराणां साहित्यं सहितत्वं अन्वयि भजत् दर्पणमपि सङ्कुलितं समर्पितं करिष्यामि । पक्षे साहित्यशब्दयुक्त-दर्पण ग्रन्थमपि सङ्कुलितं संक्षेपेण प्रथिष्यामि ।

अस्थाने परिपातान् म्लायति साहित्यदर्पणः सोऽयं ।
मुरजिति समर्प्यमाणः स्थाने कान्ति सदा लभतां ॥४॥
साहित्यं निजवर्णनमवतंसं कर्त्तुमीहते स हरिः ।
तत्कुर्वन्नहमर्पितमधिहरि दर्पण–समर्पणं कुर्य्याम् ॥५॥
रसभृतवाक्यं काव्यं रस आत्मा वाक्यमस्य यद्देहः ।
सर्वं रसमद्भुतता व्याप्नोत्यत्र हि चमत्कृतिः सारः ॥६॥
तस्मादद्भुत एकः सर्वत्रात्मा यथा ब्रह्म ।

---

एवं दर्पण प्रदर्शन करना भी आवश्यक है, अतः मैं उसका सङ्कलन कर रहाहूँ। पक्ष में साहित्यदर्पण ग्रन्थकावर्णन संक्षपे से कररहा हूँ।३

अपवित्र स्थान में गिरकर साहित्य दर्पण ग्लानि प्राप्त हो रहा है, मुरमुथन श्रीकृष्ण ही उपयुक्त स्थान है उन को अर्पण करने से सदा कान्ति से उज्ज्वल रहेंगे। प्राकृत शरीर को अवलम्वन कर उदाहरणादि निर्म्माण से साहित्य दर्पण ग्रन्थ जगद्वासी को शान्ति प्रदान करने में असमर्थ है, सर्वोत्तम आदर्श निर्दोष गुणगणालङ्कृत श्रीहरि के उदाहरण से साहित्य दर्पण के लक्षणों को मण्डित करने से वह मनुष्यत्व निर्म्माण में सक्षम होगा ॥४॥

श्रीहरि निज वर्णनमय साहित्य को कर्ण भूषण करने के लिए सदाउत्सुक रहते हैं, मैं भी इस अवसर पर साहित्य से अवतंस की रचना कर उन के गुणों से अलङ्कृत कर उनको धारण कराऊँगा, और शोभा दर्शन के लिए दर्पण प्रदर्शन भी करूँगा, अर्थात् प्राकृत नायक नायिका पर उदाहरण को छोड़कर श्रीहरि विषयक उदाहरण से साहित्य दर्पण ग्रन्थ को सुशोभित करूँगा ॥५॥

रसपूर्ण वाक्य ही काव्य है, रस काव्य की आत्मा है, वाक्य,-काव्य का देह है। समस्त रसों में अद्भुतता व्यापक रूप से रहती है, और उसका सार चमत्कार है, चित्त का विस्फार है ॥६॥

अतएव परम प्रिय आत्मा ब्रह्म जिस प्रकार सर्वत्र अद्भुत

एवं शब्देनार्थेनाद्भुततास्पृशि काव्यता वाक्ये ॥७॥
एवं सति रसमात्रे वैशिष्ट्यात् कृष्णभक्तिविबुधैः ।
प्राकृतविषया भगवद्विषया श्चास्मिन् मता भेदाः ॥८॥
पूर्वे पुरुवीभत्साः स्फुटमपरे सर्वशर्मदातारः ।
श्रीमद्भागवताख्यः पञ्चमवेदः प्रमाणं हि ॥९॥
यथा—न यद्वच श्चित्रपदं हरे र्यशो
जगत् प्रवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् ।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा
न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः ॥१०॥

---

रूप में अवस्थित हैं, इस प्रकार सर्वत्र काव्य में अद्भुतता रहती है, वाक्यस्थ शब्द एवं अर्थ में यदि अद्भुतता का स्पर्श हो तो, वह ही उत्तम काव्य होगा ॥७॥

रस मात्र से ही काव्य का वैशिष्ट्य है, श्रीकृष्ण भक्ति विबुध गण उस रस को प्राकृत रस एवं भगवद् विषयक रस रूप से विभक्त करते हैं ॥८॥

प्राकृत में रस शब्द से निबिड़ वीभत्स रस सूचित होता है। श्रीभगवद् विषयक रस तो अनन्त कल्याण प्रदान करता है, इस में श्रीमद् भागवताख्य पञ्चम वेद ही प्रमाण है ॥९॥

सर्व सुलक्षणान्वित हृदय हारिणी वाणी, जगत् पवित्र कारी श्रीहरि यश वर्णन में रत नहीं हो तो उसको वायस तीर्थ कहते हैं, उच्छिष्ट गर्त्त में काक की प्रीति होती है, किन्तु कमनीय मानस सरोवर में विहरण रत हंसगण उस को सेवन नहीं करते हैं, अर्थात् श्रीहरिगुण वर्णन में रत मन कभी भी नायिका वर्णन में रत नहीं होता है ॥१०॥

---

उशन्ति मन्यन्ते । उशिक् कमनीयः क्षयो निवास आश्रयो येषां ते ।

नूनं दैवेन निहता ये चाच्युतकथासुधां ।
हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथां पुरीषमिव विड्भुजः ॥११॥

त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्त
र्मांसास्थिरक्तकृमिविट्–कफ–पित्त–वातं ।
जीवच्छवं भजति कान्तमति विमूढ़ा
या ते पदाब्ज-मकरन्द–मजिघ्रती स्त्री ॥१२॥

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छ्रोत्र-मनोऽभिरामात् ।
क उत्तमः श्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना
पशुघ्नात् ॥१३॥ इत्यादि ।

तत्काव्य पुम्वदुद्दिष्टं दोषाद् दुष्टं गुणाद् गुणि ।
अलङ्कारादलङ्कारि क्रूराद् दोषाद् विनश्यति ॥
रसा भागवता स्ते तु विज्ञातव्या रसामृतात् ।
ते गम्या व्यञ्जनावृत्त्या यागम्या शब्दवृत्तिषु ॥१४॥

---

जो लोक विष्ठा भोजन कारी पशु के समान असत् वार्त्ता को सुनते रहते हैं, उन सब को दैवने विनष्ट किया है, कारण अमृतमय अच्युत कीचरित कथा का परित्याग उन्होंने किया है ॥११॥

स्त्रीगण त्वक् श्मश्रु, रोम नख केशयुक्त मांस अस्थि, रक्त, कृमि विट् कफ, पित्त, वायु पूर्ण जीवित शव का भजन कान्तमति से करती रहती हैं, वे सब ही बिमूढ़ा हैं, किन्तु जिन्होंने आपके चरणार विन्द की सुगन्ध को प्राप्त किया, वे वेसा नहीं करती हैं ॥१२॥

पशुहत्या कारी निर्दय व्यक्ति, एवं आत्मघाती व्यक्ति को छोड़कर उत्तम श्लोक के गुणानुवाद से कोई भी विरत नहीं होता है, क्योंकि—तृष्णाशून्य व्यक्ति, उसका गान करते हैं, और वह भवौषध होते हुए भी श्रवण मन को मुग्ध करने वाला है ॥१३॥

पुरुष की भाँति पुरुषरचित काव्य भी दुष्ट होता है, और गुण

अत्र यदाह—'रसे सारश्चमत्कारः सर्व्वत्राप्युपलभ्यते !
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसमिति ।।१५।।

किञ्च—वाक्यं रसात्मकं काव्यं।' रस एव आत्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य। तेन विना चमत्काराभावेन काव्यत्वाभावात्। रस्यते इति रस इति व्युत्पत्त्या भाव-तदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते। कनिष्ठकाव्याभासादि-ज्ञानाय दोषाः पुनः काव्ये किंस्वरूपा इत्युच्यते—।।१६।।

---

से गुणी होता है, अलङ्कार से भूषित होता है, अन्यथा क्रूरतादि दोष से वह व्यक्ति विनष्ट हो जाता है, भागवत रसको ही रस शब्द से कहा जाता है; उसका परिज्ञान भक्ति रसामृत सिन्धु से करना आवश्यक है, उसका जो अंश शब्द संकेत से ज्ञात नहीं होता है, वह भी व्यञ्जना वृत्ति से परिज्ञात होता है ।।१४।।

इस विषय में अभिज्ञ व्यक्तिका कथन है, रसका सार चित्तका विस्फार, एवं चमत्कारिता है, अतएव कृती नारायण सुधी ने रस को अद्भुत शब्द से ही कहा है ।।१५।।

और भी—रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहते हैं, रस ही आत्मा है, वह साररूप होने से ही जीवातु है, उसके विना चमत्कार होना सम्भव नहीं है, उससे काव्यत्व भी विनष्ट हो जाता है। 'रस्यते इति रस" जो आस्वादनीय है, वह ही रस है, इस प्रकार अर्थ से भाव एवं उसका आभास का भी ग्रहण होता है। कनिष्ठ काव्य एवं काव्याभास को जानने के लिए दोष का परिज्ञान होना आवश्यक है। अतः लक्षण के साथ दोष का वर्णन करते हैं—।।१५।।

रसका अपकर्ष जिस से होता है, उसको दोष कहते हैं। शरीर में काणत्व खञ्जत्व जिस प्रकार दोष होते हैं, उस प्रकार काव्य में श्रुति दुष्ट अपुष्टार्थ आदि भी दोष होते हैं। शरीर में मूर्खतादि की भाँति व्यभिचारि भावादि का कथन शब्द के द्वारा होने से दोष होता है। साक्षात् काव्य आत्मा ही रस है, उसका अपकर्ष साधक होकर काव्य का भी अपकर्ष साधक होता है, दोष समूहके विशेष उदाहरणों

'दोषा स्तस्यापकर्षकाः'

श्रुतिदुष्टत्वापुष्टार्थत्वादयः काणत्व-खञ्जत्वादय इव देहद्वारेण, व्यभिचारिभावादेः स्वशब्दवाच्यत्वादयो मूर्खतादय इव, साक्षात् काव्यात्मभुत-रसमपकर्षयन्तः काव्यस्यापकर्षका इत्युच्यन्ते । एषां विशेषोदाहरणानि वक्ष्यामः । गुणादयः किं स्वरूपा इत्युच्यते—

**उत्कर्षदा गुणाः प्रोक्ता गुणालङ्कार-रीतयः ।**

गुणाः शौर्य्यादिवत्, अलङ्काराः कटक-कुण्डलादिवत् । रीतयोऽवयव संस्थानवत् देहद्वारेण शब्दार्थद्वारेण तमेव काव्यात्मभूतं रसमुत्कर्षयन्तः काव्योत्कर्षका इत्युच्यते । यद्यपि गुणानां रसधर्मत्वं, तथापि गुणशब्दोऽत्र गुणाभिव्यञ्जक-शब्दार्थयो रुपचर्य्यते । अतो गुणाभिव्यञ्जका रसस्योत्कर्षका भवन्तीति । एषामपि विशेषोदाहरणानि वक्ष्यामः ।

इति श्रीहरिभक्तिसिन्धुपर्य्यन्त-लब्ध-जन्मान्तरे साहित्यदर्पणचरे हरिमणिदर्पणतया परिरब्धरूपकवरे वस्तुतस्तु काव्यमीमांसाकरे रसामृतशेष

---

को आगे कहेंगे ॥१६॥

गुणादि का स्वरूप क्या है ? इसके उत्तर में कहते हैं—रसका उत्कर्ष साधक को गुण कहते हैं, इस में गुण अलङ्कार रीति का ग्रहण होता है । शरीर में शौर्य्य जिस प्रकार आत्मा का उत्कर्ष साधक होता, उस प्रकार गुण समूह भी रस का उत्कर्ष साधक होते हैं, कटक कुण्डलादि की भाँति अलंकार काव्य को शोभित करता है, शरीर सुडोल होनेसे सौन्दर्य जिस प्रकार बढ़ताहै, उस प्रकार रचना परिपाटी रूप रीति भी काव्य सौन्दर्य स्थापक होती है । यह सब काव्य की आत्मा रूप रस का उत्कर्ष स्थापन कर काव्य का उत्कर्ष स्थापक होते हैं, यद्यपि गुण समूह रस के धर्म होते हैं । तथापि-यहाँ पर गुण के अभिव्यञ्जक शब्दार्थ में गुण शब्द का उपचार होता है, अतएव गुणाभि व्यञ्जक गण ही रसका उत्कर्ष स्थापक होते हैं, इस के विशेष उदाहरण समूह का प्रदर्शन आगे करेंगे ॥१७॥

इति श्रीहरिभक्तिसिन्धु पर्यन्त लब्ध जन्मान्तरे साहित्य दर्पणचरे हरिमणि दर्पणतया परिरब्ध रूप कबरे वस्तुतस्तु काव्य मीमासाकरे

नामधरे प्रथमः प्रकाशः ॥१७॥

---***---

# ❀ द्वितीयः प्रकाशः ❀

वाक्यस्वरूपमाह—

**वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः ।**

योग्यता पदार्थानां परस्पर-सम्बन्धे बाधाभावः पदोच्चयस्यैतदभावेऽपि वाक्यत्वे 'वह्निना सिञ्चति', 'हरिवैमुख्येन संसारं तरती'त्यपि वाक्यं स्यात् । आकाङ्क्षा प्रतीति–पर्य्यावसानविरहः श्रोतृ जिज्ञासा स्वरूपः । निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वे मत्स्यः कूर्मो वराह इत्यपि वाक्यं स्यात् । आसत्ति बुद्धयविच्छेदः । बुद्धि-विच्छेदेऽपि वाक्यत्वं इदानीमुच्चरितस्य हरिपदस्य दिनान्तरोच्चारितेन गायति पदेन सङ्गतिः स्यात् । अत्राकाङ्क्षा-योग्यतयोरर्थ धर्म्मत्वेऽपि पदोच्चयधर्मत्वमुपचारात् ॥१॥

---

रसामृतशेष नामधरे प्रथमः प्रकाशः ॥१॥

---***---

**काव्यलक्षण में उक्त—**

वाक्य स्वरूप को कहते हैं, योग्यता आकाङ्क्षा आसत्ति युक्त पदसमुह को वाक्य कहते हैं । पदप्रति प्रतिपाद्य वस्तुयों के परस्पर के सम्बन्ध विषय में प्रतिबन्धक का अभाव को योग्यता कहते हैं। पदोच्चय का प्रयोग न करने से वह्नि से सेचन कर रहा है, हरि बिमुखता से संसार का पार होता है, इस प्रकार प्रयोग भी वाक्य होने लगेगा, अतः पदसमूह कहा गया है, पदजन्य पदार्थ प्रतीति की समाप्ति न होना, श्रोता की जिज्ञासा रूप को ही आकाङ्क्षा कहते हैं। निराकाङ्क्ष को भी वाक्य कहने से मत्स्य कूर्म्म, वराह, इस प्रयोग को वाक्य कहा जायेगा । पद प्रतीति विषयका वियोग न होना ही आसत्ति है, बुद्धि विच्छेद को वाक्य कहने से इदानीं उच्चारित हरिपद का सम्बन्ध की दिनान्तर में उच्चारित गायति पदके साथ सङ्गति होगी । यहाँ आकाङ्क्षा एवं योग्यता अर्थ धर्म होने परभी

'वाक्योच्चयो महावाक्यम्'—

योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्त एव ।

'इत्थं वाक्यं द्विधा मतम् ।'

इत्थमिति वाक्यं महावाक्यत्वेन तदुक्तं—

स्वार्थबोधे समर्थानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया ।
वाक्यानामेक-वाक्यत्वं पुनः संहृत्य जायते ॥

तत्र वाक्यं यथा—

शून्यं कुञ्जगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं कृष्णस्य दृष्ट्वा मुखं ।
विस्रब्धं परिरभ्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जा-नम्रमुखी सहासममुना बाला चिरं चुम्बिता ॥

महावाक्यं—रामायणादि ॥२॥

---

उपचार से ही पद समूह के धर्म होते हैं ॥१॥

योग्यता आकाङ्क्षा आसक्ति युक्त होकर ही वाक्य समूह महावाक्य होते हैं। इस प्रकार वाक्य दो प्रकार होते हैं। अर्थात् वाक्य एवं महावाक्य संज्ञा से दो प्रकार वाक्य होंगे। वाक्यसमूह उच्चारित होकर अर्थ बोधन के बाद निष्क्रिय हो जाने के पश्चात् पुनर्बार आकाङ्क्षा उपस्थित होने से उक्त वाक्य समूह पुनर्बार गौण प्रधान रूप से मिलित होकर एक वाक्य होते हैं। वाक्य का उदाहरण इस प्रकार है—कुञ्जगृह में कृष्ण एवं राधा पृथक् पृथक् शय्या में निद्रा सुख का अनुभव कर रहे थे, सखी गण भी समयोचित सेवा के पश्चात् निज निज स्थान में चली गईथीं, कुञ्ज गृह एकान्त था, इस समय बाला राधिका निज शय्या से उठकर छलनिद्रा से अभिभूत कृष्ण के मुख को देखकर विश्वस्त होकर चुम्बन कर लिया श्रीराधा के चुम्बन कालीन मुखस्पर्श से श्रीकृष्ण के गण्डस्थल पुलकावली छागई, यह देखकर राधा लज्जिता होकर क्षणभर अधोवदन होकर रही, इसी समय कृष्ण ने हंस हंस कर बहुत देरतक

पदोच्चयो वाक्यमित्युक्तं । तत् किं पद-लक्षणमित्याह—

**वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः ।**

यथा—परमेश्वरः । प्रयोगार्हं इति प्रातिपदिकस्य विच्छेदः । अनन्वितेति वाक्य-महावाक्ययोः । एकेति साकाङ्क्षानेकपदवाक्यानां अर्थ-बोधका इति कचटतपेत्यादीनां । वर्णा इति बहुवचनमविवक्षितं ।

तत्र(पदे)—**अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यङ्ग्यश्चेति त्रिधा मतः ।**

एषां स्वरूपमाह—

**वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः ।**
**व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ताः स्यु स्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः ॥**

ता अभिधाद्याः ।

**तत्र सङ्केतितार्थस्य बोधनादग्रिमा मता ।**

उत्तमगोपेन मध्यमगोपमुद्दिश्य गामानयेत्युक्ते तं गवानयन-प्रवृत्त

---

श्रीराधा के मुख कमल को चुम्बन किया । रामायण महाभारतादि को महावाक्य कहते हैं ॥२॥

वाक्यलक्षणमें पदोच्चयो वाक्यम् पदसमूह वाक्य है, इस प्रकार कहा गया है, पद का लक्षण क्या है-इस जिज्ञासा निवृत्ति के लिए कहते हैं-प्रयोग के योग्य होकर अपर्य्यवसित अन्वय एकार्थ बोधक वर्ण ही पद होता है । उदाहरण-परमेश्वरः, यह पद है, प्रयोग के योग्य कहने पर प्रातिपदिक 'नाम' का ग्रहण नहीं हुआ । अनन्वित-पद के द्वारा, वाक्य एवं महावाक्य की व्यावृत्ति हुई है । दोनों में निज निज अन्वय पर्यवसान होने से अपर्यवसित अन्वय नहीं है। एक शब्द से साकाङ्क्ष अनेक पद वाक्य की व्यावृत्ति हुई । समुदाय से अनेक अर्थ बोध होताहै, अर्थ बोधक शब्द प्रदान से क, च, ट, त, प प्रभृति की व्यावृत्ति हुई, प्रत्यके में अभिधा वृत्ति न होने से प्रत्येक में पद लक्षण उपपन्न नहीं हुआ, अभिधा वृत्ति होने से पदत्व होगा—यथा—प्रजापति बोधक "क" है । 'वर्णा' यहाँ पर बहु वचन विवक्षित नहीं है, वर्ण सामान्य का ही पदत्व है ।

मुपलभ्य बालोऽस्य वाक्यस्य 'सास्नादिमत्पिण्डानयनमर्थः' इति प्रथमं प्रतिपद्यते। अनन्तरं 'गां बधान, अश्वमानय' इत्यादावापोद्वापाभ्यां * गोशब्दस्य सास्नादिमानर्थ आनयन-शब्दस्य चाहरणमिति सङ्केतमवधारयति।

क्वचित्तु प्रसिद्ध पद-समभिव्याहाराच्च। यथेह—

'प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधूकरः पिबति' इति

क्वचिदाप्तोपदेशात्--यथा—'अयमश्व' इत्यत्र। तत्र सङ्केतितमर्थं बोधयन्ती शब्दस्य शक्त्यन्तरानन्तरिता शक्तिरभिधा नाम।

**सङ्केतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च।**

जाति र्गोपिण्डादिषु गोत्वादिका। गुणो विशेषाधानहेतुः प्रसिद्धो वस्तुधर्म्मः। शुक्लादयो हि गवादिकं सजातीयेभ्यः कृष्णगवादिभ्यो

---

उस पद लक्षण में अर्थ, तीन प्रकार होते हैं, वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग। तीनों के स्वरूपों का वर्णन करते हैं-अभिधा वृत्तिसे वाच्यार्थ का बोध होता है, लक्षणा से लक्षार्थ का बोध होता है, एवं व्यञ्जना वृत्ति से व्यङ्गयार्थ का बोध होता है, शब्द की शक्ति (सङ्केत) तीन हैं। ताः, अभिधाद्याः, अभिधा लक्षणा, व्यञ्जना। सङ्केतित अर्थ का बोधक होने से उसे अभिधा कही जाती है, यह ही मुख्या वृत्तिहै, जिस प्रकार-उत्तम गोप ने मध्यम गोप को कहा, गो को ले आओ, यह वाक्य सुनकर मध्यम गोप की प्रवृत्ति गो को लाने में हुई। क्रोड़स्थ बालक ने पहले उच्चारित शब्द को सुना, उस के बाद शब्द के अनन्तर मध्यम वृद्ध की क्रिया को भी बालक ने देखा, बालक ने गो शब्द का अर्थ-एक सास्नादि युक्त पशु है, यह समझा, यह तो रहा पहला बोध, इसके बाद गो को बाँधो, अश्व को ले आओ, शब्द को सुनकर ऊहापोह के द्वारा अर्थ को बालक ने समझ लिया, और निश्चय किया कि गो शब्द का सास्नादिमान् पशु अर्थ है, और आनयन शब्द का आहरण अर्थ है, शब्द का 'सङ्केत यह है। कहीं पर प्रसिद्ध के साथ किसी पद का उच्चारण होने से भी अर्थ बोध होता है, जैसे प्रस्फुटित कमल के मध्य के मधु मधुकर पान कर रहा है,

---

* उहापोहाभ्यां अन्वयव्यतिरेकाभ्यामित्यर्थः।

व्यावर्त्तयन्ति । ( द्रव्यशब्दा एकव्यक्तिवाचिनो हरिहर-डित्थादयः, कश्चित् प्रत्येकमेका ) एव व्यक्तयः । क्रियाः साध्यरूपा वस्तुधर्माः पाकादयः । एष्वधि श्रयणादि-स्वश्रयणान्त-व्यापार-कलापः पूर्वापरीभूतः पाकादि-शब्दवाच्यः । एष्वेव व्यक्ते रुपाधिषु सङ्केतो गृह्यते । न व्यक्तौ, आनन्त्यव्यभिचार दोषापातात् ॥३॥

अथ लक्षणा—

**मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते ।**
**रूढेः प्रयोजनाद्वापि लक्षणा शक्तिरर्पिता ॥**

'शूरसेना हरिभक्ता' इत्यादौ शूरसेनादिशब्दो देशविशेषे स्वार्थेऽसम्भवन् यया शब्दशक्त्या स्वसंयुक्तान् पुरुषादीन् प्रत्याययति, यया च

---

पद्म में मधु पानकर रहा है, कथन से मधुकर शब्द से मधुमक्षिका अर्थ न कर भ्रमर अर्थ हुआ है। आप्तोपदेश से भी कभी अर्थ का बोध होता है, यथार्थ वक्ता को आप्त कहते हैं, जैसे किसी ने कहा अयमश्व, यह अश्व है, अश्व शब्द से घोड़ा का बोध हुआ। अपर शक्तियों के साथ मिलित न होकर ही जो सङ्केत अर्थ का बोध कराता है, उस का नाम अभिधा है। सङ्केत से जाति, गुण द्रव्य क्रिया का बोध होताहै, केवल जाति अथवा व्यक्तिका बोध नहीं होताहै, व्यक्ति की उपाधि में ही सङ्केत ग्रह होता है।

जाति—गो पिण्डादि में गोत्वादि है, गुण-विशेषाधान हेतु है, प्रसिद्ध वस्तु धर्म है, इतर व्यावृत्ति प्रतिपादन हेतु है। शुक्लादि-जातीय कृष्ण गो प्रकृति से गो को पृथक् करता है। द्रव्य शब्द-एकव्यक्ति का बोधक होता है। जैसे हरि, हर, इत्यादि। क्रिया—साध्यरूप वस्तु धर्म,-पाकादि है, इस पाक काय में आरम्भ से क्रिया समाप्ति पर्यन्त जितनी चेष्टाएँ हैं, सभी गृहीत है, अधिश्रयण, अवश्रय णान्त यावतीय कार्य समूह को ही पाक शब्द से जानना होगा। इस में व्यक्ति की उपाधि में ही संकेत का प्रयोग होता है। व्यक्ति में नहीं, व्यक्ति अनन्त है, एवं व्यभिचार दोष भी होगा ॥३॥

अभिधा निरूपण के पश्चात् लक्षणा का निरूपण करते हैं,

'यमुनायां घोषः' इत्यादौ यमुनादिशब्दो जलमयादि-रूपार्थ-वाचकत्वात् प्रकृतेऽसम्भवन् स्वस्य सामीप्यादि-सम्बन्धिनं तटादिकं बोधयति। सा शब्दस्यार्पिता स्वाभाविकेतरा ईश्वरानुद्भाविता वा शक्ति लक्षणा नाम। पूर्वत्र हेतु रूढ़िः प्रसिद्धिरेव, उत्तरत्र 'यमुनातटे घोष' इति प्रतिपादनालभ्यस्य शीतत्व-पावनत्वाद्यतिशयस्य बोधनरूपं प्रयोजनं हेतुः। हेतुं विनापि यस्य कस्यचित् सम्बन्धिनोऽतिप्रसङ्गः स्यात्। अत उक्तं—रूढ़ेः प्रयोजनाद्वापीति'। केचित्तु कर्मणि कुशलः' इति रूढ़ावुदाहरन्ति। तेषामयमभिप्रायः—'कुशं लाति' इति व्युत्पत्तिलभ्यः कुशग्राहिरूपो मुख्योऽर्थः प्रकृतेऽसम्भवन् विवेचकत्व-सम्बन्धिनं दक्षरूपमर्थं बोधयतीति। एतदन्ये न क्षमन्ते। कुशग्राहिरूपस्यार्थस्य व्युत्पत्तिलभ्यत्वेऽपि दक्षरूपस्यैव मुख्यार्थत्वात्।

अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्ति-निमित्तं। अन्यच्च प्रवृत्ति-निमित्तं। इति व्युत्पत्ति-लभ्यस्य मुख्यार्थत्वे 'गौः शेते' इत्यत्रापि लक्षणा स्यात्। 'गमे र्डोः' (उणादि २।६७) इति गमधातो र्डो प्रत्ययेन व्युत्पादितस्य गो-शब्दस्य शयन कालेऽपि प्रयोगात्। तद्भेदानाह —

**मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वय-सिद्धये।**
**स्यादात्मनोऽप्युपादानादेषोपादान-लक्षणा॥**

रूढ़ावुपादान-लक्षणा यथा—'श्यामो गायतीत्यादि'। प्रयोजने यथा—'गोष्ठे यष्टयः प्रविशन्तीत्यादि'। अनयो हि श्यामादिभि र्यष्टयादिभिश्चाचेतनतया केवलै र्गानप्रवेश क्रिययोः कर्त्तृतयाऽन्वयमलभमानैरेतत् सिद्धये स्व-सम्बन्धिना पुरुषादयः गोपादयश्च लक्ष्यन्ते। पूर्वत्र प्रयोजनाभावाद् रूढ़िः,

---

मुख्यार्थ की बाधा होने से जिस शक्ति से अभिधा युक्त में अन्य प्रकार अर्थ की प्रतीति होती है, उसे लक्षणा कहते हैं यह रूढ़ि से एवं प्रयोजन से ही होतीहै। यह स्वाभाविक अर्थ से भिन्न अर्थ का बोधक है, और यह ईश्वर सङ्केत नहीं है। 'शूरसेना हरिभक्ता' शूर सेन गण हरिभक्त हैं। यहाँ शूरसेनादि शब्द का देशविशेष अर्थ है, किन्तु उक्त वाक्य से देश विशेष प्राप्त करना सम्भव नहीं है, जिस शक्तिसे शूरसेन सम्बन्धि पुरुषादि का बोध होता है, जिस के द्वारा'यमुनायां

उत्तरत्र यष्ट्यादीनामतिगहनत्वं प्रयोजनं । अत्र च मुख्यार्थस्यात्मनोऽप्युपादानं। लक्षण-लक्षणायान्तु परस्यैवेत्यनयो र्भेदः। इयमेवाजहत्स्वार्थेत्युच्यते।

**अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वय-सिद्धये ।**

**उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षण-लक्षणा ॥**

रूढ़ि प्रयोजनयो र्लक्षण-लक्षणा यथा—'शूरसेना हरिभक्ताः' 'यमुनायां घोषः' इति च। अनयो र्हि पुरुष-तटयो र्वाक्यार्थे अन्वय-सिद्धये शूरसेन-यमुना—शब्दावात्मानमर्पयतः। यथा च—

'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते प्रकृतिरेव हरेः सुखदायिनी' इत्यादि मानवती-वचनादौ।

अत्रापकारादीनां वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये उपकृतादयः शब्दा आत्मानमर्पयन्ति। अपकारिणं प्रत्युपकारादि-प्रतिपादनान् मुख्यार्थबाधः, वैपरीत्य-लक्षणः सम्बन्धः। फलमपकाराद्यतिशयः। इयमेव 'जहत्स्वार्था' इत्युच्यते।

**'आरोपाध्यवसानाभ्यां प्रत्येकं ता अपि द्विधा।**

ताः पूर्वोक्त चतुर्भेदा लक्षणाः।

**विषयास्यनिगीर्णस्यान्यतादात्म्य-प्रतीतिकृत्।**

**सारोपा स्यान्निगीर्णस्य मता साध्यवसानिका ॥'**

---

घोषः" यमुना में घोष है,इस वाक्य से यमुनादि शब्द से जलमय रूप अर्थ का प्रकाश होता हैं किन्तु प्रकृत वाक्य से उक्त अर्थ असङ्गत होता, जलमय में आभीर पल्ली का अवस्थान असम्भव है। अतएव यमुना शब्द से यमुना सम्बन्धि तट का बोध होता है, यह वृत्ति स्वाभाविक से भिन्न है एवं ईश्वर के द्वारा उद्भावित नहीं है, इस शक्ति का नाम लक्षणा है। "शूरसेना हरिभक्ताः" स्थल में हेतु रूढ़ि प्रसिद्धि ही है, 'यमुना में घोषः' स्थल में शब्द से अलभ्य शीतत्व पावनत्वादि अतिशयत्व का बोधन रूप प्रयोजन ही हेतु है। हेतु के बिना भी जिस किसी पद में जिस किसी प्रकार अर्थ हो जाय ? इस के लिए कहते हैं, नहीं, रूढ़ि एवं प्रयोजन हेतु से ही लक्षणा होगी।

कुछ व्यक्ति का मत है, "कर्मणि कुशलः" यह रूढ़िका

रूढ़ावुपादानलक्षणा सारोपा यथा—'पुरुषः श्यामो गायति'। अत्र हि श्यामगुणवान् पुरुषोऽनिगीर्णस्वरूपः स्वसमवेतगुणतादात्म्येन प्रतीयते। प्रयोजने यथा—'एताः यष्टयः प्रविशन्ति'। अत्र सर्वनाम्ना यष्टिधारि गोपगणनिर्द्देशात् सारोपात्वं। रूढ़ौ लक्षणलक्षणा सारोपा यथा—'शूरसेनाः पुरुषाः हरिं कीर्त्तयन्ति'। अत्र हि शूरसेन–पुरुषाणामाधाराधेयभावः सम्बन्धः। प्रयोजने यथा—'श्रीकृष्ण आयु र्गोपीनां'। कार्य्यकारण भावसम्बन्धादायु–स्तादात्म्येन श्रीकृष्णः प्रतीयते। अन्यवैलक्षण्येना व्यभिचारेणायुष्करत्वं प्रयोजनं।

यथा च—भगवत् पुरुषे गच्छति भगवानसौ गच्छतीति स्वस्वामिभावलक्षणः सम्बन्धः। यथाग्रमात्रेऽवयवे हस्तोऽयं। अत्रावयवावयवि-भाव लक्षणः सम्बन्धः। ब्राह्मणेऽपि 'तक्षासौ,' अत्र तात्कर्म्म्यलक्षणः सम्बन्धः। विष्ण्वर्थे 'यज्ञोऽयं विष्णु' रित्यत्र तादर्थ्यलक्षणः सम्बन्धः। एवमन्यत्रापि। निगीर्णस्य पुन विषयस्यान्यतादात्म्य-प्रतीतिकृत् साध्यवसाना। अस्या श्चतुर्भेदेषु पूर्वोदाहरणान्येव।

---

उदाहरण है, उनका अभिप्राय यह है कि--कुशछेदन कारी को कुशल कहा जाता है, किन्तु उक्त वाक्य में उस अर्थ की असङ्गति नहीं होगी, अतएव मुख्यार्थ को छोड़कर विवेचकत्व सम्बन्धि दक्ष रूप अर्थ का बोध होना ही लक्षणा है। इस प्रकार उदाहरण को अपर व्यक्ति पसन्द नहीं करते हैं। प्रकृति प्रत्यय के द्वारा कुशग्रहण कारी रूप अर्थ का प्रकाश होने पर भी दक्ष रूप अर्थ ही कुशल शब्द का मुख्यार्थ है।

शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त अलग है, एवं प्रवृत्ति का निमित्त भी पृथक् है, इस नियम से "गौः शेते" व्युत्पत्ति प्राप्त अर्थ को मुख्यार्थ मानने से यहाँ पर लक्षणा होगी, गमेर्डोः (उणादि २।६७) गम धातु के उत्तर में ड प्रत्यय के द्वारा प्राप्ति अर्थ युक्त गो शब्दका प्रयोग शयन के समय भी होगा। लक्षणा के भेद को कहते हैं—वाक्य के साथ अन्वय करने के लिए मुख्यार्थ के साथ जिसकी प्रतीति होती है, उस को उपादान लक्षणा कहते हैं, मुख्यार्थ विशिष्ट रूप से

**सादृश्येतरसम्बन्धाः शुद्धा स्ताः सकला अपि ।**
**सादृश्यात्तु मता गौण्य स्तेन षोड़शभेदिका ॥**

ताः पूर्व्वोक्ता अष्टभेदाः लक्षणाः । सादृश्येतर-सम्बन्धाः कार्य्यकारण-भावादयः । अत्र शुद्धानां पूर्व्वोदाहरणान्येव । रूढ़ावुपादानलक्षणा सारोपा गौणी यथा—'एतानि तैलानि श्रीकृष्णस्य हेमन्त-सुखानि' । अत्र तैलशब्द स्तिलभवस्नेहरूपं मुख्यार्थमुपादायैव सार्षपादिस्नेहेषु वर्त्तते । प्रयोजने यथा—राजकुमारकसदृशेषु गोपकुमारेषु गच्छत्सु 'एते राजकुमारा गच्छन्तीति' । रूढ़ावुपादान लक्षणा साध्यवसाना गौणी यथा—'तैलानि श्रीकृष्णस्य हेमन्त-सुखानि ।' प्रयोजने यथा—'राजकुमारा गच्छन्ति ।' रूढ़ौ लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी यथा—'श्रीकृष्णो दैत्यकण्टकं शोधयति ।' रूढ़ौ लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी यथा--श्रीकृष्णः कण्टकं शोधयति' । प्रयोजने यथा-'कृष्णादन्यं गौः स्तौति' । अत्र केचिदाहुः—'स्वार्थ-सहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यन्ते । ते च गोशब्दस्य वाहीकाभिधाने निमित्ती-भवन्तीति ।

तदयुक्तं । गोशब्दस्यागृहीतं सङ्केतं वाहीकार्थमभिधातुमसामर्थ्यात् ।

---

भान होता है, अर्थात् निजार्थ एवं अन्यार्थ का भान इस में होता है, रूढ़ि से उपादान लक्षणा का उदाहरण "श्यामोगायति" प्रयोजन में उपादान उक्षणा--गोष्ठे यष्ट्यः प्रविशन्ति, यहाँ श्याम एवं षष्ठि अचेतन है, अतएव गानक्रिया एवं प्रवेशक्रिया के साथ दोनों का अन्वय होना सम्भव नहीं है, क्रिया के साथ अन्वित होने के लिए श्याम, एवं षष्ठि शब्द से श्याम, यष्ठि सम्बन्धि पुरुष गोपादि का बोध होता है, श्यामो गायति में प्रयोजन के अभाव से रूढ़ि हेतु है, गोष्ठे यष्टयः प्रविशन्ति में अतिगहनत्व प्रयोजन है। यहाँ मुख्यार्थ का भी प्रयोग हुआ है, लक्षगलक्षणा में केवल दूसरे का ही बोध होता है, इस प्रकार उपादान लक्षणा के साथ लक्षणलक्षणा का भेद है। इस को ही अजहत् स्वार्थ लक्षणा कहते हैं।

वाक्य के साथ अन्वय सिद्धि के लिए जहाँ अपना अस्तित्व को छोड़ देते हैं, वहाँ लक्षणलक्षणा होती है। रूढ़ि एवं प्रयोजन

गोशब्दार्थमात्रबोधनाच्च । अभिधाया विरतत्वात् । विरतायाश्च पुनरुत्थानाभावात् । अन्ये तु—"गोशब्देन वाहीकार्थो नाभिधीयते, किन्तु स्वार्थसहचारिगुणसाजात्येन वाहीकगतागुणा एव लक्ष्यन्ते ।" तदप्यन्ये न क्षमन्ते । तथा ह्यत्र—गोशब्दाद् वाहीकार्थः प्रतीयते न वा, आद्ये गोशब्दादेव वा, तल्लक्षिताद्वा ? गुणादविनाभावद्वारा तत्र न प्रथमः, वाहीकार्थेऽस्यासङ्केतितत्वात् । न द्वितीयः, अविनाभावलभ्यस्यार्थस्य शब्दान्वयेऽप्रवेशात् । शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव प्रपूर्य्यते । आद्यस्य द्विरूपत्वान्नवेत्युक्तस्तृतीयोऽपि न, यदि गोशब्दाद्वाहीकार्थो न प्रतीयते, तदा तस्य वाहीकशब्दसामानाधिकरण्यमसमञ्जसं स्यात् । तस्मादत्र गोशब्दो मुख्यया वृत्त्या वाहीकशब्देन सहान्वयमलभमानोऽज्ञत्वादि-साधर्म्याद्वाहीकार्थं लक्षयति । वाहीकस्याज्ञताद्यतिशयबोधनं प्रयोजनं । इयं गुणयोगाद् गौणीत्युच्यते । पूर्वा तूपचारामिश्रणाच्छुद्धा । उपचारो हि नामात्यन्तविशकलितयोः सादृश्यातिशय महिम्ना भेदप्रतीतिस्थगणमात्रं । यथा अग्निमाणवकयोः । पीतपटयोस्तु नात्यन्तभेद प्रतीतिः । तस्मादेवमादिषु शुद्धैव लक्षणा ॥

---

हेतु लक्षणलक्षणा का दृष्टान्त–'शूरसेना हरिभक्ताः', 'यमुनायां घोषः' उक्त स्थल द्वय में पुरुष–तटका वाक्यार्थ में अन्वय के लिए शूरसेन एवं यमुना शब्द, अपने को अर्पण कर दिया है । उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते प्रकृतिरेव हरेः सुखदायिनी" यहाँ मानवती के वचनादि में उसका उदाहरण मिलता है । अपकारादि का अन्वय वाक्यार्थ में होने के लिए उपकृतादि शब्द अपने को विसर्जित कर चूके हैं, अपकारि के प्रति उपकार शब्द प्रयोग होने से मुख्यार्थ नहीं रहता है, अतएव विपरीत लक्षण सम्बन्ध ही होता है, अर्थात् उपकार शब्द से अपकार अर्थ ही जानना होगा, इस प्रकार प्रयोग का फल ही है, अतिशय अपकार को सूचित करना । इसको ही "जहत् स्वार्था" करते हैं ।

आरोप–अध्यवसान के द्वारा प्रत्येक लक्षणा दो प्रकार होती है । "ताः" शब्द से पूर्वोक्त चार प्रकार लक्षणा को जानना होगा । शब्द के द्वारा गृहीत मुख्यार्थ लक्ष्यार्थ का अभेद ज्ञान जनक ही

**"व्यङ्गचस्य गूढ़ागूढ़त्वाद् द्विधा स्युः फल–लक्षणा"।**

**प्रयोजने या अष्टभेदा लक्षणा स्ताः प्रयोजनरूपस्य गूढ़ागूढ़तया प्रत्येकं द्विधा भूत्वा षोड़शभेदाः। तत्र गूढ़ो काव्यार्थभावना-परिपक्वबुद्धिविभव-मात्रवेद्यः। यथा—'उपकृतं बहु तत्रेति।' अगूढ़ोऽतिस्पष्टतया सर्वजनवेद्यः– यथा, 'उपदिशति गोपिकानां यौवनमद एव ललितानि।' अत्रोपदिशत्यनेन**

---

सारोपा लक्षणा है, शब्द के द्वारा अगृहीत मुख्यार्थ लक्ष्यार्थ का अभेद ज्ञान जनक ही साध्यवसाना है। रूढ़ि में उपादान लक्षणा सारोपा का उदाहरण--पुरुषो श्यामो गायति" यहाँ श्याम शब्द से श्याम गुणवान् पुरुष का बोध होता है, वह अनिगीर्ण अतिरस्कृत स्वरूप है, स्वसमवेतगुणतादात्म्य सम्बन्ध से प्रतीति होती है। प्रयोजन में उपादान लक्षणा सारोपा का उदाहरण–"एताः यष्टयः प्रविशन्ति' यहाँ सर्वनाम प्रयोग के द्वारा यष्टि धारी गोपगण का निर्देश होने से सारोपा हुई है। रूढ़ि में लक्षणलक्षणा सारोपा का दृष्टान्त-शूरसेना पुरुषाः हरिं कीर्त्तयन्ति' यहाँ शूरसेन एवं पुरुष का आधार आधेय-भाव सम्बन्ध है। ब्राह्मणोऽपि तक्षासौ" यहाँ तात्कर्म्म लक्षण सम्बन्ध है। विष्णु के लिए "यज्ञोऽयं विष्णुः" यहाँ तादर्थ्य लक्षण सम्बन्ध है। इस प्रकार अन्यत्र भी जानना होगा।

निगीर्ण का (विषय तिरस्कृत का) अन्य के साथ तादात्म्य प्रतीति कराने वाली लक्षणा साध्यवसाना है, इस का उदाहरण, पूर्वोक्त चार भेदों से संग्रह करना होगा।

आठ प्रकार लक्षणा का विभाग पुनर्वार प्रकार से करते हैं। ताः–पूर्वोक्त आठ प्रकार लक्षणा, सादृश्य भिन्न अपर सम्ब्रन्ध कार्य्य कारण भावादि जिस में उपचार का मिश्रण नहीं हैं, वे शुद्ध होते हैं, इसके उदाहरण-पूर्वोक्त उदाहरण ही है, रूढ़ि में उपादान लक्षणा सारोपा गौणी का उदाहरण—"एतानि तैलानि श्रीकृष्णस्य हेमन्त-सुखानि" यह सब तेल हेमन्त काल में श्रीकृष्ण के सुखकर होते हैं, यहाँ तेल शब्द से तिल से उत्पन्न तेल का बोध मुख्यार्थ से होता है, उस अर्थ के साथ ही सरसों का तेल का भी बोध उससे होता है।

'आविष्करोतीति लक्ष्यते । तदतिशयश्चाभिधेयवत् स्फुटं प्रतीयते ।

**'धर्मिधर्मगतत्वेन फलस्यैता अपि द्विधा ।**

एता अनन्तरोक्ताः षोड़शभेदलक्षणाः । फलस्य धर्मिगतत्वेन धर्म्मगतत्वेन च द्विधा भूत्वा द्वात्रिंशद्भेदाः । क्रमेणोदाहरन्ति—

---

प्रयोजन में उपादान लक्षणा सारोपा गौणी का उदाहरण राजकुमारक सदृशेषु गोप कुमारेषु गच्छत्सु-'एते राजकुमारा गच्छन्तीति" रूढ़ि में उपादान लक्षणा साध्यवसाना गौणी का उदाहरण-तैलानि श्रीकृष्णस्य हेमन्त सुखानि" प्रयोजन में उपादान लक्षणा साध्यवसाना गौणी का उदाहरण—'राजकुमारा गच्छन्ति' रूढ़ि में लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी का दृष्टान्त-श्रीकृष्णोदैत्यकण्टकं शोधयति । रूढ़ि में लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी-श्रीकृष्णः कण्टकं शोधयति । प्रयोजन में–कृष्णादन्यं गौः स्तौति । यहाँपर कुछ व्यक्ति का मत है—जाड्यमान्द्यादि स्वार्थ सहचारि गुण समूह का बोध लक्षणा से होता है । वे सब ही निमित्त बनते हैं, यदि गौ वाहीकः शब्द उच्चारित हो तो । इस प्रकार कथन अयुक्त है, गौ शब्द से सङ्केत के बिना वाहीकार्थ का बोध नहीं होता है । गो शब्दार्थ मात्र का बोध होता है, एकबार उच्चारित होकर अभिधा वृत्ति विरत हो जाती है, विरत होने से पुनरुत्थान नहीं होता है । अन्य का मत है—गो शब्द से वाहीकार्थ का बोध नहीं होता है, किन्तु स्वार्थ सहचारि गुण साजात्य से वाहीकगत गुण सूचित होता है, इस प्रकार कथन को भी लोक नहीं मानते हैं । पूछते हैं, गो शब्द से वाहीकार्थ की प्रतीति होती है, अथवा नहीं ? यदि कहो, प्रतीति होती हैं, तो गो शब्द से अथवा लक्षणा से ? गुण से अविनाभाव के द्वारा ? प्रथम कथन ठीक नहीं होगा, वाहीकार्थ में गो शब्दका सङ्केत नहीं है, द्वितीयपक्ष भी असङ्गत है, अविनाभाव से प्राप्त अर्थ का प्रवेश शब्दान्वय में नहीं है । शाब्दी आकाङ्क्षा की पूर्त्ति शब्द से ही होती है । प्रथम के दो रूप होने से "नवा" यह तृतीय कल्प का कथन भी असङ्गत होगा । यदि गो शब्द से वाहीकार्थ की प्रतीति

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोद-सुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढ़ं कठोर-हृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥

नहीं होती है, तब उसका वाहीक शब्द का सामानाधिकरण्य भी नहीं होगा। अतः यहाँ गो शब्द का अन्वय वाहीक शब्द के साथ मुख्य वृत्ति से न होने से अज्ञत्वादि का साधर्म्य से वाहीकार्थ की सूचना होती है। वाहीक शब्द का भी प्रयोजन है–अतिशय अज्ञता को प्रकट करना गुण के योग से यह गौणी कहलाती है, प्रथम, उपचार के अमिश्रण से शुद्धा होती है, उपचार उसे कहते हैं-अत्यन्त पृथक् दोनों पदार्थ में अतिशय सादृश्य की महिमा से भेद प्रतीति को स्थगित कर देना है। जिस प्रकार, अग्नि मानवक में होता है; पीत पट में अत्यन्त भेद प्रतीति नहीं होती है। अतः ये इन सब स्थल में शुद्धा लक्षणा होती है। व्यङ्ग गूढ़ एवं अगूढ़ होने से फल लक्षणा भी दो प्रकार की होती है। प्रयोजन में अष्ट भेद लक्षणा की बात कही गई है, वह भी गूढ़ अगूढ़ भेद से प्रयोजन दो प्रकार होने से षोड़श प्रकार भेद होते हैं, जिस का ज्ञान–काव्यार्थ भावना परिपक्व बुद्धि बालेका ही होता है, वह गूढ़ है। यथा–"उपकृतं बहु तत्र" यहाँ उपकार का अपकार अर्थ होता है। अगूढ़–अतिस्पष्ट होने से सकलजन उस को जान सकते हैं। यथा–"उपदिशति गोपिकानां यौवनमद एव ललितानि" यहाँ उपदिशति शब्द से लक्षणा द्वारा 'आविष्करोति' अर्थ होता है, अतिशयता का बोध अभिधेय के समान ही शब्द श्रवण मात्र से ही होता है।

उक्त फल लक्षणा भी धर्म धर्मि भेद से दो प्रकार हैं, एताः–षोड़श प्रकार भेद प्राप्त लक्षणा, फल,–धर्मिगत, एवं धर्मगत होने पर दो प्रकार से उक्त षोड़श प्रकार लक्षणा द्वात्रिंश प्रकार-३२ प्रकार है, क्रम से उदाहरण इस प्रकार है–

**सीता विरहार्त्त रामचन्द्र की उक्ति यह है–**

गगन, स्निग्धश्यामल कान्ति मेघ से व्याप्तहै, और वकपङ्क्ति उड़ती

अत्रात्यन्तदुःख-सहिष्णुरूपे रामे धर्मिणि लक्ष्ये तस्यैवातिशयः प्रयोजनं। 'यमुनायां घोषः' इत्यत्र तटे लक्ष्ये शीतत्व-रूपधर्म्मातिशयः फलं।

**तदेवं लक्षणाभेदा श्चत्वारिंशन्मता बुधैः ॥**

---

रहती है, जल बिन्दु वाहिनी समीरण प्रवाहित हो रही है। मेघ को देखकर उल्लास से मयूरगण नृत्य कर रहे हैं, यह सब उद्दीपन विभाव होने पर भी मैं कठोर हृदय राम हूँ, सब कुछ सहन करने में समर्थ हूँ। किन्तु वैदेही-सीता कोमल अन्तः करणा है, यह सब देख कर वह अधीर होगी। 'हहा,'' यह महाविषाद का सूचक है। हा देवि ! सीते ! धैर्य्य धारण करो, यहाँपर अत्यन्त दुःख सहिष्णु राम धर्मी है, लक्षणा के द्वारा ही धर्मी राममें अत्यन्त दुःखसहिष्णुता का बोध होता है, यह ही प्रयोजन है।

धर्मिगत फल का उदाहरण प्रस्तुत करके धर्मगत का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं, 'यमुनायां घोषः' यहाँ तट लक्ष्य है, और इस प्रकार कथन का प्रयोजन ही है,आभीर पल्ली में शीतत्व पावनत्व को सूचित करना। पण्डितगण लक्षणा 'चालीस प्रकार' भेद से मानते हैं, रूढ़ि में आठ,, प्रयोजन में बत्तिश ३२ योग से भेद ४० प्रकार है। पदगत एवं वाक्यगत होने से उक्त ४० प्रकार लक्षणा अस्सी प्रकार की होती है।

**अशीति प्रकार—**

| **नामानि** | **उदाहरणानि** |
|---|---|
| १ रूढ़ौ उपादानलक्षणा सारोपा शुद्धा— | पुरुषः श्यामोगायति |
| २ रूढ़ौ उपादानलक्षणा साध्यवसाना शुद्धा— | श्यामो गायति |
| ३ रूढ़ौ लक्षणलक्षणा सारोपा शुद्धा- | शूरसेनाः पुरुषाः हरिं कीर्त्तयन्ति |
| ४ रूढ़ौ लक्षणलक्षणासाध्यवसाना शुद्धा— | श्रीकृष्ण आयु र्गोपीनाम् |
| ५ रूढ़ौ उपादानलक्षणा सारोपा गौणी- | एतानि तैलानि श्रीकृष्णस्य हेमन्तसुखानि |
| ६ रूढ़ौ उपादान लक्षणासाध्यवसाना गौणी— | तैलानि श्रीकृष्णस्य हेमन्तसुखानि |

रूढ़ावष्टौ, फले द्वात्रिंशदिति चत्वारिंशल्लक्षणा भेदाः ॥

**किञ्च—पदवाक्यगतत्वेन प्रत्येकं ता अपि द्विधा ॥**

ता अनन्तरोक्ताः । तत्र पदगतत्वेन यथा—यमुनायां घोषः । वाक्य-गतत्वेन यथा—'उपकृतं बहु तत्रेति' । एवमशीतिप्रकारा लक्षणाः ॥४॥

# अथ व्यञ्जना ।

**विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यतेऽपरः ।**
**सा वृत्ति र्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ।**

---

७ रूढ़ौ लक्षणलक्षणासारोपा गौणी—श्रीकृष्णदैत्यकण्टकंशोधयति
८ रूढ़ौ लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी–श्रीकृष्णकण्टकं शोधयति

**"इमा एवाष्टौ केवलरूढ़िमूलाः"**

**नामानि** **उदाहरणानि**

१ प्रयोजने उपादान लक्षणा सारोपा शुद्धा-एताः यष्टयः प्रविशन्ति ।
२ प्रयोजने उपादान लक्षणा साध्यवसाना—यष्टयः प्रविशन्ति
३ प्रयोजने लक्षणलक्षणा सारोपा शुद्धा—श्रीकृष्ण आयुर्गोपीनां
४ प्रयोजने लक्षणलक्षणा साध्यवसाना शुद्धा—आयुः पिबति
५ प्रयोजने उपादान लक्षणा सारोपा गौणी-एते राज कुमाराः गच्छन्ति
६ प्रयोजने उपादान लक्षणा साध्यवसाना गौणी–राज कुमारा गच्छन्ति
७ प्रयोजने लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी—गौ र्वाहिकः'
८ प्रयोजने लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी--कृष्णादन्यं गौः स्तौति

**एता अष्टौ प्रयोजनमूला लक्षणा**

गूढ़ एवं अगूढ़ प्रयोजन होने से (उपकृतं बहु तत्र" अगूढ़-उपदिशति गोपिकानां यौवनमद एव ललितानि) प्रत्येक दो दो प्रकार होकर १६ प्रकार हैं, धर्मीगत (रामोऽस्मि सर्वं सहे) धर्मवृत्ति होने से (यमुनायां घोषः) प्रत्येक दो दो प्रकार होकर द्वात्रिंशत् प्रकार हैं, पूर्वोक्त रूढ़िमूला के साथ मिलकर चत्वारिंशत् प्रकार हैं, प्रत्येक पद वृत्ति, वाक्य वृत्ति (यमुनायां घोषः) (उपकृतं बहुतत्र) के द्वारा दो दो प्रकार से अशीति प्रकार लक्षणा होती है ॥४॥

शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव इति नयेनाभिधालक्षणा तात्पर्य्याख्यासु तिसृषु वृत्तिषु स्वं स्वमर्थं बोधयित्वा उपक्षीणासु ययान्योऽर्थो बोध्यते, सा शब्दस्यार्थस्य प्रकृति-प्रत्ययादेश्च वृत्ति र्व्यञ्जन ध्वननगमन-प्रत्यायनादिव्यपदेश-विषया व्यञ्जना नाम। तत्र तात्पर्य्याख्या वृत्ति र्नाम वाक्यस्य शक्तिरिति व्यक्तीकरिष्यते। तत्र—

**अभिधा–लक्षणामूला शब्दस्य व्यञ्जना द्विधा।**

अभिधामूलामाह—**अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यै र्नियन्त्रिते।**

**एकत्रार्थेऽन्यधीहेतु र्व्यञ्जना साभिधाश्रया॥**

---

## ❀ व्यञ्जना ❀

अभिधा लक्षणादिवृत्ति विरत होने पर जिस वृत्ति से अन्य अर्थ का बोध होता है, उस वृत्ति को व्यञ्जना कहते हैं, यह व्यञ्जना शब्द एवं अर्थादि की होती है, शब्द बुद्धि कर्म विरत होकर व्यापार हीन होते हैं, इस नियम से अभिधा लक्षणा तात्पर्य नामिका वृत्ति निज निज अर्थ को सूचित करके उपक्षीण होने पर जिस वृत्ति से अन्य अर्थ का बोध होता है, वह शब्द अर्थ प्रकृति प्रत्ययादि की वृत्ति है, उसको व्यञ्जन ध्वनन गमन प्रत्यायनादि शब्द से कहते हैं, वह व्यञ्जना है। उस में तात्पर्य्यनामिका वृत्ति है, जिस को वाक्य की शक्ति कहते हैं उसका विवरण आगे कहेंगे।

शब्द की अभिधामूला लक्षणामूला दो प्रकार व्यञ्जना है। अभिधामूला व्यञ्जना को कहते हैं, जिस शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, संयोगादि के द्वारा जब तक अर्थ को नियन्त्रित कर दिया जाताहै, एवं अन्य अर्थ का भी बोध होता है-तब उसे अभिधामूला व्यञ्जना कहते हैं। आदि शब्द से विप्रयोगादि को जानना होगा। कहागया है–१–संयोग २–विप्रयोग ३–साहचर्य ४–विरोधिता ५–अर्थ ६–प्रकरण ७–लिङ्ग (असाधारण धर्म) ८–सन्निधि (सामानाधिकरण्य) ९–सामर्थ्य १०–औचिती ११–देश १२–काल १३–व्यक्ति(पुंस्त्वादि) १४–स्वरादि, शब्दार्थ का अनवच्छेद से अनिर्णय से विशेष अर्थ का बोधक होते हैं।

आदिशब्दाद् विप्रयोगादयः । उक्तं हि—

१ २ ३ ४
संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्य्यं विरोधिता ।
५ ६ ७ ८
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं * शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
९ १० ११ १२ १३ १४
सामर्थ्य मौचिती देशः कालो व्यक्ति * स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे * विशेष–स्मृतिहेतवः ॥

---

१ "सशङ्खचक्रो हरिः" यहाँ शङ्खचक्र के संयोग से हरिशब्द श्रीविष्णु का बोधक होता है। २-"अशङ्खचक्रो हरिः" यहाँ शङ्ख-चक्र का वियोग से भी हरि शब्द विष्णु का बोधक है।३-"भीमार्जुनौ" यहाँ अर्जुन-पार्थ है। ४—"कर्णार्जुनौ" यहाँ कर्ण:-सूतपुत्र है। ५-"स्थाणुं वन्दे" यहाँ स्थाणु शब्द से शिव का बोध होता है। ६—"सर्वं जानाति देवः"। यहाँ श्रीकृष्ण के प्रति निवेदन करने से देव शब्द का अर्थ भवान् होता है। ७—"कुपितोमकरध्वजः" यहाँ मकरध्वज-कामदेव का बोधक है। ८—"देवः पुरारिः" यहां देव-शिव है। ९—"वृन्दाबनेऽस्मिन् मधुनामत्तः पिकः" यहाँ मधु-वसन्त है। १०--"यातु वो दयिता मुखम्" श्रीकृष्ण के प्रति दूती के वचन से मुख शब्द से साम्मुख्य का बोध होता है। ११ "विहरति वृन्दाबने विधुः" यहाँ विधु श्रीकृष्ण है। १२—"जयन्त्यां हरि राविरासीत्" यहाँ हरि श्रीकृष्ण हैं। १३—"भाति रथाङ्ग" इस में ब्रह्म लिङ्ग से रथाङ्ग का अर्थ चक्र होता है। १४—वेद में ही स्वर भेद से अर्थ भेद होता है, काव्य में नहीं, अतः उसका उदाहरण नहीं दिया गया। कुछ व्यक्ति इस कथन को नहीं मानते हैं, उनका कहना है-उदात्तादि

---

* लिङ्गं असाधारणो धर्म्मः; सन्निधिः सामानाधिकरण्यं
* व्यक्तिः पुंस्त्वादयः * अनवच्छेदे अनिर्णये ।

१। 'सशङ्खचक्रो हरिः' इत्यत्र शङ्खचक्रसंयोगेन हरि शब्दो विष्णु मेवाभिधत्ते। २। 'अशङ्खचक्रो हरिः' इत्यत्र तद्वियोगेन तमेव। ३। 'भीमार्ज्जुनौ' इति अर्ज्जुनः पार्थः। ४। 'कर्णार्ज्जुनौ' इत्यत्र कर्णः सूतपुत्रः। ५। 'स्थाणुं वन्दे' इत्यत्र स्थाणुः शिवः। ६। 'सर्व्वं जानाति देवः' इत्यत्र श्रीकृष्णं प्रति निवेदने देवो भवान्। ७। 'कुपितो मकरध्वज' इत्यत्र मकरध्वजः कामः ८। 'देवः पुरारि' रित्यत्र देवः शिवः। ९। 'वृन्दावनेऽस्मिन् मधुना मत्तः पिक' इति मधु र्वसन्तः। १०। 'यातु वो दयिता मुखमिति' श्रीकृष्णं प्रति दूतीवाक्ये मुखं साम्मुख्यं। ११। 'विहरति वृन्दाबने विधु' रिति विधुः श्रीकृष्णः। १२। 'जयन्त्यां हरिराविरासीदिति' हरिः श्रीकृष्णः। १३। 'भाति रथाङ्गमिति' नपुंसकव्यक्त्या रथाङ्गं चक्रं। १४। स्वरस्तु वेद एव विशेष-प्रतीतिकृत्, न काव्य इति तस्य विषये नोदाहृतं। इदञ्च केऽप्यसहमाना आहुः—"स्वरोऽपि काक्वादिरूपः काव्ये विशेषप्रतीतिकृदेव। उदात्तादिरूपोऽपि मुनेः पादगुणोक्ति-दिशा शृङ्गारादि रसविशेषप्रतीतिकृदेवेति, एतद् विषये उदाहरणमुचितमेवेति।" तन्न, तथाहि काक्कादयः उदात्तादयो वा व्यङ्ग्य-

---

स्वर से अर्थ विशेष की प्रतीति होतीहै, अतएव स्वरादि का उदाहरण प्रस्तुत करना उचित है। इस प्रकार कथन ठीक नहीं है, व्यङ्ग्यरूप विशेष अर्थ का बोधक काक्वा है, अथवा उदात्तादि है ? यह विशेष क्या अनेकार्थ वाचक शब्द का एकार्थ वाचक रूप में नियन्त्रण करना है ? और भी अनेकार्थ वाचक शब्द का अर्थ नियामक प्रकरणादि उपस्थित न होने पर अनियन्त्रित अवस्था में अर्थ द्वय का बोध होने लगेगा ? उसका नियमन क्या स्वर विशेष के द्वारा होता है ? यदि ऐसा हो, तब उक्त स्थल में श्लेष का स्वीकार नहीं होगा। किन्तु वैसा नहीं होता है, श्लेष निरूपण प्रस्ताव में कहा गया है--काव्य मार्ग में स्वर को नहीं मानते हैं, इस प्रकार नियम है, इस लिए उपजीव्य मान्यजनों के व्याख्यान में कटाक्ष करना उचित नहीं है।

आदि शब्द से "एतावन् मात्र स्तनी" यहाँ हस्त चेष्टादि से कमल कोरक के समान स्तनादि का बोध होता है। इस प्रकार अभिधा वृत्ति के द्वारा एक अर्थ में नियन्त्रित होने पर शब्द से अन्य

रूपमेव विशेषं प्रत्याययन्ति; न खलु प्रकृतोक्तमनेकार्थशब्दस्यैकार्थ नियन्त्रणरूपं विशेषं। किञ्च, यदि यत्र क्वचिदनेकार्थ-शब्दानां प्रकरणादिनियमाभावाद-नियन्त्रितयो र्द्वयोरप्यर्थयोरनुरूपं स्वर-वशेन नियमनं वाच्यं, तदा तथा-विधस्थले श्लेषानङ्गीकारप्रसङ्गः। न च तथा, अतएवाहुः—श्लेषनिरूपण-प्रस्तावे 'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते' इति च नय इत्यलमुपजीव्यानां मान्यानां व्याख्यानेषु- कटाक्षनिक्षेपेण। आदिशब्दादेतावन्मात्रस्तनी' त्यादौ हस्तादि-चेष्टादिभिः स्तनादीनां कमलकोरकाद्याकारत्वं। एवमेकस्मिन्नर्थे अभिधया नियन्त्रिते या शब्दस्यान्यार्थबुद्धिहेतुः, शक्ति सा अभिधामूला व्यञ्जना। यथा श्रीगोपालचम्पूमनु—

वनरुचिरुचिरः श्रीमान् मदनविनोदाय नुन्नगोपिकः।
अभितः सुरभितदेशः सुमुखि विलोकस्व माधवः स्फुरति ॥

अत्र प्रकरणेनाभिधया माधवशब्दस्य वसन्तरूपेऽर्थे नियन्त्रिते व्यञ्जनयैव श्रीकृष्णरूपोऽर्थो बोध्यते। एवमन्यत्र ॥५॥

लक्षणामूलामाहः—

**लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनं।**
**यया प्रत्याय्यते सा स्याद् व्यञ्जना लक्षणाश्रया ॥**

---

प्रकार अर्थ जिस से होता है, उस को अभिधा मूलाव्यञ्जना कहते हैं। इसका उदाहरण श्रीगोपाल चम्पू में इस प्रकारहै, हे सुमुखि ! देखो ! यहाँ माधव का आगमन हुआ है। बन की सुन्दर शोभा से सुशोभित स्वयं भी अतिशय सुन्दर होकर मदन विनोद के लिए गोपिका को प्रेरित करते हैं, एवं सकल देश सौरभ से पूर्ण हो गए हैं।

यहाँ प्रकरण से अभिधा वृत्ति के द्वारा माधव शब्द वसन्त रूप अर्थ में नियन्त्रित होने पर व्यञ्जना वृत्ति से ही माधव शब्द श्री-कृष्ण रूप अर्थ का बोधक हुआ है। इस प्रकार अन्यत्र भी जानना होगा ॥५॥

लक्षणा मूला व्यञ्जना को कहते हैं—लक्षणा की उपासना जिस के लिए की जाती है, वह ही प्रयोजन है, जिस से प्रतीति होती है, वह व्यञ्जना लक्षणाश्रया कहलाती है। यमुनायां घोषः। इत्यादि

'यमुनायां घोष' इत्यादौ जलमयाद्यर्थबोधनादभिधायां तटाद्यर्थ-बोधनाच्च लक्षणायां विरतायां यया शीतत्व-पावनत्वातिशयादि बोध्यते, सा लक्षणामूला व्यञ्जना ।

**वक्तृबोद्धव्य-वाक्यानामन्यसन्निधि- वाच्ययोः ।**
**प्रस्तावदेशकालानां काको श्चेष्टादिकस्य च ।**
**वैशिष्टयादन्यमर्थं यो बोधयेत् सार्थसम्भवा ।।**

व्यञ्जनेति सम्बध्यते । तत्र वक्तृवाक्यप्रस्तावदेशकालवैशिष्टेय, यथा-
कालो मधुः कुपित एव च पुष्पधन्वा धीरा वहन्ति रतिखेदहराः समीराः ।
केलीवनीयमपि वञ्जुलकुञ्जमञ्जु दूरे हरिः कथय किङ्करणीयमद्य ।।

अत्रैतं देशं प्रति प्रच्छन्नं हरि स्त्वया प्रेष्यतामिति सखीं प्रति कयाचिद् द्योत्यते ।

---

स्थल में यमुना शब्द से जलमय नदी का बोध होने से अभिधा विरत हो जाती है, लक्षणा के द्वारा तटादि अर्थ का बोध होकर लक्षणा विरत होने पर जिस से शीतत्व पावनत्वातिशयादि का बोध होता है वह लक्षणा मूला व्यञ्जना है। शाब्दी व्यञ्जना के बाद आर्थी व्यञ्जना को कहते हैं—वक्ता-उच्चारण कर्त्ता, बोद्धव्य श्रोता,वाक्य—वक्ताका कथन, उन सब के वैशिष्ट्य से अन्य सन्निधि, योग्यजन के सान्निध्य, वाच्य—अभिप्रेतार्थ, इसे एवं व्यङ्ग का भी संग्रह हुआ। इन दोनों के वैशिष्ट्य से--,प्रस्ताव, प्रकरण, देश स्थान, काल-समय,-इन सब के वैशिष्ट्य से काकु,-विकृत स्वरका, चेष्टादि का अङ्ग भङ्गयादिका, आदि शब्द से निश्चेष्टादि का वैशिष्ट्य से साधारण रूप से यत् किञ्चिन् विलक्षणता के कारण जो व्यञ्जना उपस्थित अर्थ से अन्य अर्थ को सूचित करती है, वह अर्थ सम्भवा आर्थी व्यञ्जना होगी। अर्थ शब्द से तात्पर्य को जानना होगा, अतः तात्पर्य गत होने से यह आर्थी व्यञ्जना कहलाती है।

व्यञ्जना शब्द के साथ अन्वय है। उस में वक्तृ वाक्य प्रस्ताव देशकाल वैशिष्ट्य का उदाहरण यथा—वसन्तकाल, मदनदेव भी कुपित हैं, रतिखेदहरणकारी समीरण भी धीरे धीरे प्रवाहित हो

**बोद्धव्य-वैशिष्ट्येच यथा—**

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
सत्यं जल्पसि गोपिबन्धुजनतावर्ष्विक्रियाद्यञ्चिते
कृष्णां स्नातुमितो गतासि न पुनस्तं गोपिका-कामुकं ॥

अत्र तदन्तिकमेव गतासीति विपरीत-लक्षणया लक्ष्यं । तस्य च रन्तुमिति व्यङ्ग्यं प्रतिपाद्य गोपी-वैशिष्ट्याद् बोध्यते ।

**अन्यसन्निधिवैशिष्टेच यथा—**

आलि पश्य परितः शिखिवृन्दं भीतिरीतिरहितं नटदस्ति ।
वाढ़मस्य विहरन्नधिमध्यं नव्यनीरदवरः प्रतिभाति ॥

---

रही है, उद्यान भी अशोकशाखा के द्वारा मनोरम हुआ है, इस समय हरि सन्निकट में उपस्थित नहीं हैं, सखि ! बोली ! इस समय करना क्या है ? एक सखी अपनी सखी को बोलती है,इस स्थान में गोपन में तुम हरि को भेज दो । यह अर्थ व्यञ्जना से ही हुआ ।

बोद्धव्य वैशिष्ट्य का उदाहरण—गोपी सखी को उपहास कर कहती है, तुम्हारे वक्षोज से अङ्ग रागचन्दन मिट गया है, अधर भी रक्तिमाविहीन है, नेत्र से अञ्जन भी विदूरित हो गया है, तुम्हारे तनु भी पुलकित है, गोपि बन्धुजनता वचन चतुरे ! तुम सत्य कहरही हो, यहाँ से तो तुम जमुना नहाने गई थी, गोपिका कामुक के पास नहीं गई । यहाँ गोपिका कामुक कृष्ण के पास ही गई थी, विपरीत लक्षणा से यह बोध होता है, यह तो लक्ष्य है, रमण के लिए गई थी, यह अर्थ व्यङ्ग है, गोपी के कथोपकथन वैशिष्ट्य से बोध होता है ।

अन्य सन्निधि वैशिष्ट्य का उदाहरण—हे सखि ! देखो, भीतिरीति रहित होकर शिखिवृन्द नृत्य कर रहे हैं, इससे उत्तम रूप से विदित होता है कि नवीन नीरद सुन्दर यहाँ विराजित है, यहाँ शिखिवृन्द निर्भय होने से विश्वस्त स्थान है, उस से विजनता सूचित होती है, अतः नव्यनीरदवर रूप से सूचित श्रीकृष्ण का निगूढ़ावस्थान योग्य यह स्थान है, यह आप की आकांक्षा के अनुरूप

अत्र शिखिवृन्दस्य निर्भयत्वेन विश्वस्तत्वं, तेनास्य विजनत्वं । अतो नव्यनीरदवरत्वेन सूचितस्य श्रीकृष्णस्य भवदाकाङ्क्षया निगूढ़ावस्थानमिदं स्थानमिति व्यञ्जयत्या कयापि स्वसखीं पुष्पाद्याहरणच्छलेन नीत्वा परिहस्यते। अत्रैव स्थाननिर्जनत्वरूपं व्यङ्ग्यार्थवैशिष्ट्ये प्रयोजकं।

'भिन्नकण्ठध्वनि र्धीरैः काकुरित्यभिधीयते ।'

इत्युक्तप्रकारायाः काको र्भेदा आकरेभ्यो ज्ञातव्याः । तद्वैशिष्ट्ये यथा--

यद्ब्रह्मकुलरक्षणतृष्णग्दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुं ।
अलिकुलकोकिल ललितेनैष्यति सखि सुरभिसमयेऽसौ ।।

अत्र नैष्यत्यपितु एष्यत्येवेति काक्वा व्यज्यते ।

**चेष्टावैशिष्ट्ये यथा–**

सङ्केतकालमनसं हरिं ज्ञात्वा विदग्धया ।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितं ।।

---

है । इस प्रकार सूचित कर सखी पुष्पादि चयन के छल से निज सखी को पुष्पोद्यान में लाकर परिहास करती है, यह ही स्थान निर्जन रूप है, यह व्यङ्ग्यार्थ वैशिष्ट्य में प्रयोजक है ।

धीर व्यक्ति गण भिन्न कण्ठध्वनि को काकु कहते हैं, उक्त प्रकार काकु के भेद समूह को भरतमुनि कृत शास्त्र से जानना आवश्यक है। हे सखि ! ब्रह्मकुलरक्षणेच्छु कृष्ण दूरतर देश को जाने के लिए उद्यत हैं, अलिकुल-कोकिल के द्वारा मनोरम इस वसन्त काल में वह कृष्ण क्या नहीं आयेंगे ? यहाँ नेष्यति, नहीं आयेंगे। इस से एष्यत्येवेति आयेंगे ही–यह अर्थ काक्वा से विदित हुआ। चेष्टा वैशिष्ट्य का उदाहरण—सुचतुरा गोपी से सङ्केत को प्रकट कर हस्तस्थित विलासोपकरण रूप पद्म को मुद्रित किया। सङ्केत काल सन्ध्या है, इसे व्यक्त करने के लिये पद्मनिमीलन चेष्टा के द्वारा गोपी स्वाभिप्राय को सूचित कर रही है, आदि शब्द से नेत्र विस्तार को जानना होगा। यहाँ नेत्रार्पित आकूत ही चेष्टा वैशिष्ट्य है, कारिकोक्त वक्तृादीनां वक्तृ प्रकृति के मध्य में व्यक्त एक एक, समस्त

अत्र सन्ध्या सङ्केतकाल इति पद्मनिमीलन-चेष्टया कयाचिद् द्योत्यते। एवं वक्त्रादीनां व्यस्तसमस्तादिवैशिष्टेच बोद्धव्यं।

**त्रैविध्यादियमर्थानां प्रत्येकं त्रिविधा मता।**

अर्थानां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यत्वेन त्रिरूपतया सर्व्वा अप्यनन्तरोक्ता व्यञ्जना स्त्रिविधा। तत्र वाच्यार्थेन व्यञ्जना यथा— कालो मधुः' इत्यादि। लक्ष्यार्थेन यथा—'निःशेषे'त्यादि। व्यङ्ग्यार्थेन यथा—'आलिपश्येत्यादि' प्रकृतिप्रत्ययादे र्व्यञ्जकत्वं प्रपञ्चयिष्यते।

**शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः।**
**एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता॥**

यतः शब्दो व्यञ्जकत्वेऽर्थान्तरमपेक्षते, अर्थोऽपि शब्दं। तदेकस्य व्यञ्जकत्वे अन्यस्य सहकारिताऽवश्यमङ्गीकार्य्या।

---

एक पद्यादि में मिलित कतिपयों के वैशिष्ट्य को जानना होगा।

'वाच्य लक्ष्य व्यङ्ग भेद से अर्थ भी तीन प्रकार होंगे। आर्थी व्यञ्जना एकएक भी तीन तीन प्रकार होगी। वाच्यार्थ से व्यञ्जना का उदाहरण—कालोमधुः, लक्ष्यार्थ का दृष्टान्त निःशेषच्युतचन्दनम्' व्यङ्गार्थ का दृष्टान्त आलि पश्य'' इत्यादि। प्रकृति प्रत्ययादि का व्यञ्जकत्व को आगे कहेंगे।

शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य होने से शब्द एवं अर्थ का,अर्थ प्रत्यायन में परस्पर की अपेक्षा परस्पर की रहती है, एक-व्यञ्जक होने पर अपर उसका सहकारी होता है,।

अभिधा लक्षणा व्यञ्जना रूपोपाधि वैशिष्टय से अभिधा लक्षणा व्यञ्जना के मध्य में एकएक विशेषण विशिष्ट है। अतः शब्द भी वाचक लक्षक व्यञ्जक भेद से त्रिविध है। अतएव व्यङ्गार्थ होने पर सर्वत्र ही व्यञ्जनादि के द्वारा साङ्कर्य्य होता है।

अभिधोपाधिक को वाचिक, लक्षणापाधिक को लक्षणा एवं व्यञ्जनोपाधिक को व्यञ्जक कहते हैं। और भी—पदार्थों का अन्वय बोध के लिए नैयायिकगण- तात्पर्य नामिका वृत्ति को

**अभिधादि त्रयोपाधिवैशिष्ट्यात्त्रिविधो मतः ।**

**शब्दोऽपि वाचक स्तद्वल्लक्षको व्यञ्जक स्तथा ॥**

अभिधोपाधिको वाचिकः । लक्षणोपाधिको लक्षकः । व्यञ्जनोपाधिको व्यञ्जकः । किञ्च —

**तात्पर्य्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वय-बोधने ।**

**तात्पर्य्यार्थं तदर्थञ्च वाक्यं तद्बोधकं परे ॥**

अभिधाया एकैकपदार्थ-बोधनेन विरमाद् वाक्यार्थरूपस्य पदार्थान्वयस्य बोधिका तात्पर्य्याख्या वृत्तिः । तदर्थश्च (१) तात्पर्य्यार्थः । तद्बोधकञ्च (२) वाक्यमिति अभिहितान्वयवादिनां (३) मतं ॥६॥

इति श्रीरसामृतशेषे द्वितीयः प्रकाशः ।

---

मानते हैं, तात्पर्य्यवृत्ति प्रतिपाद्य अर्थ ही तात्पर्यार्थ है, तात्पर्यार्थ बोधक वाक्य ही है, यह अभिधादि से भिन्न हैं ।

अभिधा, लक्षणा, एक पदार्थ बोधन के द्वारा विरत होती है, कारण शब्द बुद्धि कर्मणां विरम्य व्यापाराभावः यह नियम है । "घटं" कहने पर-घट शब्द से कम्बुग्रीवादिमत्व पदार्थ का बोध हुआ । अम् विभक्ति के द्वारा कर्मत्व का बोध हुआ । पश्चात् अभिधा विरता हुई । किन्तु घट में कर्मत्व की वृत्ति किस सम्बन्ध से होगी ? अतः तात्पर्य नामिका वृत्ति को मानना आवश्यक है, यह मत प्राचीन नैयायिक का है, वे अभिहितान्वयवादी होते हैं, नव्य नैयायिक गण तात्पर्य वृत्ति का भान संसर्ग मर्य्यादा से मानते हैं । अन्विताभिधानवादी मीमांसक गण कहते हैं—योग्यता से ही यथा सम्भव अन्वयापन्न पदार्थों का बोध होता है, अभिधा लक्षणा के द्वारा बोध होता है । अतः तात्पर्य नामिका वृत्ति को मानना ठीक नहीं है, मीमांसकमत ही ठीक है, इसको सूचित करने के लिए कारिका में 'परे' कहा हैं ॥६॥

**इति श्रीरसामृतशेषे द्वितीयः प्रकाशः ॥२॥**

---

१। तस्य वृत्तेरर्थश्च । २। गामानयेत्यादिरीत्या ।

३। पूर्वं त्वन्विताभिधानवादिनां मतमिति भावः ।

# ❀ तृतीयः प्रकाशः ❀

## [ ध्वनि-निर्णयः ]

अथ काव्यभेदमाह—

काव्यं ध्वनि र्गुणीभूतव्यङ्ग्यञ्चेति द्विधा मतं ।
तत्र-वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनि स्तत्काव्यमुत्तमम् ॥

वाच्यादधिकचमत्कारिणि व्यङ्ग्येऽर्थे ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या ध्वनि र्नामोत्तमं काव्यं ।

भेदौ ध्वनेरपि द्वावुदीरितौ लक्षणाभिधा-मूलौ ।
अविवक्षितवाच्योऽन्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च ॥

तत्राविवक्षितवाच्यो नाम लक्षणामूलो ध्वनिः । लक्षणामूलत्वादेवात्र वाच्यमविवक्षितं बाधित-स्वरूपम् । विवक्षितान्यपरवाच्य स्त्वभिधामूलः । अतएवात्र वाच्यं विवक्षितं । अन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठम् ।

अत्र हि वाच्यार्थः स्वरूपं प्रकाशयन्नेव व्यङ्ग्यार्थस्य प्रकाशकः । यथा प्रदीपो घटस्य । अभिधामूलस्य बहुविषयतया पश्चान्निर्द्देशः । अविवक्षित-वाच्यस्य भेदावाह—

---

# तृतीयः प्रकाशः

## [ ध्वनि निर्णयः ]

काव्य भेद को कहते हैं—काव्य दो प्रकार है—प्रथम-ध्वनि, द्वितीय,—गुणीभुत व्यङ्ग । जिस में वाच्यार्थ से अप्रधानीभूत व्यङ्ग व्यङ्गार्थ है, वह गुणीभूत व्यङ्ग है । उस में ध्वनि लक्षणा को कहते हैं—व्यङ्ग्ये—व्यङ्गार्थ में वाच्यार्थ से चमत्कारातिशय ध्वनि में होने से ध्वनि उत्तम काव्य है, गुणीभूत व्यङ्ग्य-निव्यङ्ग्यात्मक दो भेद की अपेक्षा उत्कृष्ट है । कारण वाच्यार्थ से अधिक चमत् कार पूर्ण अर्थ का प्रकाशक है । "ध्वन्यतेऽस्मिन्निति' व्युत्पत्ति से ध्वनि नामक उत्तम काव्य है ।

लक्षणामूलक, अभिधामूलक भेद से ध्वनि के दो भेद होते हैं ।

अर्थान्तरं संक्रमिते वाच्येऽत्यन्तं तिरस्कृते !
अविवक्षित-वाच्योऽपि ध्वनि द्वैंविध्यमृच्छति ॥

अविवक्षितवाच्यो नाम ध्वनि रर्थान्तर–संक्रमित–वाच्योऽत्यन्ततिरस्कृत-वाच्यश्चेति द्विविधः। यत्र स्वयमनुपयुज्यमानो मुख्यार्थः स्वविशेषरूपेऽर्थान्तरे परिणमति, तत्र मुख्यार्थस्य स्वविशेषरूपार्थान्तरसंक्रमितत्वादर्थान्तरसंक्रमित–वाच्यत्वं। यथा—

'कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्त्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥

---

एक का नाम—अविवक्षित वाच्य। यह लक्षणा मूलक है, इस में वाच्यार्थ विवक्षित नहीं है। द्वितीय—विवक्षित अन्यपर वाच्य यह अभिधा मूलक है, अभिधामूलक होने से अन्यपर—व्यङ्गार्थ बोधक—वाच्यार्थ भी इस में है।

अभिधामूलक ध्वनि में अभिधा के द्वारा बुद्धि में व्यङ्गार्थ प्रकाशित होता है, जिस प्रकार प्रदीप, अपने को एवं दूसरे को घट को प्रकाशित करता है। अभिधा मूलक ध्वनि अनेक प्रकार होने से उसका कथन पश्चात् होगा। अविवक्षित वाच्य के दो भेद होते हैं, वह इस प्रकारहै, अविवक्षित वाच्य नामक ध्वनि, अर्थान्तर संक्रमित वाच्य, अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य भेद से द्विविध है। अर्थान्तर संक्रमित वाच्य शब्द का अर्थ इस प्रकार है, जहाँ किसी बाधा से मुख्यार्थ का बोध नहीं होता है, किन्तु उपादान लक्षणा के द्वारा स्वविशेष रूप अर्थान्तर में परिणत होता है, वहाँ मुख्यार्थ का स्वविशेष रूप अर्थान्तर संक्रमित होने से अर्थान्तर संक्रमित वाच्य कहते हैं। उदाहरण—हरिण नयनीयों के उरुयुगल की तुलना त्रिभुवन की किसी भी वस्तु से नहीं हो सकती है, कदली कदली है, करभ-करभ है, करिराज कर करिराज कर ही है।

यहाँ द्वितीय कदल्यादि शब्द,-पुनरुक्त के भयसे कदली रूप अर्थ प्रकाशक नहीं हो सकता है, किन्तु वह जाड्यादि गुण विशिष्ट कदल्यादि रूप अर्थ का बोधक होता है। जाड्यादि-अतिशय अर्थ

अत्र द्वितीयकदल्यादिशब्दाः पौनरुक्त्यभिया सामान्यकदल्यादिरूपे मुख्यार्थे बाधिता जाड्यादिगुणविशिष्ट-कदल्यादिरूपमर्थं बोधयन्ति। जाड्याद्यतिशयश्च व्यङ्ग्यः। यत्र पुनः स्वार्थं सर्वथा परित्यजयन्नर्थान्तरे परिणमति, तत्र मुख्यार्थस्यात्यन्ततिरस्कृतत्वादत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वम्। यथा-

तासां कृष्णवियोगाग्निधूमै विश्वग्विनिःसृतैः।
वाष्पैरन्ध इवादर्श श्चन्द्रमा मन्दतां गतः॥

अत्रान्धशब्दो मुख्यार्थे बाधितोऽप्रकाशरूपमर्थं बोधयति। अप्रकाशातिशयश्च व्यङ्ग्यः। अन्धत्वाप्रकाशत्वयोः सामान्य-विशेषभावाभावान्नार्थान्तरसंक्रमित-वाच्यत्वं। यथा—

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणहो अज्ज मारिओ देण।
जउणाघट्टे तस्मि विब्भमभाअ कुड़ुङ्ग सीहेण॥※

---

ही व्यङ्ग है, जहाँ स्वार्थ का त्यागकर-अर्थान्तर में परिणत होता है, वहाँ मुख्यार्थ का अत्यन्त तिरस्कार होने से अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य होता है। उदाहरण—गोपियों का कृष्णवियोगानलधूम सर्वत्र व्याप्त होने पर वाष्प से अन्धदर्पण की भाँति चन्द्रमा भी निष्प्रभ हो गया। यहाँ अन्ध शब्द, से मुख्यार्थ का बोध नहीं होता है, अतः अन्ध शब्द का अप्रकाशरूप अर्थ होता है। व्यञ्जनावृत्ति से अप्रकाशाति शय अर्थ होताहै, अन्धत्व-अप्रकाशत्व का सामान्य-विशेष भाव न होने से अर्थान्तर संक्रमित वाच्य नहीं हुआ। उदाहरण—

संस्कृत—भ्रमधार्मिक विश्रब्धः सशुनकोऽद्यमारितस्तेन।
यमुनाघट्टे तस्मिन् विभ्रमभाजा कुड़ुङ्गसिहेन॥

यमुना के घाट में गोपियों के साथ विहार रत कृष्ण को एक भिक्षु ने देखा था, पुनर्बार वह भिक्षु वहाँपर न जाय, इस लिए भिक्षु को निषेध गोपी करती है, धार्मिक! तुम निर्भय होकर भ्रमण करो, कुत्ते का भय वहाँपर नहीं है, कुत्ते को विक्रमी कुञ्ज सिंहने मार डालाहै यहाँ विधान निषेध में पर्यवसान हुआ है। विपरीत लक्षणा की आशङ्का यहाँ नहीं है। जहाँ विधि एवं निषेध, निषेध एवं विधि में पर्यवसित होता है,वहाँपर ही उसका अवसर है। जहाँ प्रकरणादि

अत्र स्वेन सह तस्मिन् घट्टे विहरन्तं श्रीकृष्णं कदाचिद् दृष्टवान् भिक्षुः पुनस्तस्मिन् गच्छेदिति शङ्कया निषेधे पर्य्यवस्यतीति विपरीत लक्षणा-शङ्का तु न कार्य्या। यत्र खलु विधिनिषेधावुत्पद्यमानावेव निषेधविध्योः पर्य्यवस्यत स्तत्रैव तदवसरः। यत्र पुनः प्रकरणादि-पर्य्यालोचनया विधि-निषेधयो निषेध-विधी अवगम्येते, तत्र ध्वनित्वमेव। तदुक्तं—

**"क्वचिद् बाध्यतया ख्यातिः क्वचित् ख्यातस्य बाधनं।**
**पूर्वत्र लक्षणैव (१) स्यादुत्तरत्राभिधैव (२) तु॥"**

तत्राद्ये (३) मुख्यार्थस्यार्थान्तरे संक्रमणं प्रवेशः, न तु तिरोभावः। अतएवाजहत्स्वार्था लक्षणा। द्वितीये तु स्वार्थस्यात्यन्तं तिरस्कृतत्वाज्जहत् स्वार्था ॥१॥

---

की पर्यालोचना से विधि निषेध के निषेध विधि अर्थ होते हैं, वहाँ ध्वनि ही है। कहा है—किसी-प्रयोग में शब्द श्रवणमात्र से ही अनुपपन्न अन्वय की प्रतीति होती है, कुछ प्रयोग में शब्द श्रवणमात्र से अन्वय की प्रतीति होती है, शब्द का बाध ज्ञान, प्रकरणादि पर्यालोचना से ही पश्चात् बाध ज्ञान होता है। उक्त दोनों के मध्य में शब्द श्रवणसमकालीन—अन्वयबोधबाध ज्ञानस्थल में लक्षणैव-लक्षणामूलक ध्वनि ही होगी, लक्षणा को छोड़कर बोध होना सम्भव नहीं है, अतः लक्षणामूलक व्यञ्जना प्रतिपाद्य ध्वनि ही युक्तियुक्त है। उत्तरत्र-उपपन्न अन्वय बोध परकालीन बाध ज्ञान के स्थल में अभिधैव अभिधा मूलक ध्वनि ही होगी, अभिधा से ही अन्वय बोध होने पर लक्षणा करना ठीक नहीं है, अतः अभिधामूलक व्यञ्जना प्रतिपाद्य ध्वनि ही युक्ति युक्त है।

प्रथमस्थल में (लक्षणामूला व्यञ्जनास्थल में) मुख्यार्थ का अर्थान्तर में संक्रमण—प्रवेश है, तिरोभाव नहीं है। अतएव यह अजहत् स्वार्थ लक्षणा कहलाती है। द्वितीय स्थल में स्वार्थ अत्यन्त

---

(१) लक्षणामूला व्यञ्जना (२) व्यञ्जनात्मिकाभिधेत्यर्थः।
(३) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्ययो र्भेदमाह

**विवक्षिताभिधेयोऽपि (४) द्विभेदः प्रथमं मतः ।**
**असंलक्ष्यक्रमो यत्र व्यङ्ग्यो लक्ष्यक्रम स्तथा ॥**

विवक्षितान्यपरवाच्योऽपिध्वनिरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यश्चेति द्विविधः ।

**तत्राद्यो रसभावादिरेक एवात्र गण्यते ।**
**एकोऽपि भेदोऽनन्तत्वात् संख्येय स्तस्य नैव यत् ॥**

उक्तस्वरूपो रसभावादिरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः । यद्यपि 'वाक्यं रसात्मकं काव्य' मित्युक्ते रत्रैव काव्यत्वमायाति, तथापि परपरत्रापि यत् किञ्चिच्चमत्कारदर्शनाद् गौणकाव्यमस्यैवेति साध्वेव तल्लक्षणं । किञ्चात्र-व्यङ्ग्यप्रतीते विभावादि-प्रतीतिकारणकत्वात् क्रमोऽवश्यमस्ति । किन्तूत्पलपत्र-शतव्यति-भेदवल्लाघवान्न संलक्ष्यते । एषु ( रसभावादिषु) चैकस्याऽपि भेदस्यानन्तत्वात्

---

तिरस्कृत होने से जहत्स्वार्था होती है, व्यञ्जनात्मिका सिद्धा है । इस में अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य का भेद प्रदर्शित हुआ ॥१॥

लक्षणामूल ध्वनि का निरूपण करके सम्प्रति अभिधामूलध्वनि का निरूपण करते हैं, अभिधामूलध्वनि के प्रथम दो रूप हैं, एक असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग, द्वितीय-लक्ष्य क्रमव्यङ्ग । विवक्षित अभिधेय रूप ध्वनि में कार्यकारणादि के पौर्वापर्य्य क्रम का अनुभव नहीं होता है । लक्ष्य क्रमव्यङ्ग में लक्ष्य-अनुभवनीय क्रम कार्यकारणादि का पौर्वापर्य विदित है । विवक्षितअन्यपरवाच्य ध्वनि, असंलक्ष्य क्रमव्यङ्ग, एवं संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग रूप से द्विविध है । दोनों के मध्य में आद्य असंलक्ष्य क्रमव्यङ्ग्य-रसभावादि का एक प्रकार ही इस शास्त्र में मानतेहैं । आदिपद से रसाभास भावाभास सन्धि-शबल को भी जानना होगा । इसमें एक प्रकार-मानना क्यों हैं ? जितने रस भावादि होते हैं, उतने ही प्रकार होना आवश्यक है ? कहते हैं-एकोऽपि-रसभावादि के मध्य में एक शृङ्गार रस का सम्भोग

---

(४) अभिधामूलरूपः ।

संख्यातुमशक्यत्वादसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि र्नाम काव्यमेकभेदमेवोक्तं । तथा ह्येकस्यैव हि शृङ्गारस्यैकोऽपि सम्भोगरूपो भेदः परस्परालिङ्गनाधरचुम्बनादि-भेदात्प्रत्येकञ्चविभावादि वैचित्र्यात्संख्यातुमशक्यः, का गणना सर्वेषां॥२॥

**शब्दार्थोभयशक्त्युत्थे व्यङ्ग्येऽनुस्वान-सन्निभे * ।**
**ध्वनि र्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य स्त्रिविधः कथितो बुधैः ॥**

क्रमलक्ष्यत्वादेवानुरणनरूपो यो व्यङ्ग्य स्तस्य शब्दशक्त्युद्भवत्वेन, अर्थशक्त्युद्भवत्वेन, उभयशक्त्युद्भवत्वेन च त्रैविध्यात् संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नाम्नो ध्वनेः काव्यस्यापि त्रैविध्यं । तत्र—

**वस्त्वलङ्काररूपत्वाच्छब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ।**

अलङ्कारशब्दस्य पृथगुपादानात् अलङ्कार–व्यतिरिक्तं वस्तुमात्रं गृह्यते ।

---

नामक प्रकार अनन्त है, अर्थात् चुम्बनादि भेद से असीम है । अतः उसको संख्या के द्वारा सीमित करना सम्भव नहीं है । अन्य सब की बात तो क्या है । उक्त स्वरूप–रसभावादि–असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य होते हैं, अति द्रुत सम्पन्न होने से कमल शतपत्रबेध न्याय से पूर्वापर अनुसन्धान नहीं होता है ।

यद्यपि "वाक्यं रसात्मकं काव्यं"कथन में ही काव्यलक्षण की प्रसक्ति होती है, तथापि पर पर काव्य में चमत्कारातिशय होने से वह उत्तम काव्य होता है, ॥२॥

संलक्ष्य क्रमव्यङ्ग्यनामकध्वनि तीन प्रकार हैं, शब्दशक्त्युद्भव अर्थशक्त्युद्भव, एवं उभयशक्त्युद्भव । क्रम लक्ष्य होने से ही अनुरणन रूप जो व्यङ्ग्य है, उसके ही तीन भेद हैं, अनुस्वान सन्निभ शब्द का अर्थ प्रतिध्वनितुल्य है ॥ शब्दशक्त्युद्भवध्वनि के दो भेद हैं, व्यङ्ग्य वस्तु रूप होने से संलक्ष्य क्रमध्वनि द्विधा विभक्त होती है, शब्दशक्तिमूल वस्तुध्वनि, एवं शब्दशक्तिमूल अलङ्कार ध्वनि । उस में से वस्तुरूप शब्दशक्त्युद्भव व्यङ्ग्य का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—पथिक वेशधारी केशव को आते देखकर व्रजसुन्दरी

---

* प्रतिध्वनितुल्ये ।

तत्र वस्तुरूप-शब्दशक्त्युद्भवो व्यङ्ग्यो यथा—कदाचित् पथिकवेशं केशवमागतमुपलभ्य काचिद् व्रजसुभ्रुवो दूती सहासमाह—

पहिअ ण एत्थ सत्थर मत्थि मणं पत्थरत्थले गोष्ठे ।
उन्न अ पओहरं पेक्खिअ उण जइ वससि ता वससु ॥*

अत्र सत्थरादि-शब्दशक्त्या यद्युपभोगक्षमोऽसि, तदा वसस्वेति व्यज्यते ॥
अलङ्काररूपो यथा—

अखिलरसामृतमूर्त्तिः प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः ।
कलित-श्यामाललितो राधाप्रेयान् विधुर्जयति ॥

अत्रानभीष्टस्य चन्द्रस्य वर्णनमसम्बन्धं, मा प्रशांक्षीदिति श्रीकृष्णस्य अभीष्टस्य उपमात्वेन चन्द्रो व्यङ्ग्यः । यथा वा—

अमितः समितः प्राप्तै रुत्कर्षै र्यदुनन्दन ।
अहितः सहितः साधु यशोभिरसतामसि ॥

---

की दूती हँसकर बोली—

संस्कृत—पथिक ! नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले गोष्ठे ।
उन्नत पयोधरं प्रेक्ष्य पुनर्यदि वससि तद्वस ॥

हे पथिक ! प्रस्तर स्थल गोष्ठ में आसन नहीं है, उन्नत मेघ को देखकर यदि बैठना चाहो तो बैठो । यहाँ स्रस्तरादि शब्द शक्ति के द्वारा यदि उपभोग सक्षम हो तब यहाँ ठहरो, इस प्रकार ध्वनित हुआ । अलङ्कार रूप का उदाहरण--अखिलरसामृत मूर्त्ति प्रसृमररुचि रुद्धतारकापालि, कलित श्यामाललित राधाप्रेयान् विधु जययुक्त हो । यहाँ अनभीष्ट चन्द्र का वर्णन असम्बन्ध है ।"मा प्रशांक्षीदिति" अभीष्ट कृष्ण की उपमा रूप में चन्द्र व्यङ्ग्य है । मा प्रसांक्षीदिति पाठ भी है, अर्थ—प्रसक्त न भवतु" उदाहरणान्तर को प्रस्तुत करते हैं । परिमित होकर भी हे यदुनन्दन ! आप तो शूरत्व के कारण अपरिमित हो, इसके कारण अभय असज्जनों के लिए अहितकर हो । किन्तु यशः के द्वारा मङ्गलमय हो, यहाँ "अमित" स्थल में विरोध वाचक शब्द के अभाव से विरोध व्यञ्जना वृत्ति से लभ्य होता है, शब्दशक्तिमूलक ही अलङ्कार ध्वनि है, रसादि की भाँति

समितो युद्धात् प्राप्तरुत्कर्षं रमित स्त्वं, तत एव असतामहित स्त्वं यशोभिः सहितोऽसीत्यर्थः । अत्रामित इत्यादिष्वपि शब्दाभावाद् विरोधो व्यङ्ग्यः । व्यङ्ग्यस्यालङ्कारस्यालङ्कार्य्यत्वेऽपि ब्राह्मणश्रमणन्यायेना-लङ्कारतोपचर्य्यते ॥३॥

**वस्तु वालङ्कृति र्वेति द्विधार्थः सम्भवी स्वतः ।**
**कवेः प्रौढ़ोक्तिसिद्धो वा तन्निबद्धस्य वेति षट् ॥**
**षड् भि स्तै र्व्यंज्यमानस्तु वस्त्वलङ्कार–रूपकः ।**
**अर्थशक्त्युद्भवो व्यङ्ग्यो याति द्वादशभेदतां ॥**

---

विरोधाभास व्यङ्ग्य लभ्य होने केकारण वह अलङ्कारार्थं होगा, किन्तु अलङ्कार नहीं होगा, अलङ्कारशब्द करण साधन से निष्पन्न होता है। कैसे यहाँ अलङ्कारध्वनि होगी ? उत्तर करते हैं—ब्राह्मण-श्रमणन्याय से सम्भव है, जिस प्रकार कोई ब्राह्मण ब्राह्मण्यधर्म को छोड़कर सन्न्यासी होने पर भी उनको लोक ब्राह्मण सन्न्यासी कहते हैं। उस प्रकार यहाँपर भी पूर्व कालीन अलङ्कार को मानकर ही अलङ्कार्य दशा में भी अलङ्कार कहते हैं ॥३॥

सम्प्रति अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का विभजन करते हैं। वस्तु अलङ्कार भिन्न पदार्थ, अलङ्कृति अलङ्कार—

१ स्वतः सम्भविना वस्तुना वस्तुध्वनिः-
२ स्वतः सम्भविना वस्तुना अलङ्कारध्वनिः ।
३ स्वतः सम्भविना अलङ्कारेण वस्तुध्वनिः
४ स्वतः सम्भविना अलङ्कारेण अलङ्कारध्वनिः
५ कवि प्रौढ़ौक्तिसिद्धेन वस्तुना वस्तुध्वनिः
६ कवि प्रौढ़ौक्तिसिद्धेन वस्तुना अलङ्कारध्वनिः ।
७ कवि प्रौढ़ौक्तिसिद्धेन अलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ।
८ कवि प्रौढ़ोक्तिसिद्धेन अलङ्कारेण अलङ्कारध्वनिः ।
९ कवि निबद्धजनप्रौढ़ौक्तिसिद्धेन वस्तुना वस्तुध्वनिः ।
१० कवि निबद्ध जन प्रौढ़ोक्तिसिद्धेन वस्तुना अलङ्कारध्वनिः ।

स्वतः सम्भवी वहिरप्यौचित्यात् सम्भाव्यमानः। प्रौढ़ोक्त्या सिद्धो न त्वौचित्येन।

तत्र क्रमेण यथा—निःशेषेत्यादि। अनेन स्वतः सम्भविना वस्तुमात्रेण एतत् प्रतिपादिकाया वृन्दया कस्याश्चिद् गोप्या जातकृष्णोपभोगजनिःशेषच्युत-चन्दनत्वादि-स्वरूपं वस्तुमात्रं व्यज्यते।

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।
तस्यामेव हरे र्याम्याः प्रतापं न विषेहिरे॥

अनेन स्वतः सम्भविना वस्तुना रवितेजसो गुरुपुत्राहरणे हरेः प्रतापोऽधिक इति व्यतिरेकालङ्कारो व्यज्यते।

आपतन्तममुं दूरादूरीकृत-पराक्रमः।
बलोऽवलोकयामास मातङ्गमिव केशरी॥

---

११ कविनिबद्धजनप्रौढ़ौक्तिसिद्धेन अलङ्कारेण वस्तुध्वनिः।
१२ कविनिबद्धजनप्रौढ़ौक्तिसिद्धेन अलङ्कारेण अलङ्कारध्वनिः।

इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के द्वादश भेद हैं। स्वतः सम्भवी शब्द का अर्थ करते हैं—औचित्य के कारण अयोग्य होने के कारण, अन्तर–एवं बाहर भी सम्भव पर रूप से ही मान्यता है, यथाश्रुत शब्दार्थ से सुस्पष्ट जो बोध होता है, उस को सब लोक 'सम्भव पर है,' इस प्रकार मानते रहते हैं, उसको स्वतः सम्भवी कहते हैं। जिस की वास्तविकता नहीं है, किन्तु कवि की निरङ्कुश कल्पना से ही वस्तु की सिद्धि होती है, उसको प्रौढ़ोक्ति सिद्ध कहते हैं।

उपरोक्त भेद का क्रमिक उदाहरण—

"निःशेष" स्थल में वृन्दा के द्वारा सम्पादित–किसी गोपी का कृष्णोपभोग से निःशेषच्युत चन्दनत्वादि स्वरूप ध्वनित हुआ है, यह वस्तु के द्वारा वस्तुध्वनि है। दक्षिणायन होने के कारण दक्षिण दिक् में सूर्य का तेज मन्द हो जाता है, उस दिक् में यमराज के पक्षीय व्यक्तिगण श्रीहरि का प्रभाव सहन करने में असमर्थ रहे। यह वस्तु के द्वारा अलङ्कार ध्वनि का उदाहरण है। स्वतःसम्भवीवस्तु

अत्रोपमालङ्कार-रूपेण स्वतः सम्भविना व्यञ्जकार्थेन बलदेवः क्षणेनैव वेणुदारिणः ( असुर-विशेषस्य) क्षयं करिष्यतीति वस्तु व्यज्यते ।

गाढ़कान्तदशन-क्षत-व्यथा सङ्कटादरिमृगीदृशां हरिः ।
ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशन् युधि रुषा निजाधरं ॥

अत्र स्वतः सम्भविना विरोधालङ्कारेणाधरो निर्दष्टः, शत्रवो व्यापादिताश्चेति समुच्चयालङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

यदि न भवति गोपसुन्दरीनामयमथ मेलयितेति संप्रतीतिः ।
कुसुमशर-प्रणेतुरस्य स्फुटमनयं तमृतोः सहेत को वा ?

अत्र वसन्तः शरकारः, कामो धन्वी, स्वयं वक्ता श्रीकृष्णो लक्ष्यं, पुष्पाणि शरा इति कवेः प्रौढ़ोक्तिसिद्धं वस्तु प्रकाशीभवन्मदन-विजृम्भणरूपं वस्तु व्यनक्ति ॥४॥

---

के द्वारा रवितेज से भी गुरुपुत्र आनयन के समय श्रीकृष्ण का प्रताप अधिक हुआ था, व्यतिरेक अलङ्कार ध्वनित हुआ ।

केशरी जिस प्रकार मातङ्ग को देखता है, वैसा ही वाणराज का पुत्र वेणुदारी नामक असुर को बलराम ने विक्रम के साथ देखा था। यहाँ **उपमालङ्कार के द्वारा वस्तु** ध्वनित हुई, अर्थात् बलदेव क्षणकाल में ही वेणुदारी नामक **असुर** को विनष्ट करेंगे । अलङ्कार के द्वारा वस्तु ध्वनि है। श्रीकृष्ण ने–असुररमणीगण को–गाढ़ कान्तदशनक्षत व्यथा सङ्कट से ओष्ठविद्रुमदल को मुक्त करने के अभिप्राय से युद्ध में क्रोध से निज अधर का दंशन किया। यहाँ स्वतः सम्भवी विरोध अलङ्कार से अधर को दंशन किया, एवं शत्रु को भी मारा, इस प्रकार समुच्चय अलङ्कार का बोध व्यञ्जना वृत्ति से हुआ । स्वतः सम्भवी अलङ्कार के द्वारा अलङ्कारध्वनि का उदाहरण हैं ।

कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध वस्तु के द्वारा वस्तुध्वनि का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–यदि गोपसुन्दरीगण के सम्मिलन कर्त्ता यदि वह नहीं होता तो काम देवका सब कौशल ही व्यर्थ होता । यहाँ वसन्त, शरकार है, कामदेव धन्वी है; स्वयं वक्ता श्रीकृष्ण ही लक्ष्यहै, पुष्प समूह, शर है, यह कवि प्रौढ़िक्ति सिद्ध वस्तु प्रकाशित होकर

रजनीषु विमलभानोः करजालेन प्रकाशितं कृष्णं ।
धवलयति भुवनमण्डलमखिलं तव कीर्त्ति-सन्ततिः सततम् ॥

अत्र कविप्रौढ़ोक्तिसिद्धेन वस्तुना कीर्त्तिसन्तते श्चन्द्रकर-जालादधिक प्रकाशकत्वेन व्यतिरेकालङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

दशानन-किरीटेभ्य स्तत्क्षणं राक्षसश्रियः ।
मणिव्याजेन पर्य्यस्ताः पृथिव्यामश्रुविन्दवः ॥

अत्र कविप्रौढ़ोक्ति–सिद्धेनापह्नुत्यलङ्कारेण भविष्यद्राक्षसश्रीविनाश-रूपं वस्तु व्यज्यते ।

धम्मिल्ले नवमल्लिकासमुदयो हस्ते सिताम्भोरुहं
हारः कण्ठतटे पयोधरयुगे श्रीखण्डलेपो घनः ।
एकोऽपि क्षितिपाल पाण्डुतनय त्वत्कीर्त्तिराशि र्ययौ
नाना मण्डनतां पुरन्दरपुरी वामभ्रुवां विग्रहे ॥

---

मदन विजृम्भण रूप (कामविर्भाव रूप) वस्तु प्रकाशित हुई ॥४॥

हे कृष्ण ! निर्म्मल चन्द्र निज किरण माला से रात्रि काल में भुवनमण्डल को धवलित करते हैं, आप की कीर्त्ति सन्तति सतत विश्व को प्रकाशित करती है। यहाँ कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध वस्तु के द्वारा व्यक्तिरेक अलङ्कार व्यङ्ग्य है, कीर्त्ति सन्तति–चन्द्र कर जाल से भी अधिक प्रकाशशील है।

कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध अलङ्कार के द्वारा वस्तु ध्वनि का उदाहरण यथा—उस समय दशानन के किरीट से मणि निर्यात के छल से राक्षसलक्ष्मी के अश्रुबिन्दुसमूह गिरने लगे। यहाँ कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध अपह्नुति अलङ्कार से भविषद् राक्षस विनाश रूप वस्तु ध्वनित हुई।

कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध–अलङ्कार के द्वारा अलङ्कार की ध्वनि यथा—हे क्षितिपाल पाण्डु तनय ! आपकी एक कीर्त्तिराशि ही अमरावती की रमणीगण के मण्डन वन गईं। धम्मिल्ल में नव–मल्लिका, हस्त में श्वेत कमल, कण्ठ में मुक्ताहार, वक्षोज में श्वेत–चन्दन लेपन रूप है। यहाँ,—कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध रूपक अलङ्कार

अत्र कविप्रौढ़ोक्तिसिद्धेन रूपकालङ्कारेण 'भूमिष्ठोऽपि स्वर्गस्थानामुपकारं करोतीति' विभावनालङ्कारो व्यज्यते ।

अयि तड़िित्वमसौ क्व नु किन्तपः कियदहो कृतवत्यसि तद्वद ।
यदिमम्बुधरं हरिवक्षसस्तुलितमालिगता रससे सदा ॥

अत्रानेन कविनिबद्धायाः कस्याश्चित् प्रौढ़ोक्तिरूपेण वस्तुना हरिवक्षः पुण्यातिशयेन लभ्यमिति वस्तु प्रतीयते ।

राधिके ! कोटिसंख्यत्वमुपेत्य मदनाशुगैः ।
वसन्ते पञ्चता त्यक्ता पञ्चतासीद्वियोगिनां ॥

---

के द्वारा भूमिगत होकर भी कीर्त्तिसमूह स्वर्गवासी जनगण का उपकार करते हैं । यहाँ विभावनालङ्कार ध्वनित हुआ ।

कविनिबद्धजनप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु की ध्वनि । यथा—कहो ! कहो !! तड़ित्!तुमने कहाँ कौनसी तपस्या की । जिस से तुम सदा श्रीकृष्णवक्ष के समान अम्बुधर में विलास कर रही हो । यहाँ कविनिबद्धजनप्रौढ़ोक्ति रूप वस्तु के द्वारा श्रीहरिवक्ष का लाभ अतिशय पुण्य से होता है, वस्तु की प्रतीति होती है ।

कविनिबद्धजनप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु से अलङ्कार ध्वनि का उदाहरण । यथा—सखि ! राधिके ! वसन्त काल कन्दर्प के कोटि संख्यक वाण से अलङ्कृत होकर प्रसिद्ध पञ्चवाण को छोड़ दिये हैं, वह पञ्चता किन्तु वियोगिनी जन को अवलम्बनकर स्थित है ।

यहाँ कविनिबद्धप्रौढ़ोक्तिसिद्ध–निखिल वियोगि जन मारण हेतु काम के शरकोटि संख्या को प्राप्तकर चुके हैं । आपने पाँचशर को छोड़ दिया है, वह पञ्चत्व वियोगिजन को आश्रय किया है । उत्प्रेक्षालङ्कार ध्वनित हुआ ।

कविनिबद्धजनप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलङ्कार से वस्तु ध्वनि का उदाहरण—हे राधे ! देखो ! मल्लिकाकुसुम में मधुव्रत गुञ्जन कर रहे हैं, मानो कन्दर्प राज के प्रयाण के समय मङ्गलमय शङ्खध्वनि हो रही है ।

यहाँ कविनिबद्धप्रौढ़ोक्तिसिद्ध उत्प्रेक्षालङ्कार के द्वारा

अत्र कविनिबद्ध प्रौढ़ोक्तिसिद्धेन कामशराणां कोटिसंख्यत्व—प्राप्तया निखिलवियोगि-मरणेन च वस्तुना शराणां फलता शरान् विमोच्य वियोगिन आश्रितेवेत्युत्प्रेक्षा व्यज्यते ।

मल्लिका-कुसुमे राधे भाति गुञ्जन्मधुव्रतः ।
प्रयाणे पञ्चबाणस्य शङ्खमापूरयन्निव ॥

अत्र कविनिबद्धप्रौढ़ोक्तिसिद्धेन उत्प्रेक्षालङ्कारेण कामस्यायमुन्मादकः कालः प्राप्तः, तत् कथं मानं न मुञ्चसीति वस्तु व्यज्यते ।

महिला सहस्स भरिए तुह हिअए कह्न सा अमाअन्ती ।
अनुदिनमणण्णअम्म अङ्गं तनुअं पि तनु एइ ।*

अत्रामान्तीति कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्धेन काव्यलिङ्गालङ्कारेण तनो स्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तत इति विशेषोक्त्यलङ्कारो व्यज्यते ।

---

सूचित होता है कि- यह समय उन्मादक है, अतः तुम क्यों मान को नहीं छोड़ती हो ? इस से वस्तु ध्वनित हुई ।

कविनिबद्धजनप्रौढ़ोक्तिसिद्ध—अलङ्कार के द्वारा अलङ्कार ध्वनि का उदाहरण देते हैं—

* महिला सहस्र भरिते तव हृदये कृष्ण सा अमान्ती । अनुदिनमनन्यकर्माङ्गं तन्वपि तनयति ॥ "अमान्ती"—मानमवकाशम प्राप्नुवती दिवसं प्राप्य तनयति कृशीकरोति ॥ कृष्ण, प्रिया की कुशलवार्त्ता पुछने पर दूती ने कही, कृष्ण ! तुम, बहु वल्लभ हो, तुम्हारे हृदय में मेरी सखी का स्थान नहीं हो सकता है, इसलिए मेरी सखी प्रतिदिन कृश होती जा रही है । कृश होकर भी हृदय में स्थानलाभ हो, यह अभिलाषा है । यहाँ "अमान्ती" पद से कवि निबद्धवक्तृ प्रौढ़ोक्ति सिद्ध काव्य लिङ्ग अलङ्कार के द्वारा शरीर को कृश करने पर भी तुम्हारे हृदय में स्थान नहीं है,विशेषोक्ति अलङ्कार के द्वारा उक्तार्थ की प्रतीति होतीहै । कविनिबद्धवर्णन में सामाजिक आविष्ट नहीं होते हैं, किन्तु कविनिबद्ध वक्तृ प्रौढ़ोक्ति अधिक सहृदय चमत्कारिणी होती है, इसलिए पृथक् कहा गया है । इस प्रकार अभिधामूलक व्यञ्जना का उदाहरण प्रस्तुत हुआ ।

न खलु कवेः कविनिबद्धस्येव वागन्याविष्टता ।* अतः कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिः कविप्रौढ़ोक्ते रन्तर्भूताप्यधिकं सहृदयचमत्कारिणीति पृथक् प्रतिपादिता । एवं वाच्यार्थस्य व्यञ्जकत्वेन समुदाहृतं ।

लक्ष्यार्थस्य यथा—निःशेषाच्युतेत्यादि ।

व्यङ्ग्यार्थस्य यथा—आलि पश्येत्यादि । अनयोः स्वतः सम्भविनौ लक्ष्यव्यङ्ग्यार्थौ व्यञ्जकौ । एवमन्येष्वप्येकादशसु भेदेषूदाहार्य्यं । एषु चालङ्कृति-व्यञ्जनस्थले रूपणोत्प्रेक्षणव्यतिरेचनादि-मात्रस्य प्राधान्यं सहृदय संवेद्यं, नतु रूप्यादीनामित्यलङ्कृतेरेव प्राधान्यं ॥५॥

## एकः शब्दार्थशक्त्युत्थे ।

उभय-शक्त्युद्भवे व्यङ्ग्ये एको ध्वने र्भेदः । यथा—

हिममुक्त-चन्द्ररुचिरः सपद्मको मदयन् द्विजान् जनित-मीनकेतनः ।
अभवत् प्रसादित-सुरो-महोत्सवः प्रमदाजनस्य स चिराय माधवः ॥

---

लक्ष्यार्थ का उदाहरण—निःशेषाच्युतेत्यादि ।

व्यङ्ग्यार्थका दृष्टान्त—आलि पश्येत्यादि ।

उक्त स्वतः सम्भवी दोनों लक्ष्य एवं व्यङ्ग्यार्थ में व्यञ्जक है, इस प्रकार अपर एकादश भेद के उदाहरण समूह प्रस्तुत करलेना चाहिए, इन सब में अलङ्कृति व्यञ्जकस्थल में रूपण, उत्प्रेक्षण, व्यतिरेचनादिका प्राधान्य हैं, वह भी सहृदय संवेद्य है किन्तु रूप्यादि का प्राधान्य नहीं है, अर्थात् आरोप्यमाण नवमल्लिका समुदाय का प्राधान्य नहीं है । आदिपद से व्यतिरेक उत्प्रेक्षादि का ग्रहण हुआ है । इसलिए अलङ्कार का ही मुख्यत्व अर्थात् प्राधान्य है ॥५॥

सम्प्रति शब्दार्थोभयशक्तिमूल ध्वनि का वर्णन करते हैं। शब्दार्थ-उभय शक्ति के द्वारा उत्पन्न व्यङ्ग में ध्वनि का भेद एक होगा । वस्तु रूप उभय शब्दार्थ का व्यञ्जक होने से पहले वस्तु भिन्न रूप से अलङ्कार का प्रतिपादन हुआ है, पारिशेष्यन्याय से अलङ्कार ही व्यञ्जना वृत्ति लभ्य है, वह सामान्यतः एक होने से शब्दार्थ उभय शक्ति मूल ध्वनि अलङ्कार एक प्रकार ही होगा ।

---

* वाचि अन्येषां श्रोतॄणां आविष्टता आवेशः ।

[ पद्मया सह वर्त्तमानो पद्मेन वा ) अत्र माधवः कृष्णो माधवो वसन्त इवेत्युपमालङ्कारो व्यङ्ग्यः। एवञ्च व्यङ्ग्यभेदादेव व्यञ्जकानां काव्यानां भेदः।

## तदष्टादशधा ध्वनिः ।

(अ)अविवक्षितवाच्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्चेति द्विविधः। विवक्षितान्यपरवाच्यस्तु असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेनैकः। संलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्यत्वेन च शब्दार्थोभयशक्तिमूला पञ्चदशेति अष्टादशभेदो ध्वनिः। एषु च—

## वाक्ये शब्दार्थशक्त्युत्थ स्तदन्ये पदवाक्ययोः ।

---

हिम आवरण से मुक्त चन्द्र के समान सुन्दर, पक्ष में वसन्त कालीन चन्द्र के समान रुचिर, भार्य्या सहित, पक्षमें पद्मयुक्त, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य, कोकिल प्रभृति को विनय सम्भाषणादि के द्वारा आनन्दित कर प्रद्युम्न तथा कामावेग को उत्पन्न कर, दैत्यबधादि के द्वारा देव गण को आनन्दित करके माधव श्रीकृष्ण, वसन्त कालः पुराङ्गणा गण के समक्ष में उपस्थित होकर महानन्द जनक हुए थे। यहाँ माधव, कृष्ण एवं वसन्त है, इन--इससे उपमालङ्कार व्यञ्जित हुआहै। इस प्रकार व्यङ्ग्य भेदसे ही व्यञ्जक काव्यका भेद होताहै।

सम्प्रति गणित व्यङ्ग्य का सङ्कलन करते हैं, अभी तक ध्वनि का भेद अष्टादश प्रकार हुआ।

लक्षणामूलोऽविवक्षित वाच्योध्वनि द्विविधः—अर्थान्तर संक्रमितवाच्य १
अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः। १

अभिधामूलोविवक्षितान्यपरवाच्योध्वनिः—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः-१
षोड़शविधः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः
शब्दशक्तिमुलो द्विविधः २
अर्थ शक्तिमूलो द्वादशविधः १२
शब्दार्थोभय शक्तिमूल एकविधः १

(अ) अष्टादश प्रकार ध्वनि के मध्य में शब्दार्थोभय शक्ति-मूलोध्वनि,-केवल वाक्य में ही सम्भव है, वह उपमालङ्कार रूप होने

(आ) तत्रार्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिः पदगतो यथा—

सा किल कुलजा कुलजा नयने तस्याः परं नयने ।
वेणुविनोदी मदनः स भवति यस्याः स्वयं मदनः ।।

अत्र द्वितीयाः कुलजादिशब्दाः प्रशंसाविशेषविशिष्टकुलजादिपराः ।

(इ) वाक्यगतो यथा—

मानिनि वच्मि त्वामहमिह सुहृदां तव शृणोतु वृन्दञ्च ।
सहजा या निजवृत्ति र्गोविन्दे स्वयमुपास्स्व तामेव ।।

अत्र बोधयितव्याया स्तस्याः सम्मुखीनत्वादेव लाभेऽपि त्वामिति पुन र्वचनमन्यव्यावृत्तिविशिष्टं त्वदर्थं लक्षयति । एवं वच्मीत्यनेनैवाहमिति कर्त्तरि लब्धेऽप्यहमिति पुनर्वचनं तथा सुहृदां वृन्दमिति वचनेनैव कर्त्तुः प्रतिपादने सिद्धे वच्मीति वचनमुपदिशामीति वचनरूपमर्थं लक्षयति । एतानि च लक्षितानि स्वातिशयं व्यञ्जयन्ति । एतेन मम वचनं भवतु नाम तव

---

से ही वाक्यार्थ सापेक्ष है, उस से भिन्न सप्तदश प्रकार-कहीं पर पद में कहीं पर वाक्य में होगा, उस का कोई नियामक नहीं है ।

(आ) अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि, पदगत का उदाहरण, वह कुलजा है, अति सुन्दर उस के नयन है, वेणु विनोदी कृष्ण जिस को प्राप्तकर स्वयं आनन्दित होंगे । यहाँ द्वितीय कुलजादि शब्द का अर्थ,—प्रशंसा विशेष विशिष्ट कुलजादि पर है ।

(इ) वाक्यगत का उदाहरण—सखी बोल रही है—मैं कह रही हूँ, सुहृदगण का कथन भी यह है, सुनो ! स्वाभाविक निज वृत्ति, जब गोविन्द में है, अतः स्वयं ही उस की सेवा करो । यहाँ समझाने वाली गोपी, राधा के सम्मुख में रह कर ही कह रही थी, सम्मुख में रहने परभी तुम्हें कहती हूँ । इसका अर्थ है, मेरी बात को सुनो, इस प्रकार "वच्मि" इस से ही मैं का बोध होने से भी पुनर्बार 'अहम्' का प्रयोग, तथा सुहृदां वृन्दं' इस से कर्त्ता का प्रतिपादन होने पर भी वच्मीति प्रयोग से वचन का उपदेश करती हूँ, वचनरूप अर्थ को ही कहने का लक्ष्यहै, यह सब लक्षण का अतिशयत्व ही व्यञ्जनावृत्ति लभ्य है । इस से मेरा वचन हो सकता है-तुम्हारे

सुहृदामनभीष्टं, तव त्वभीष्टतममेवेति तदवश्यं कर्त्तव्यमित्यभिप्रायः। तदेवमयं वाक्यगतोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्योध्वनिः। अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः पदगतो यथा—

तासां कृष्णवियोगेत्यादौ वाष्पैरन्ध इवादर्श इति।

वाक्यगतो यथा—उपकृतमित्यादि। अन्येषां * वाक्यगतत्वे उदाहृतं। पदगतत्वे यथा—कर्णामृते—

तत् कैशोरं तच्च वक्त्रारविन्दं तत्कारुण्यं ते च लीलाकटाक्षाः।
तत् सौन्दर्य्यं सा च सान्द्रस्मितश्रीः सत्यं सत्यं दुर्लभं दैवतेऽपि।

अत्र कैशोरादीनां तादृगनुभवैकगोचरता व्यञ्जकानां तदादिपदानां एव प्राधान्यं, अन्येषां तत्तदुपकारित्वमेवेति तन्मूल-ध्वनिव्यपदेशः ॥६॥

तदुक्तं ध्वनिकृता—

**एकावयवसंस्थेन भूषणेनेव कामिनी।**
**पदद्योत्येन सुकवे र्ध्वनिना भाति भारती ॥७॥**

---

सुहृद का अभीष्ट न हो, किन्तु यह वचन तुम्हारा अभीष्ट है, अतः वैसा करना अवश्य कर्त्तव्य है, अतः यह वाक्यगत अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि है। अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य पदगत का उदाहरण-तासां कृष्ण वियोगेत्यादौ वाष्पै रन्धइवादर्श इति। वाक्य गत का उदाहरण—उपकृतमित्यादि। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्गय संलक्ष्य क्रम-व्यङ्गय के भेदों का उदाहरण—शुन्यंवासगृहं, संलक्ष्यक्रमव्यङ्गय का दृष्टान्त, पथिक! यह संलक्ष्य क्रमव्यङ्गय का उदाहरण को दिखाया गया है। पदगत का उदाहरण–कर्णामृत से प्रस्तुत करते हैं,—वह कैशोर, मुखारविन्द„ कारुण्य, लीलाकटाक्ष, सौन्दर्य, सान्द्रस्मित श्री, सत्य सत्य है, यह दैवत में भी दुर्लभ है। यहाँ कैशोरादि उस प्रकार अनुभव गोचर व्यञ्जन समूह का तदादि पदों का ही प्राधान्य है। अपर सब में उसका उपकारित्व है, अत तदादि पद मूलक ही ध्वनि हुई। इस लिए पदगतत्व की सिद्धि हुई ॥६॥

ध्वनि कार ने कहा है—कामिनी केवल हस्तस्थित कङ्कण

---

* उभयशक्तिमूलाद् भिन्नविवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिभेदानां।

एवं भावादिष्वप्यूह्यं ।

भुक्तिं मुक्तिं च तनुते न परं भवदागमः ।
भक्तिं व्यनक्ति च व्यक्तं सुहृत्सु परमेश्वर ॥

अत्र विप्रलब्धायाः सखीयं स्वयमेवासां श्रीकृष्णं परमेश्वरेति सम्बोध्य तेन भवदीयं शास्त्रं यथा सुहृत्सु भुक्त्यादिशब्दवाच्यान् भुक्ति--मुक्ति--भक्ति-लक्षणान् पुरुषार्थां स्तनुते, तथा भवत्समागमोऽपीत्युपमालङ्कारं यद्यपि ध्वनयति, तेन च स्तुतिं गमयति, तथापि प्रकरण प्राप्तत्वात्तदनपेक्ष्य भवत्-समागमस्तत्तच्छब्दवाच्यान्तर–लब्धं सम्भोगं तदन्तं तत्रत्यभङ्गलक्षणं च वस्तु व्यञ्जयतीति तदेतदुदाहृतम् ॥८॥

'वनरुचि-रुचिरः श्रीमानिति' अत्र 'माधवः कृष्णः माधवो वसन्त इवेत्युपमाध्वनिः । अनयोः शब्दशक्तिमूलौ संलक्ष्य-क्रमभेदौ ।

सन्ध्यायां क्व नु यासि लोलनयनाप्यग्राय नैकाग्रहा
तत्राप्यग्रतमं स्थलं किमपि तच्चेतस्थलं बिभ्रती ।

---

भूषण से ही भूषित होती है, उस प्रकार केवल पद प्रकाश्य ध्वनि से सुकविकी भारती शोभित होती है ॥७॥

विप्रलब्धा की सखी कृष्ण को परमेश्वर सम्बोधन करके कहती है, जिस प्रकार आप का शास्त्र, सुहृत् गण के प्रति, भुक्ति मुक्ति भक्ति रूप पुरुषार्थ का उपदेश करते हैं, उस प्रकार आप का समागम भी भुक्ति मुक्ति भक्ति का उपदेश देते हैं, उपमा अलङ्कार से यह ध्वनित हुआ है। इस से स्तुति का बोध होता है। प्रकरण प्राप्त होने के कारण भुक्ति मुक्ति भक्ति की अपेक्षा यहाँ नहीं है, तत्तच्छब्द से वाच्यान्तर लब्ध सम्भोग ही प्रकाशित होता है ॥८॥

"बन रुचिरुचिर श्रीमान्" अत्र माधव, कृष्ण, माधव, वसन्त इव, उपमाध्वनि है, दोनों का शब्द शक्ति मूलक संलक्ष्य क्रम भेद है। अर्थात् यथाक्रम से वस्तु रूप अलङ्कार रूप है।

चञ्चल नयना! सन्ध्या के समय कहाँ जा रही हो ? लक्ष्यस्थल के लिये भी कुछ आग्रह नहीं दिखता, वह तुम्हारे आगमन को नहीं जानती है, किन्तु तमाल तरु का देखकर विश्वास के साथ आलिङ्गन

सा चैषा नहि बुद्धयते तव गति र्दृष्ट्वा तमालं मुहु

र्विष्टब्धा धृतभङ्गि सङ्गिसवयो मध्ये मुहु र्नीयसे ।।

अत्र स्वतःसम्भविना वस्तुना निजप्रियविशेषार्थं गच्छन्त्यसीति व्यज्यते तच्च सा चैषेत्यादौ दृष्ट्वा तमालमित्यत्र तमालमिति पदस्यैव पदान्तरापेक्षया वैशिष्ट्यं ।।६।।

तदप्राप्ति महादुःखलीनान्याशेषसंक्रमाः ।

तच्चिन्ताविपुलाह्लाद क्षीणान्यासुखभ्रमिकाः ।।

स्मारं स्मारं परं कृष्णं परब्रह्मेति शब्दितं ।

त्यक्तप्राणा जगत्प्राणं तं गताः काश्चिदङ्गनाः ।।

अत्रान्यपद--प्रभावात् क्रमभोक्तव्य-तद्विरह-संयोग-स्फुरणमयदुःख--सुखात्ययकारियुगपदुदिततत्सम्महादुःखपूर्वकसुखपरमकाष्ठाप्राप्तिप्रत्यायनमित्यतिशयोक्तिद्वयं लभ्यते । किन्तु सा च वचसां सम्मतया व्यञ्जकस्य प्रौढ़ोक्तिमन्तरेणापि सम्भवात् स्वतः सम्भविता ।।१०।।

पश्यन्त्यसंख्यपथगां त्वद्दानामृत-वाहिनीं ।

नन्द त्रिपथगात्मानं गोपयत्युग्र-मूर्द्ध नि ।।

---

कर रहती है ।

यहाँ स्वतःसम्भवि वस्तु के द्वारा निज प्रिय विशेष के लिए जा रही हो, यह ध्वनित हुआ । वह तमाल तरु को देख कर' इस में तमाल पद का ही वैशिष्ट्य है, अन्य पद का नहीं है ।।६।।

स्वतः सम्भविवस्तु के द्वारा पदगत अलङ्कार ध्वनि का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—श्रीकृष्ण वियोग से महादुःख उपस्थित हुआ, उस से अशेष चेष्टा विलुप्त हो गई, परम ब्रह्म शब्द वाच्य जगत् प्राण श्रीकृष्ण का स्मरण कर एक गोपिका ने प्राण त्याग कर श्रीकृष्ण को प्राप्त कर लिया । यहाँ अन्यपद के प्रभाव से क्रम भोक्तव्य तद्विरह संयोग स्फुरणमय सुख दुःख नाशक युगपद् उदित महादुःख पूर्वक सुख परम काष्ठा प्राप्ति का बोध-अतिशयोक्ति के द्वारा प्राप्त होता है, किन्तु वह वाणी की सम्मति से व्यञ्जक होता है, प्रौढ़ोक्ति की अपेक्षा नहीं है, अतः यहाँ व्यञ्जक की स्वतः सम्भविता है ।१०

अत्र पश्यन्तीति कविप्रौढ़ोक्तिसिद्धेन काव्यलिङ्गालङ्कारेण न केप्यन्ये दातार स्तव सदृशा इति व्यतिरेकालङ्कारोऽसंख्यपदद्योत्यः। एवमन्येष्वप्यर्थ-शक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमभेदेषूदाहार्य्यं। तदेवं ध्वनेः पूर्वोक्तेष्वष्टादशसु मध्ये शब्दार्थ-शक्त्युत्थो व्यङ्ग्यो वाक्यमात्रे भवन्नेकः। अन्ये पुनः सप्तदशवाक्ये पदे चेति चतुस्त्रिंशदिति पञ्चत्रिंशद्भेदाः ॥११

**प्रबन्धेऽपि मतो धीरै रर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः।**

प्रबन्धे महावाक्ये। अनन्तरोक्त–द्वादशभेदोऽर्थशक्त्युत्थः। यथा महाभारते गृध्रगोमायुसंवादे—

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसङ्कुले।
न चेह जीवकः कश्चित् कालधर्म्ममुपागतः।

इति दिवाशक्तस्य गृध्रस्य श्मशाने मृतं बालमुपादाय तिष्ठतो दिवसे तं परित्यज्य गमनमिष्टं।

---

पदगत कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कारध्वनि का उदाहरण देते हैं। हे नन्द ! तुम्हारे दानवारि को असंख्य पथगा देख कर त्रिपथगा गङ्गाने महादेव के मस्तक में अपने को छिपालिया है। यहाँ पश्यन्तीति कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध काव्यलिङ्गालङ्कार के द्वारा तुम्हारे समान अपर कोई दाता नहीं है, असंख्य पद के द्वारा व्यतिरेक अलङ्कार द्योतित हुआ। इस प्रकार अन्य, अर्थ शक्ति मूल संलक्ष्य क्रम भेद का उदाहरण प्रस्तुत करना आवश्यक है। पहले अष्टादश प्रकार का भेद कहा गया है, उस में शब्दार्थ शक्त्युत्थो व्यङ्ग्य, वाक्य मात्र में एक प्रकार ही होगा। अन्य सप्तदश—वाक्य एवं पद में होगा, इस से ३४, ३५ भेद होते हैं ॥११॥

मनीषिगण-अर्थ शक्त्युद्भवध्वनि को प्रबन्ध में भी मानते हैं। प्रबन्ध, महावाक्य। अर्थ शक्त्युद्भव–केवल अर्थ शक्तिमूल प्रागुक्त द्वादश प्रकार ध्वनि,–केवल वाक्य एवं पद में ही नहीं होगी, अपितु महावाक्यात्मक अनेकवाक्य में भी होगी, इस प्रकार पूर्वोक्त ३५ पञ्चत्रिंशत् प्रकार के साथ मिलकर अभी तक ४७ सप्तचत्वारिंशत् प्रकार ध्वनि हुई। उदाहरण–महाभारत के गृध्र गोमायु संवाद में

आदित्योऽयं स्थितो मूढ़ाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतं ।

बहुविघ्नो मुहूर्त्तोऽयं जीवेदपि कथञ्चन ॥

अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनं ।

गृध्रवाक्यात् कथं मूढ़ा स्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥

इति निशि समर्थस्य गोमायो दिवसे परित्यागोऽनभिलषित इति वाक्य-समूहेन द्योत्यते । अत्र स्वतःसम्भवी व्यञ्जकः । एवमन्येष्वेकादशभेदेषूदाहार्य्यं ॥१२॥

**पदांशवर्णरचनाप्रबन्धेष्वस्फुटक्रमः ।**

**असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनि स्तत्र पदांशकः ॥**

प्रकृति -प्रत्ययोपसर्गनिपातादिभेदादनेकधा भेदः । यथा च—

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि नवगोपसुदृशां

रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।

---

गृध्र गोमायु परिवृत कङ्काल बहुल भयङ्कर स्थान में रहना ठीक नहीं है, प्रिय हो अथवा शत्रु हो, जो भी व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त करता है, वह पुनर्बार जीवित नहीं होता । गृध्र रात्र्यन्ध था, उस के लिए दिन में ही शव का मांस खाना अभीष्ट था,किन्तु शव के परिजन उपस्थित रहने से वैसा नहीं होगा,अतः शव को छोड़कर जानेका सङ्केत किया। गीध के वाक्य को सुनकर सियार ने कहा—मूढ़ व्यक्तिओं ! ऐसा न करो ! अभी तो दिन है, स्नेह प्रदर्शन तब तक करो, सायंकाल में बालक जीवित हो सकता है, यह मृत नहीं है, डाकिनी का आवेश इस में है, गृध्र वाक्य से बालक को क्यों छोड़ रहे हो, गीधड़ के लिए दिवा भोजन सम्भव नहीं है, रात्रि भोजन उस के लिए हितकर है, इसलिए शृगाल ने कहा दिन में शव को छोड़ना ठीक नहीं है । स्वतः सम्भवि वस्तु के द्वारा उक्तविध वस्तु ध्वनि, प्रबन्ध से व्यञ्जित हुई। इसप्रकार अपर एकादश भेद के उदाहरणसमूह का चयन स्वयं करें १२

असंलक्ष्य क्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के भेद समूह को कहते हैं-अस्फुट क्रमशब्द का परिष्कार करते हैं—असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्यध्वनि पदांश में होती है । आदि पद से वचनादि का संग्रह हुआ है, पदांश प्रकृति

करं धुन्वानानां पिबति रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हता त्वं खलु कृती ॥

अत्र हता इति न पुन र्दुःखं प्राप्ता इति 'हन्, प्रकृतेः ।

मुहुरङ्गुलिसंभृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिधानं ।
मुखमंसविवर्त्ति राधिकायाः कथमित्युल्लसितं चुम्बितन्तु ॥

अत्र 'तु' इति निपातस्यानुताप–व्यञ्जकत्वं ।

एषा—न्यक्कृतिरस्ति मे यदहित स्तत्राप्यसौ तापसः ।
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवाम्यहो रावणः ।
धिक् धिक् शक्रजितं प्रबुध्य जयिना किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिका विलुण्ठन–वृथोच्छूनैः किमेभि र्भुजैः ॥

अत्राहित इत्येकवचनस्य 'तापस' इति प्रकृते रत्रैवेति सर्वनाम्नः 'निहन्तीति' 'जीवन्तीति' तिङः,'अहो' इत्यव्ययस्य 'ग्रामटिकेति' करूपतद्धितस्य विलुण्ठनेति' व्युपसर्गस्य, 'भुजै' रिति बहुवचनस्य व्यञ्जकत्वं ।

---

प्रत्यय, उपसर्ग, निपातादि के भेद से अनेक प्रकार हैं। प्रकृति रूप पदांशगत ध्वनि का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—कृष्ण कहते हैं—भ्रमर ! नवगोप सुनयनीओं की अपाङ्ग दृष्टि को तुम स्पर्श कर रहे हो, गुप्त वार्त्ता को कहने के लिए कान के पास जाकर गुञ्जन कर रहे हो। हस्त सञ्चालन से तुम्हें हटाने के लिए प्रयन्त करने वाली गोपललना के अधरपान तुम ही करके कृतार्थ हो गये हो मैं तो मरा। यहाँ व्यङ्ग्य को दिखाते हैं, वृता–आकुल होने से मृतप्राय हो गया हूँ, केवल दुःख प्राप्त ही नहीं किया, हन् प्रकृति से व्यञ्जित हुआ। राधिका को विषण्ण मुद्रा में देखकर कृष्ण ने उल्लसित होकर चुम्बन किया। यहाँ 'तु' निपात से अनुताप व्यञ्जित हुआ। मुझे धिक्कार है, मेरा भी शत्रु है, वह भी तापस। वह भी पुरी में आकर राक्षसों को सफाया कर रहा है, अहो ! मैं रावण हूँ, और जीवित भी हूँ, इन्द्रजित् मेघनाद को धिक्कार है, जग कर जयी होने वाला कुम्भकर्ण से ही क्या काम है ? स्वर्ग ग्राम लुण्ठन कारी सुदीर्घ भुजाओं से क्या प्रयोजन है, धिक्कार है, यहाँ अहित, एक

आहारे विरतिः समस्तविषय–ग्रामे निवृत्तिः परा
नासाग्रे नयनं तदेतदपरं यच्चैकतानं मनः ।।
मौनञ्चेदमिदञ्च शून्यमधुना यद् विश्वमाभाति ते
राधे तद्वद योगिनी किमसि भोः किम्वा वियोगिन्यसि ?

अत्राहार इति विषयसप्तम्याः; समस्तेति परेति च विशेषण-द्वयस्य, मौनञ्चेदमिति च प्रत्यक्षपरामर्शिनः सर्वनाम्नः आभातीत्युपसर्गस्य राधे तद्वदेति परिचय—विशेषस्य 'असि भो' इति सोपहासोत्प्रासस्य । किंवेत्युत्तरदार्ढ्यसूचकस्य वा शब्दस्य असीति वर्त्तमानोपदेशस्य तत्तद्विशेष व्यञ्जकत्वं सहृदय–संवेद्यं ।

वर्ण–रचनयो रुदाहरिष्यते–प्रबन्धे यथा महाभारते शान्तः । रामायणे करुणः । विदग्धमाधवादौ शृङ्गारः । एवमन्यत्र ।।१३।।

**तदेवमेकपञ्चाशद् भेदा स्तस्य ध्वने र्मताः ।**
**सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्टचा वाप्यनेकधा ।**

---

वचन का, तापस का, अत्रैव, सर्वनामपदका, निहन्ति, जीवन्ति, तिङ् का, अहो-अव्यय का, ग्रामटिका में करूपतद्धित का, विलुण्ठन, वि उपसर्ग का, भुजैः बहुवचन का व्यञ्जकत्व है ।

प्रत्ययादि ध्वनि का उदाहरण देते हैं—आहार में विरति, समस्त विषय ग्राम में निवृत्ति, नासाग्रे नयन की दृष्टि, मन भी निश्चल, मौन, विश्व शून्य अनुभूत होता है, राधे ! मैं पुछती हूँ । तुम योगिनी वन गई हो, अथवा वियोगिनी ?

यहाँ आहारे विषय सप्तमी का, समस्त, परा, विशेषण द्वयका, मौनञ्च इदं—प्रत्यक्ष परामर्शकारिका, आभाति, उपसर्ग का, राधे तद्वद् ! परिचय विशेष का, असि, भो उपहास सूचक वाक्य का किम्वा–उत्तर दार्ढ्य सूचक है, यह सहृदय संवेद्य है ।

वर्ण रचना का उदाहरण आगे प्रस्तुत करेंगे । महाभारत में शान्त, रामायण में करुण, विदग्धमाधवादि में शृङ्गार है, इस प्रकार अन्यत्र भी जानना होगा ।।१३।।

**वेदखाग्निशराः शुद्धैरिषुवाणाग्निशायकाः ॥**

**शुद्धैः शुद्धभेदैरेकपञ्चाशता योजनं, इत्यर्थः । दिङ्मात्रमुदाह्रियते ।**

सम्प्रति ध्वनियों का सङ्कलन करते हैं—रस भावादि रूप असंलक्ष्य क्रमव्यङ्ग्य का भी पद, पदांश, वाक्य महावाक्य, वर्ण-रचना रूप से षट् प्रकार भेद हैं, इस प्रकार शुद्ध रूपसे एक पञ्चाशद् भेद हैं; पुनश्च अलङ्कार की भाँति अङ्गाङ्गित्वरूपसे एकाश्रयानुप्रवेश रूप से संदिग्ध रूप से-तीन प्रकार, संकर रूप से परस्पर निरपेक्षस्थिति रूप संकर से वेद-४। ख-शून्य, अग्नि-तीन, शर-पाँच-मिलकर ५३०४ भेद ध्वनि के होते हैं, पुनश्च शुद्ध ५१ एकपञ्चाशत् प्रकार योग से ५३५५ ध्वनि होती हैं।

**सङ्कलन प्रकार यह है—**

**लक्षणामूलः— अविवक्षितवाच्यः— चतुर्विधः**
- अर्थान्तर संक्रमितवाच्यः-२ — पदगतः १, वाक्यगतः १
- अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः-२

**अभिधामूलः— विवक्षितान्यपरवाच्यः प्रधानतो द्विविधः**
- असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः — पदगतः १, वाक्यगतः १
- संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः

**तत्र रस भावादिरूपएक विधोऽपि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः अवान्तरभेदात् षड् विधः**
- पदगतः— १
- पदांशगतः— १
- वाक्यगतः— १
- महावाक्यगतः— १
- वर्णगतः— १
- रचनागतः— १

**संलक्ष्य क्रमव्यङ्ग्यः एक चत्वारिंशद्विधः** शब्दशक्त्युत्थेषु वस्तुरूपयोः पदगतः १
- वाक्यगतः १
- अलङ्काररूपयोः पदगतः १
- वाक्यगतः १

गोप्युन्नतस्तनयुगा चपलायताक्षी—
द्वारि स्थिता हरिकृतागमनोत्सवाय ।
सा पूर्णकुम्भनवनीरजतोरणश्री
सम्भार—मङ्गलमयत्नकृतं विधत्ते ॥

अत्र स्तनावेव पूर्णकुम्भौ, दृष्टय एव नवनीरजतोरणस्रज इति रूपकध्वनि-रसध्वन्यो रेकाश्रयार्थ-प्रवेश--सङ्करः ।

---

अर्थशक्त्युत्थेषु— पदगताः १२
वाक्यगताः १२
महावाक्यगताः १२
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थे १

शुद्धाः— ५१

**साजात्ये** उक्तानामेकपञ्चाशत्
प्रकाराणांशुद्धानांध्वनीनां
मध्ये एकैकस्य सजातीयेन
एकैकेन सह सङ्करेषु
एकपञ्चाशत् प्रकाराः— ५१

---

अङ्गाङ्गिभाव सङ्कराः

**सङ्कराः**

वैजात्ये द्वितीयस्य शुद्धस्य
प्रथमेन शुद्धेन सह
सङ्करे एकः, तृतीयस्य
शुद्धस्य प्रथमेन
द्वितीयेन वा शुद्धेन सह
सङ्करयो द्वौ, चतुर्थस्य
शुद्धस्य प्रथमेन द्वितीयेन
तृतीयेन वा शुद्धेन सह
सङ्करेषु त्रयः
इत्यादि रूपेण पञ्चसप्तत्यधिक
द्वादशशतप्रकाराः……१२७५

राधादिचन्द्रवदनावदनारविन्द-सौरभ्यसौहृदसगर्व्व-समीरणानि ।
धिन्वन्त्यमूनि मदमूर्च्छदलिध्वनीनि तत्तृण कृष्णरसनानि मधो दिनानि ॥
अत्र राधेत्यादिना लक्षणा-मूलध्वनीनां संसृष्टिः ॥१४॥

अथ गुणीभूतव्यङ्ग्यं—

**अपरन्तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यङ्ग्ये ।**

अपरं काव्यं । **अनुत्तमत्वं न्यूनतया साम्येन च सम्भवति ।**

| | | | |
|---|---|---|---|
| | एकाश्रयस्थितिसङ्कराः | साजात्येउक्तक्रमेण······ | ५१ |
| | | वैजात्ये उक्तक्रमेण······ | १२७५ |
| | संदिग्ध भावसङ्कराः | साजात्ये उक्तक्रमेण...... | ५१ |
| | | वैजात्ये उक्तक्रमेण...... | १२७५ |
| संसृष्टयः | | साजात्ये उक्तक्रमेण...... | ५१ |
| | | वैजात्ये उक्तक्रमेण...... | १२७५ |
| | | | ५३०४ |
| | | शुद्धाः | ५१ |
| | | | ५३५५ |

**दिग् दर्शनरूप उदाहरण—**

श्रीहरि के आगमनोत्सव को शोभित करनेके लिए चपलायताक्षी उन्नतस्तनयुगशोभिता गोपी, द्वारदेश में स्थित होकर पूर्णकुम्भ नवनीरज तोरणश्रीसम्भारमङ्गलाचरण को स्वाभाविक रूप से निष्पन्न किये । यहाँ वक्षोजद्वय ही पूर्णकुम्भ है, दृष्टि ही नवनीरज तोरण स्रज के द्वारा रूपक ध्वनि रसध्वनि का एकाश्रयार्थ प्रवेश से सङ्कर हुआ । पदगत ध्वनि संसृष्टि का उदाहरण,–यह वसन्त वर्णन है—राधादि चन्द्रवदनारविन्द सौरभ से गर्वित समीरण युक्त सतृष्ण कृष्ण के आनन्द दायक वसन्त के दिन समूह आनन्द विस्तार कर रहे हैं, यहाँ 'राधा' इत्यादि पद से लक्षणामूल ध्वनियों की संसृष्टि हुई है ॥१४॥

गुणीभूत व्यङ्ग्य को कहते हैं, वाच्यार्थ से अनुत्तम अथवा

१ २ ३

तत्र स्यादितराङ्गं काक्वाक्षिप्तञ्च वाच्यसिद्धव्यङ्गयं ।

४ ५ ६ ७

सन्दिग्ध-प्राधान्यं तुल्यप्राधान्यमस्फुटमगूढ़ं ।

८

व्यङ्गयमसुन्दरमेवं भेदा स्तस्योदिता अष्टौ ।।

इतरस्य रसादे रङ्गं रसादिव्यङ्गयं यथा—

कृष्णस्य वक्षसि च्छाया तव सेयं सखीक्ष्यतां ।

सपत्नीव करोत्येषा त्वद्विलासविड़म्बनं ।।

अत्र हास्यं शृङ्गारस्याङ्गं ।

मानोन्नतां प्रणयिनीमनुनेतुकाम-स्त्वत् सैन्यसागररवोद्धतकर्णतापः ।

हा हा कथं तव हरे रिपुराजधानी-प्रासाद-सन्तन्तिषु तिष्ठति कामिलोकः ।।

अत्रौत्सुक्यत्रास-सन्धिसंस्कृतस्य करुणस्य हरिविषयरतावङ्गभावः ।

---

समान, निकृष्ट होने से ध्वनिभिन्न काव्य को गुणीभूत व्यङ्गय कहते हैं। अपर काव्य अनुत्तमत्व न्यूनता से समता से सम्भव है।

गुणीभूतव्यङ्गय का विभाग नाम, प्रकार से कहते हैं। व्यङ्गयवस्तु—रसभावादि के परिपोषक होने पर (१) काक्वाक्षिप्त (२) (विकृत कण्ठस्वर से आक्षिप्त वाच्यार्थ के तुल्य होने से) वाक्य-सिद्धव्यङ्गय (३) ( मुख्यार्थ, निष्पत्तिका अङ्ग होने से ) संदिग्ध प्राधान्य (४) वाच्यार्थ व्यङ्गयार्थ का प्राधान्य संशय के विषय होने से ) तुल्यप्राधान्य (५) वाच्यार्थ के समान निश्चित प्राधान्य से) अस्फुट (६) निपुण बुद्धि वाले के लिए भी अज्ञात होने से ) अगूढ़ (७) स्थूल बुद्धिमान् व्यक्ति द्वारा अनायास ज्ञात होने से) असुन्दर व्यङ्गय (८) यह आठ भेद हैं।

रसादि व्यङ्गय का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—सखि ! कृष्ण के वक्ष में तुम्हारी छाया सपत्नी की भाँति दिखाई देती है, यह विलास का अनुकरण भी करती है। यहाँ शृङ्गार रस का अङ्ग

अनङ्गार्चिर्भिन्ना त्वदतिसुभगाङ्गामृतमना
मुरल्यां रागश्रीपरिमलकुलं संभृतवती ।
सदा श्यामां कान्तिं दिशि विदिशि चाभावय
मतो मयाप्तं कृष्णत्वं तदपि नहि कृष्ण त्वमभितः ।।

अनङ्गार्चि भिन्नेत्यादौ कृष्णत्वं प्राप्तं मयेत्यवचनेऽपि शब्दशक्तेरेव कृष्णसादृश्यमवगम्यते ।।१५।।

वचनेन तु सादृश्यहेतुक--तादात्म्यारोपणमाविष्कुर्व्वता तद्गोपनमपाकृतं । तेन वाच्यं सादृश्यं वाक्यार्थान्वयोपपादकतयाऽङ्गतां नीतं ।।१।।

---

हास्य है। भावाङ्गरसका उदाहरण—हे हरे ! रिपुराजधानी के प्रासाद समूह में कामीलोक प्रणयिणी का मान प्रशामन के लिए जब प्रयत्न रत होते हैं, उस समय आप की सेनाओं के कोलाहल कामीजनों का कर्णशूल हो जाता है। वे लोक इस अवस्था में कैसे रहेंगे ? इसश्लोक में उत्सुकता त्रास, का मिलनसे करुण रस श्रीहरि विषयक रति में अङ्ग भाव को प्राप्त किया।

उक्त श्लोक के प्रथम चरण में औत्सुक्य, द्वितीय चरण में त्रास ध्वनित हुआ है। दोनों के मिलन से पुष्ट हा हा पद से प्रकाशित करुण रस श्रीहरि विषयक रति में अङ्गभाव हुआ है। यहाँ औत्सुक्यं प्रभृति व्यङ्ग्य समूह वाच्यार्थ से न्यूनचमत्कार कारि होने से गुणीभूत व्यङ्ग्य हुआ है।

हे कृष्ण ! अनङ्गानल एवं मुरली राग से ग्रस्त होकर चारों ओर श्याम कान्ति की चिन्ता करते करते मैं कृष्णवर्ण हो गई हूँ। किन्तु तुम तो मेरे चारों ओर नहीं हो। "यहाँ अनङ्गार्चिभिन्ना" इस से मैं कृष्णत्व को प्राप्त किया हूँ, इस वचन से शब्द शक्ति से ही कृष्ण सादृश्य का बोध होता है ।।१५।।

कथन के द्वारा ही सादृश्य के कारण तादात्म्यारोपण प्रकट हुआ है, गोपन नहीं हुआ है। इसलिए वाच्य सादृश्य, वाक्यार्थ का उपपादक होकर अङ्ग बन गया है। व्यङ्ग्यार्थ सादृश्य का वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारित्व न होने से गुणीभूतव्यङ्ग्य हुआ है ।।१।।

काक्वाक्षिप्तं यथा—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद् दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥

अत्र मथ्नाम्येवेत्यादि व्यङ्ग्यं. वाच्यस्य निषेधस्य सहभावेनैवस्थितं ॥२॥

वाच्यसिद्धचङ्गं यथा—

दीपयन् रोदसी-रन्ध्रमेष ज्वलति सर्व्वतः ।
प्रताप स्तव गोविन्द वैरिवंशदवानलः ॥

अत्रान्वयस्य वेणुत्वारोपो व्यङ्ग्यः । प्रतापस्य दावानलत्वारोप-सिद्धचङ्गं ॥३॥

सन्दिग्ध-प्राधान्यं यथा—

रहस्तु किञ्चित् परिवृत्तधैर्य्य श्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमा मुखे विम्वफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ।
अत्र विलोचन व्यापार-चुम्बनाभिलाषयोः प्राधान्ये सन्देहः ॥४॥

---

काक्वाक्षिप्त का उदाहरण–युधिष्ठिर को सन्धि करने में प्रवृत्त देखकर, भीम ने सहदेव को कहा, समर में कौरवशत को ध्वंस नहीं करूँगा ? दुःशासन का रुधिर पान नहीं करूँगा ? दुर्योधन के उरू भङ्ग नहीं करूँगा ? तुम्हारे राजा पाँचगाँव को लेकर सन्धिकरें। यहाँ मथ्नाम्येव " यह वाक्य व्यङ्ग्य है, निषेधात्मक वाच्य के साथ अवस्थित है । "न मथ्नामि " यह निषेध के साथ प्रतीति होती है, प्रतीयमान व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा विचार से प्रतीयमान माधुर्य्य अधिकतर है,—इस प्रकार गुणीभूत व्यङ्ग्य हुआ है ॥२॥

वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग्य का उदाहरण–यह श्रीगोविन्द देव की स्तुति है, हे गोविन्द वैरिवंशदवानल स्वरूप तुम्हारा प्रताप स्वर्गमर्त्य के अन्तराल को उद्‌भासित कर सर्वत्र प्रकाशित है । यहाँ वंश शब्द से वाँस का बोध व्यञ्जना से हुआ,प्रताप में दावानलत्वा-रोप सिद्धचङ्ग है । यहाँ परस्पर का आरोप परस्पर के प्रति कारण है, इस लिये अभेद वाच्यार्थ का सिद्धि निर्वाहक हुआ है ॥३॥

संदिग्ध प्रामाण्य का उदाहरण—महादेव ने, चन्द्रोदय से

तुल्यप्राधान्यं यथा—

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये।
जामदग्न्य स्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ।।

अत्र जामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्रियाणामिव रक्षसान् क्षणात् क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यं ।।५।।

अस्फुटं यथा—

भावनीयो न शस्त्रेण लोभनीयो धनेन न।
तस्माद् वशयितुं शक्य स्तेन तेन च नाजितः ।।

---

समुद्र जिस प्रकार तरङ्गायित होता है। तद्रूप धैर्य्य को ईषत् शिथिल कर विम्बाफल के सदृश अधरोष्ठ युक्त उमा के मुख में लोचनत्रय को स्थापन किया। विलोचन व्यापार विम्बफलाधरोष्ठ उमामुख में दृष्टिपात ही बाच्य है। मुख मात्र में दृष्टिपात होने से चुम्बनाभिलाष-व्यञ्जित हुआ, शृङ्गार व्यञ्जक होने से क्या विलोचन व्यापार का प्राधान्य है, अथवा व्यङ्ग्यार्थ प्राप्त चुम्वनाभिलाष का प्राधान्य है ? यह सन्देहास्पद है। व्यङ्ग्यस्य प्राधान्य सन्देह निबन्धन गुणीभूत व्यङ्ग्य हुआ, और अतिशयचमत् कारिता भी इस में नहीं रही, सन्देह के कारण ही यहाँ तुल्य प्राधान्य लक्ष्य नहीं है, प्राधान्य तुल्यता का निश्चय ही है ।।४।।

तुल्य प्राधान्य का उदाहरण— महावीर चरित में रावण को पत्र लिखकर परशुरामजीने कहा—ब्राह्मण का उत्पीड़न न करना आप सब राक्षसों के लिए हितकर है। अन्यथा मित्र, सखा परशुराम असन्तुष्ट होंगे। यहाँ दुर्मनायते—इस से परशुराम असन्तुष्ट होकर क्षत्रिय कुल की भाँति राक्षसकुल को भी विनष्ट करेंगे, दुर्मनायते मित्र, यह दोनों के वाच्य व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता समान रूप से है' अर्थात् समान चमत्कारिता है, अतएव व्यङ्ग्यर्थ का वाच्यार्थ से उत्तम न होने से गुणीभूत व्यङ्ग है ।।५।।

अस्फुट व्यङ्ग्य का उदाहरण—श्रीमान् अजित युद्ध द्वारा पराजित नहीं होते हैं, न तो धन से ही वशीभूत होते हैं, अतः उन

अत्र सोऽयं भक्तिमन्तरेण न वशयितुं विचारणीय इति व्यङ्ग्यं । व्युत्पन्नानामपि झटित्यस्फुटं ।।६।।

गोष्ठधर्म्मं परित्रातुः पुत्र्येणानेन तादृशा ।
अहं वृतवती वृन्दे वाच्यं न किमतः परं ।।

अत्र तेन बलादिव स्वस्य भागो वाक्यशेषे प्रतीयमानोऽपि वाच्यायमान इत्यगूढ़ं ।।७।।

वाणीर कुड़ुङ्गुड्डीण सउनि कोलाहलं सुणन्ती ए ।
घर कम्म वाव्वडा ए सीअइ अअं विसाहाए ।।*

इत्यादौ दत्तसङ्केतः श्रीकृष्ण स्तत्र कुञ्जे प्रविष्ट इत्येतद् विशाखा

---

उन उपायों से अजित को वश करने का प्रयास व्यर्थ है। यहाँपर अजित--भक्ति को छोड़कर किसी से भी वशीभूत नहीं होते हैं, यह विचार्य विषय ही व्यङ्ग्य है, निपुण व्यक्ति के लिए भी यह दुर्बोध्य है, अध्ययन समकाल में बोध नहीं होता हैं, वाच्यार्थ से अनुत्तमता निबन्धन यह गुणीभूत व्यङ्ग्य है।६। गोपी कहती है— हे वृन्दे-व्रजराज नन्दन कृष्ण से ही मैं वृत हो गई हूँ, इसके आगे कहना ही क्या है, यहाँ श्रीकृष्णने बलपूर्वक ही विहार किया है, वाक्य के अन्तिम भाग से यह व्यञ्जित होता है, किन्तु वह तो शब्द से ही बोध होता है, अतः यह गूढ़ नहीं है ।।७।। असुन्दर व्यङ्ग्यका दृष्टान्त

* वाणीर कुञ्जोड्डीन शकुनि कोलाहलं शृण्वन्त्याः
गृहकर्मव्यापृतायाः सीदत्यङ्गं विशाखायाः ।। *

वेतस कुञ्ज से हठात् पक्षीयों को उड़ते देख कर गृह कर्मरत विशाखा के अङ्गसमूह आनन्द से आप्लुत होकर गृहकर्म करने में असमर्थ रहे।

यहाँ श्रीकृष्ण प्रिया विशाखा, कृष्ण के संकेत से जानगई कि कृष्ण कुञ्ज में आगए, इस प्रकार व्यञ्जनावृत्ति लब्ध अर्थ से उस का हृदय आनन्द विवश होगया, इस में वाच्य का ही चमत्कार है, और सहृदयव्यक्तिगण ही जानने में समर्थ हैं। यहाँ व्यङ्ग्य असुन्दर है, वाच्य सिद्धाङ्ग के साथ इसका ऐक्य नहीं है, यहाँ अङ्गावसाद

नाम्नी तत्प्रिया व्रजाङ्गना जानीते स्मेति व्यङ्ग्यात्तस्या हृदयं सीदतीति वाच्यस्य चमत्कारः सहृदयसंवेद्य इत्यसुन्दरं तद्व्यङ्ग्य ॥८॥

किञ्च, यो दीपकतुल्ययोगितादिषु उपमाद्यलङ्कारो व्यङ्ग्यः, स गुणीभूत-व्यङ्ग्य एव । काव्यस्य दीपकादिमुखेनैव चमत्कारात् । तदुक्तं ध्वनिकृता--

**अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते ।**
**तत्परत्वं न काव्यस्य नासौ मार्गो ध्वने मंतः ॥**

यत्र च शब्दान्तरादिना गोपन-कृतचारुत्वस्य विपर्य्यासः ॥१॥

दृष्ट्या केशव ! गोपरागहृतया किञ्चिन्न दृष्टं मया ।
तेनैव स्खलितास्मि नाथ ! पतितां किं नाम नालम्बसे ।

---

रूप वाच्यार्थ का आनन्द वेगादि द्योतक है, पूर्वोक्त स्थल में वैसा नहीं है, अतः यहाँ वाच्यार्थ ही सुन्दर है वहाँ पर ही व्यङ्ग्य असुन्दर है, यहाँ पर वाच्यार्थ, अपरार्थ का प्रकाशक नहीं होता है, वहाँ वाच्य-सिद्धयङ्ग्य है ।८। और भी दीपक तुल्ययोगिता प्रभृति में उपमादि-अलङ्कार व्यङ्ग्य होते हैं,वे गुणीभूत व्यङ्ग्य हैं । दीपकादि अलङ्कार से ही काव्य की चमत्कारिता है । ध्वनि कारने कहा भी है, स्थल विशेष में व्यञ्जना से अलङ्कारान्तर की प्रतीति होने पर भी काव्यात्मक वाक्य का विषय अलङ्कारान्तर नहीं है,यह ध्वनिका विषय नहीं है, किन्तु वह गुणीभूत व्यङ्ग्यका ही प्रकार विशेष है । असुन्दर का प्रकार विशेष को दिखाते हैं—यहाँ शब्दान्तर अथवा वाक्यान्तर से हठात् व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है, जहाँ व्यञ्जनावृत्तिलभ्य अर्थ का चमत्कारातिशय्य नहीं होता है, वहाँपर भी गुणीभूतव्यङ्ग्य को मानना ठीक है ॥१॥

गोपी बोली, हे केशव ! मैं गोधूलि से कुछ नहीं देख पाती हूँ ! तुम गोपाल हो, और मैं गोपी, तुम्हारे प्रति स्वाभाविक अनुराग हो जाने से कुलादिका अनुसन्धान मैंने नहीं किया, पथ को देख नहीं पाती हूँ । मैं गिरगई हूँ, हे नाथ ! तुम तो रक्षक हो, तुम क्या गिरी हुई को उठाओगे ? अन्यत्र,—अनुराग से मैंने पातिव्रत्य को छोड़ दिया है, आश्रित को क्या नहीं अपनाओगे ? हे नाथ ! यह कहो कि—

एकस्त्वं विषमेषुखिन्नमनसां सर्व्वाबलानां गति–
गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद् गोष्ठे हरि र्वं श्चिरं ।।

अत्र गोपरागादिशब्दानां हे केशव ! गोपेत्यादि व्यङ्ग्यानां सलेशपदेन स्फूटतयावभासः । सलेश–पदपरित्यागे पुन र्ध्वनिरेव । किञ्च, यत्र यत्र वस्त्वलङ्कार रसादिरूपव्यङ्ग्यानां रसान्तरे गुणीभावः, तत्र (रसे) प्रधानकृत एव काव्य-व्यवहारः । तदुक्तं तेनैव—

**प्रकारोऽपि गुणीभूत व्यङ्ग्योपि ध्वनिरूपतां ।**
**धत्ते रसादि–तात्पर्यपर्य्यालोचनया पुनः ।।२।।**

यत्र तु—कृष्णारुचां कूलविसारिणीनां तमालमालाभिररीकृतानां ।

---

परस्त्री को मैं कैसे ग्रहण करूँ ? तो देखो ! मैंने ऊँचनीच रास्ते में गिरकर क्लान्त हो गई हूँ, दुर्वल भी हूँ, तुमतो अबला की एकमात्र गति हो, रक्षिता हो, अतः रक्षणेच्छा से परस्त्री स्पर्श से दोष नहीं होगा, अन्यत्र कामशरसे पीड़ित हूँ । गोष्ठ में गोपी ने श्लेष से जिस कृष्ण को उक्त बात बोली, वह कृष्ण सर्वदा तुम सब की रक्षा करें । यहाँ गो परागादि शब्द—हे केशव गोपेत्यादि व्यङ्ग्य की सलेश शब्द से स्पष्ट रूप से प्रतीति होती है, सलेशपद को छोड़ने से शब्दशक्तिमूल वस्तु ध्वनि ही होगी, गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं । और भी जहाँ जहाँ वस्तु अलङ्कार रस भावादि का रसान्तर में गुणीभाव अप्राधान्य होता है, वहाँ प्रधानानुयायिनीहि जनव्यवहारा भवन्ति" मुखिया के अनुगत होकर ही लोक चलते रहते हैं, इस नियम से काव्य व्यवहार होता है, अतः करुण रस में शृङ्गार गौण होने से वह करुण काव्य ही होगा ध्वनिकारने कहा भी है–गुणीभूत व्यङ्ग्य प्रकार रसादि बोधक रूप से कवि के द्वारा उच्चारित होने से भी अनुसन्धान से वह ध्वनि रूपता में पर्यवसित होता है । अयं स रसनोत्कर्षो" इत्यादि नियम से गुणीभूतव्यङ्ग्य शृङ्गार का ध्वनित्व होने से भी शृङ्गार काव्य न होकर करुण प्राधान्य से करुण काव्य ही होगा ।।२।।

अन्तःस्थिता रात्रिधिया रमण्यः श्रीकान्तमारादभिसारयन्ति ।।

इत्यादौ रसादीनां कृष्णाकूलादि वस्तु मात्रेऽङ्गत्वं । तत्र तेषामतात्पर्य विषयेत्वेपि तैरेव गुणीभूतैः काव्यव्यवहारः। यदुक्तं चण्डिदास पण्डितेन— काव्यार्थस्याखण्डबुद्धिवेद्यस्य तन्मयीभावनास्वाददशायां गुणप्रधानभावाभास स्तावन्नानुभूयते, पश्चात् प्रकरणादि-पर्य्यालोचनया भवन्नप्यसौ न काव्य-- व्यपदेशं व्याहन्तुमीश स्तत्स्यास्वाद-मात्रायत्तत्वात् ।

## केचिच्चित्राख्यं तृतीयं काव्यभेदमिच्छन्ति—तदाहुः

---

जहाँ मिश्रण है, वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य को भी काव्य मानते हैं- उदाहरण—कालिन्दीकूलस्थित तमालवृक्षों की छाया से अन्धेरा छा जाने से कुञ्जस्थित गोपीगण रात्रि बुद्धि से श्रीकृष्ण मिलन के लिए अभिसार करने लगी, यहाँ रसादि कृष्णाकूलादिवस्तुवर्णन में अङ्ग बन गए हैं, वह तात्पर्य विषय न होने पर भी गुणीभूतव्यङ्ग का भी काव्यत्व व्यवहार समीचीन है। पण्डित श्रीचण्डिदासने भी कहा है, काव्यार्थ का आस्वादन अखण्डरूप से ही होता है, आस्वादन के समय गुण प्रधान भाव नहीं होता है, पश्चात् प्रकरणादि की पर्य्यालोचना से गौणमुख्य भाव का अनुभव होने पर भी काव्य सज्ञा प्राप्त करने में विरोध नहीं होता है, काव्य का स्वरूप ही आस्वादमात्र है।

काव्य प्रकाशकार का मत निरसन के लिए कहते हैं—कुछ व्यक्ति चित्राख्य काव्य मानते हैं, उन के मत में काव्य उत्तम मध्यम अधम भेद से तीन प्रकार हैं। ध्वनिकाव्य—उत्तम, गुणीभूत काव्य मध्यम, व्यङ्ग्यार्थ रहित काव्य-चित्राख्य-अधम है। यहाँ अव्यङ्ग्य शब्द से—व्यङ्ग्याभाव अर्थ यदि हो तब काव्य ही नहीं होगा, ईषद् व्यङ्ग्य-यदि हो, तब-आस्वाद्यव्यङ्ग-अनास्वाद्य-व्यङ्ग्य है, ईषद् व्यङ्ग्य होने से ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्य में अन्तर्भाव होगा, यदि आस्वाद्य हो तो-अक्षुद्रत्व होगा, क्षुद्र आस्वाद्य नहीं होता है। ध्वनि कारने कहा भी है—प्रधान एव गौण रूप से ध्वनि का ही भेद है। उस से भिन्न को चित्र काव्य कहते हैं, जो कि वाक्यमात्र ही है।

'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतमिति ।

इति रसामृतशेषे तृतीयः प्रकाशः ।

# ❀ चतुर्थः प्रकाशः ❀

## [ अलङ्कार-निर्णयः ]

अथावसर-प्राप्तानलङ्कारानाह—

**शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।**
**रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारा स्तेऽङ्गदादिवत् ॥१॥**

यथाङ्गदादयः शरीरशोभातिशायिनः शरीरिणमुपकुर्वन्ति, तथानुप्रासोपमादयः शब्दार्थशोभातिशायिनो रसादेरुपकारकाः । अलङ्कारा अस्थिरा इति नैषां गुणवदावश्यकस्थितिः ॥

---

अतः "अव्यङ्ग्यमवरं स्मृतम्" यह कथन असमीचीन है ॥

इति रसामृतशेषे तृतीयः प्रकाशः ।

# ❀ चतुर्थ प्रकाशः ❀

## ✻ अलङ्कारनिर्णयः ✻

"अवश्य वक्तव्योऽवसर" इस रीति से ध्वनि प्रकरण कथन के बाद ही अलङ्कार निरूपण समीचीन है, अतः अलङ्कार प्रकरण को कहते हैं, विशेष धर्म को जानने के लिए सामान्य धर्म को जानना प्रथम आवश्यक है, अतः अलङ्कार, का सामान्य लक्षण करते हैं, अलङ्कार, शरीर को जिस प्रकार शोभित करता है, उस प्रकार रस, रसाभास, भाव, भावाभास, सन्धि शावल्यादि को उत्कर्षमण्डित करने वाले को अलङ्कार कहते हैं, यह शब्दार्थ का अस्थिर धर्म है, शब्द में अर्थ में नियम रहित होकर रहता है, एवं काव्य सौन्दर्य को अतिशय रूप से बढ़ाता है, अलङ्क्रियते काव्यं एभिः" इति

[ शब्दालङ्काराः ]

शब्दार्थयोः प्रथमं शब्दस्य बुद्धिविषयत्वात् शब्दालङ्कारेषु वाच्येषु शब्दार्थालङ्कारस्यापि पुनरुक्तवदाभासस्य शब्दालङ्कार-मध्ये लक्षितत्वात् प्रथमं तमेवाह —

---

अलङ्काराः" करण व्युत्पन्न अलङ्कार शब्द है, अतः साक्षात् परम्परा द्वारा रसादि का उत्कर्ष हेतु होकर अनियत शोभातिशायि काव्य धर्म को अलङ्कार कहते हैं, जिस प्रकार अङ्गद हार प्रभृति शरीर शोभा को बढ़ाकर आत्मा को प्रसन्न करते हैं, उस प्रकार अनुप्रास उपमादि अलङ्कारगण शब्दार्थ की शोभा को विस्तारकर रस का उत्कर्षस्थापन करते हैं, "अस्थिरा" शब्द की व्याख्या करते हैं–गुण के समान आवश्यकी स्थिति अलङ्कारों की नहीं है, अर्थात्–यह शब्दार्थ धर्म है। रसादिमति शब्द-अर्थमें गुण की स्थिति अत्यावश्यकी है, अलङ्कार की स्थिति वैसी नहीं होती है, अलङ्कार की स्थिति कादाचित्की होती है ॥१॥

शब्दालङ्काराः–अर्थ ज्ञान के पूर्व में शब्द ज्ञान की आवश्यकता है, शब्द ज्ञान के पश्चात् संकेत के द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है, अतः शब्दालङ्कार को पहले कहना उचित है, प्राचीन रीति के अवलम्बन से पुनरुक्तवदाभास का निरूपण पहले करते हैं, अन्यथा काव्य प्रकाश की भाँति इसको भी शब्दार्थालङ्कार में अन्तर्भुक्त ही करना होगा। जिसमें शब्द भिन्न हो, और अर्थ एक प्रकार होने से पुनरुक्त की भाँति प्रतीति होती है, उसको पुनरुक्तवदाभास कहते हैं।

उदाहरण—भुजङ्ग कुण्डली चन्द्रमा कर्पूर की भाँति धवल वर्ण, मनोहर शिव, विपत्ति से मेरी और विश्व की रक्षा सदा करें। यहाँ आपातमात्रसे भुजङ्ग—कुण्डली शब्द से सर्प अर्थ होने से पुनरुक्त का भान होता है, अर्थानुसन्धान से भुजङ्ग रूप कुण्डल है, जिन का ऐसा अर्थ होता है, पायात् अव्यात् यहाँ क्रियागत अलङ्कार है, अपाय से रक्षा करें, यह अर्थ है, भुजङ्ग कुण्डली स्थलमें प्रथम भुजङ्ग शब्द का परिवर्त्तन हो सकता है, हरः शिवः स्थल में शिव शब्द का

**आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्येन भाषणं ।**
**पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः ॥२॥**

यथा—भुजङ्ग--कुण्डलीव्यक्त शशिशुभ्रांशुशीतगुः ।
जगन्त्यपि सदा पायादव्याच्चेतोहरः शिवः ॥

अत्र 'भुजङ्गकुण्डल्यादि' शब्दानामापातमात्रेण सर्पाद्यर्थतया पौनरुक्त्य प्रतिभासनं । पर्य्यवसाने तु भुजङ्गरूपकुण्डलं विद्यते यस्येत्याद्यन्यार्थत्वं । पायादव्यादित्यत्र क्रियागतोऽयमलङ्कारः । पायादित्यस्यापायादितिपर्य्यवसानात्। भुजङ्गकुण्डलीति शब्दयोः प्रथमशब्दस्यैव परिवृत्तिसहत्वं । हरः शिव इति द्वितीयस्यैव । शशिशुभ्रांश्विति द्वयोरपि । 'भाति सदा न त्याग' इति न द्वयोरपीति शब्दपरिवृत्तिसहत्वासहत्वाभ्यामस्योभयालङ्कारत्वं ॥१॥

**अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत् ॥३॥**

स्वरमात्र--सादृश्यन्तु वैचित्र्याभावान्न गणितं । रसाद्यनुगतत्वेन प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रासः ॥२॥

---

परिवर्त्तन सहत्व है, "शशि शुभ्रांशु" यहाँ दोनों का ही परिवर्त्तन सहत्व है, भाति सदा न त्याग„ यहाँ भी दोनों की परिवर्त्तन योग्यता है, इस प्रकार परिवर्त्तनसहत्व असहत्व से ही इस में शब्दार्थ-अलङ्कार लक्षण प्राप्त है ॥२॥

शब्दालङ्कार से अति प्रसिद्ध अनुप्रास अलङ्कार का लक्षण करते हैं, स्वरका वैषम्य होने पर भी शब्द साम्य—व्यञ्जन वर्ण साम्य होने से अनुप्रास अलङ्कार होता है । स्वर साम्य को अलङ्कार नहीं मानते हैं, व्यञ्जन वर्ण के साम्य का अभाव से केवल स्वर वर्ण के साम्य से अनुप्रास नहीं होता है ।

रसादि का अनुकूल होना अनु शब्द का अर्थ है, प्र-शब्द का प्रकर्ष अर्थ है, न्यास शब्द से स्थापन, प्रयोग अर्थ होता है । अतः रसादि का अनुगत रूप से प्रकृष्ट न्यास को अनुप्रास कहते हैं ॥३॥

व्यञ्जनवर्ण समूह का एकबार मात्र अनेक प्रकार से साम्य होने से छेकानुप्रास होता है, एकविध आकृति ही काम्य है, अन्यथा

**छेको व्यञ्जन-संघस्य सकृत् साम्यमनेकधा ॥४॥**

छेक श्छेकानुप्रासः। अनेकधेति रसः सर इत्यादेः क्रमभेदेन सादृश्यं नास्यालङ्कारस्य विषयः।

यथा—सञ्चिन्वन् हरिगन्धानन्धान् कुर्वन् पदे पदे भ्रमरान्।
विहरति विरह--म्लापितगोपालीपालि-पावनः पवनः॥

अत्र गन्धानन्धानिति संयुक्तयोः गोपालीपालीत्यस्यसंयुक्तयोः पावन-पवन इति बहूनां व्यञ्जनानां सकृदावृत्तिः। छेको विदग्धस्तत् प्रयोज्यत्वात्-छेकानुप्रासः।

**अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाप्यनेकधा।**
**एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास इष्यते ॥५॥**

---

"रसः-सरः" में क्रम भेद से स-र का सादृश्य होने परभी छेकानुप्रास नहीं हुआ। उदाहरण—विरह म्लापित गोपाली पाली पावन पवन,—श्रीकृष्ण के अङ्ग की गन्ध से भ्रमर को विभोर कर प्रवाहित होता रहता है। यहाँ गन्धानन्धान्''न्ध' संयुक्त की 'गोपाली पाली" असंयुक्त की, पावन--पवन, अनेक व्यञ्जनों की सकृदावृत्ति है, छेक शब्द का अर्थ-विदग्ध सुरसिक पण्डित है, उनका प्रिय होने से ही छेकानुप्रास हुआ है ॥४॥

अनेक व्यञ्जन वर्ण का स्वरूपतः सकृत् साम्य होनेसे वृत्त्यनुप्राम होता है, तथा अनेक व्यञ्जन का स्वरूपतः असकृत् साम्य होने से वृत्त्यनुप्रास होता है। अथवा अनेक व्यञ्जनों का अनेकधा स्वरूपतः क्रमतश्च असकृत्साम्य को वृत्त्यनुप्रास कहते हैं, एक व्यञ्जन वर्ण का सकृत् साम्य--वृत्त्यनुप्रास है। अपि शब्द असकृत् का सूचक है—अतः एक व्यञ्जन वर्ण का असकृत् साम्य वृत्त्यनुप्रास है। उदाहरण—उन्मीलन्मधुगन्ध लुब्धमधुप व्याधूतेत्यादि। रसोल्लासैरमी यहाँ र, स, का एकधासाम्य है, किन्तु क्रम से नहीं, द्वितीय चरण में क, ल, का असकृत् उस क्रम से ही साम्य है, प्रथम चरण में एक म'कार का सकृत् 'ध' कार का असकृत् साम्य है,

एकधा स्वरूपत एव, न तु क्रमतोऽपि। अनेकधा स्वरूपतः, क्रमतः। सकृदपीत्यपिशब्दादसकृदपि। यथा—

उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतेत्यादि। अत्र रसोल्लासैरमी इति रसयोरेकधैव साम्यं। न तु तेनैव क्रमेणापि। द्वितीये चरणे कलयोरसकृत्तेनैव क्रमेण। प्रथमे एकस्य 'म' कारस्य सकृद्धकारस्यासकृत्। रसवती वर्णरचना वृत्तिः। तदनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यसनाद्वृत्त्यनुप्रासः ॥५॥

**उच्चार्य्यत्वाद् यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके।**
**सादृश्यं व्यञ्जनस्यैतच्छ्रुत्यनुप्रास इष्यते ॥६॥**

यथा — दृशा दग्धं मनसिजं दृशा जीवयदत्र यः।
तं विरूपाक्षजयिनं जीयासुः किं व्रजाबलाः॥

अत्र जीवयज्जयिनं जीयासुरित्यत्र जयकारयो रेकस्थाने तालावुच्चार्य्यत्वात् सादृश्यं। एवं दन्त्यकण्ठ्यादीनामप्युदाहार्य्यं। एष च सहृदायानामतीव-श्रुतिसुखावहत्वात् श्रुत्यनुप्रासः।

---

रसवती वर्णरचना को वृत्ति कहते हैं, उसके अनुगत रूप से उत्कर्ष के साथ न्यास ही वृत्त्यनुप्रास है (५)

तालु, दन्त, औष्ठ–मूर्द्ध कण्ठ से उच्चारित व्यञ्जन वर्ण के सादृश्य को श्रुत्यनुप्रास कहते हैं।

दृशा दग्धं मनसिजं दृशा जीवयदत्र यः।
तं विरूपाक्षजयिनं जीयासुः किं व्रजबालाः"

यहाँ जीवयत जयिनं जीयासुः" जयकार का उच्चारण स्थान तालु होने से उस में सादृश्य है, यह अलङ्कार सहृदय व्यक्तियों का अतीव श्रुति मधुर होने से इसे श्रुत्यनुप्रास कहते हैं ॥६॥

प्रथम स्वर युक्त व्यञ्जन वर्णों की आवृत्ति पाद एवं पद के अन्त में हो तो अन्त्यानुप्रास होता है, यथावस्थ शब्द से यथा सम्भव अनुस्वार विसर्ग स्वरसंयुक्त अक्षर को जानना होगा। यह प्रायशः पाद एवं पद के अन्त में होता है, उदाहरण पादान्तका—केशः काशस्तवक विकासः कायः प्रकटित करभविलास चक्षुर्दग्धवराटक कल्पं त्यायति तदपि च नहि हरिमल्पं" दधाना पदान्तका उदाहरण

**व्यञ्जनं चेद् यथावस्थं सहायेन स्वरेण तु ।**
**आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव त्वत् ॥७॥**

यथावस्थमिति यथासम्भवमनुस्वारविसर्गस्वरसंयुक्ताक्षरविशिष्टं । एष च प्रायेण पादस्य पदस्य वान्ते प्रयोज्यः । पादान्तगो यथा—

केशः काशस्तवक-विकासः कायः प्रकटित-करभ-विलासः ।
चक्षु र्दग्धवराटक-कल्पं ध्यायति तदपि च न हि हरिमल्पं ॥

पदान्तगो यथा—

मन्दं हसन्तः पुलकं वहन्तः कृष्णप्रधानाः समितिं दधानाः ।
सर्वां स्त्रिलोकान् कृततद्विलोकान् संमोदपुष्टान् विदधुः सुतुष्टान् ॥

**शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भवेत्तात्पर्य्यमात्रतः ।**
**लाटानुप्रास इत्युक्तः ॥८॥**

---

मन्दं हसन्तः पुलकं वहन्तःकृष्णं प्रधानाःसमितिं दधानाः सर्वांस्त्रिलोकान् कृततद्विलोकान् संमोद पुष्टान् विदधुः सुतुष्टान् ॥७॥

लाटानुप्रास का निरूपण करते हैं, वक्ताके कथनाभिप्राय से जहाँ शब्दार्थ की पुनरुक्ति होती है, उसे लाटानुप्रास कहते हैं,

उदाहरण—स्मेरराजीव नयने ! नयने किं निमीलतः
पश्य निर्जित कन्दर्पं कन्दर्पं विभ्रतं हरिम् ॥

मानपरायणा के प्रति सखी की उक्ति, प्रस्फुटितकमलनयने ! नयनद्वय को मुद्रित कर क्या होगा ? कन्दर्पजयी हरि को देखो, कन्दर्पावेश से विभोर है, यहाँ विभक्त्यर्थ का पुनरुक्त न होने पर भी प्रातिपदिकांश के द्वारा प्रकाशित धर्मीभिन्न होने से लाटानु प्रास हुआ है, तस्य तु 'नयने नयने' यहाँ द्वितीय नयन शब्द, भाग्यवत्त्वादि गुणविशिष्ट रूप तात्पर्य से-भिन्नार्थ बोधक हुआ है,अथवा 'पदानां स पदस्यापि' लक्षण का उदाहरण—

यस्याः सविधे स हरि र्दवदहनस्तुहिनदीधिति स्तस्याः ।
यस्याः सविधे न हरिर्दवदहनः स्तुहिन दीधिति स्तस्याः ॥

यहाँ अनेक पदों की पुनरुक्ति हुई है, यह अलङ्कार लाटजन

यथा—स्मेरराजीवनयने ! नयने किं निमीलतः ।

पश्य निर्जितकन्दर्पं कन्दर्पं विभ्रतं हरिं ॥

अत्र विभक्त्यर्थस्यापौनरुक्त्येऽपि प्रातिपादिकांशद्योत्यधर्म्मिरूपस्य भिन्नार्थत्वाल्लाटानुप्रासत्वमेव । 'तस्य तु नयने नयने' इत्यत्र द्वितीय नयन शब्दो भाग्यवत्त्वादिगुणविशिष्टरूपतात्पर्य्यमात्रेण भिन्नार्थः । अथवा—

यस्याः सविधे स हरि र्दवदहन स्तुहिन-दीधिति स्तस्याः ।

यस्याः सविधे स हरि र्दवदहन स्तुहिन दीधिति स्तस्याः ॥

अतानेकपदानां पौनरुक्त्यं । एष प्रायेन लाट–जनप्रियत्वात् लाटानुप्रासः ।

'अनुप्रासः पञ्चधा मतः ।' ९ । स्पष्टं ।

**सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वर–व्यञ्जनसन्ततेः ।**

**क्रमेण तेनैवावृत्ति र्यमकं विनिगद्यते ॥१०॥**

---

(सुरसिकजन) प्रिय होने से लाटानुप्राम नाम से कहे जाते हैं ॥८॥

अनुप्रास पाँच प्रकार हैं-१ छेकानुप्रास, २ वृत्त्यनुप्रास, ३ श्रुत्यनुप्रास, ४ अन्त्यानुप्रास, ५ लाटानुप्रास ।९।

स्वर व्यञ्जन समूह के भिन्न भिन्न अर्थ होने पर भी पूर्व उच्चारण क्रमसे उसका पुनरुच्चारण होने से यमक कहते हैं । यहाँ दोनों पद की सार्थकता होती है, कहींपर एकपद निरर्थक होता है, कहीं दोनों पद निरर्थक होते हैं, इस को सूचित करने के लिए "सत्यर्थे" पदकाप्रयोग हुआ है, क्रम पूर्वक पुनरावृत्ति होना आवश्यक है, दमोमोद स्थल में क्रम नहीं है, अत: यमक अलङ्कार नहीं हुआ है, किन्तु वृत्त्यनुप्रास है । यह पद-श्लोक पादका कुछ अंश, श्लोकार्द्ध पद पादार्द्ध की आवृत्ति से यमक होता है, और इसके भेद भी अनेक होते हैं, दृष्टान्त का दिग् दर्शन इस प्रकार है—श्रीहरि ने वन गमन के अनन्तर वन वैभव को देखा, उसका विवरण इस प्रकार है—श्रीकृष्ण नव पलाशपलाशवनं स्फुटपरागपरागत पङ्कजं, मृदुलतान्त लतान्तं सुमनोभरैः ससुरभिं 'सुरभिं' अलोकयत् + वसन्त कालमपश्यत् । यहाँ पदावृत्ति है, पलाश पलाश, सुरभि 'यहाँ दोनों की ही सार्थकता है, 'लतान्त लतान्त" यहाँ प्रथम की निरर्थकता है,

अत्र द्वयोरपि पदयोः क्वचित् सार्थकत्वं, क्वचिदेकस्य पदस्य निरर्थकत्वं क्वचित् द्वयोरपि पदयो निरर्थकत्वं—इत्यत उक्तं सत्यर्थं इति। तेनैव क्रमेणेति दमोमोद इत्यादिरित्युक्तविषयत्वं सूचितं। एतच्च पदपदार्द्धवृत्तित्वेन पदाद्यावृत्तेश्चानेकविधतया प्रभूततमभेदं। किन्तु दिङ्मात्रं उदाह्रियते।

नवपलाशपलाशवनं हरिः स्फुटपरागपरागत पङ्कजं।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत् ससुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः॥

अत पदावृत्तिः-पलाशपलाशेति सुरभिं सुरभिमित्यत्र च द्वयोः सार्थकत्वं। लतान्तलतान्तेत्यत्र प्रथमस्य निरर्थकत्वं। परागपरागेति द्वितीयस्य। एवमन्यत्राप्युदाहार्यं। 'यमकादौ भवेदैक्यं डलो र्बवोर्लरो स्तथा'। इत्युक्तनयात् 'भुजलतां जड़तां हरिरानयदि'त्यत्र न यमकत्वहानिः।

अथ श्रीरसामृतसिन्धुकर्त्तृकृतानि द्व्यक्षराणि—

रसासारसुसारोरुरसुरारिः ससारसः।
संसारासिरसौ रासे सुरिरंसुः ससार सः॥१॥
चर्च्चोरुरोचिरुच्चोरा रुचिरोऽरं चराचरे।

---

"पराग पराग" में द्वितीय की निरर्थकता है,इस प्रकार उदाहरण का परिज्ञान अन्य रचना से करें।

कहीं पर वर्ण भेद होने परभी पारिभाषिक भेद को मानकर यमक का प्रदर्शन करते हैं, आदि पद से श्लेष अनुप्रासादि का ग्रहण हुआ है, ड-कार लकार—ब, वकार, ल—र का अभेद होता है, स्वरूपतः भेद होने से भी अभेद विहित है। इस से भुजलतां जड़तां हरिरानयत्" यहाँपर यमकता की हानि नहीं हुई। अनन्तर श्री रसामृतसिन्धु प्रणेता के रचित द्व्यक्षर उदाहरण समूह,—१ स प्रसिद्धः असौ असुरारिः नन्दसूनु रासे ससार जगाम। रसस्यासारो धारासम्पातो यस्मात् स रसासारः। सुसारौ ऊरू यस्य स सुसारोरुः। ततः कर्म्मधारयः। ससारसो लीला-कमलवान्। संसारासिः भक्ताविद्याच्छेत्ता। सुरिरंसुः शोभनरमणेच्छुः।

रसासार सुसारोरुरसुरारिः ससारसः।
संसारासिरसौ रासे सुरिरंसुः ससार सः॥१॥ मूलम्।

चौराचारोऽचिराच्चीरं रुचा चारुरचूचुरत् ॥२॥

**धरे धराधरधरंधाराधरधुरारुधि ।**
**धीरधी रारराधाधिरोधं राधा धुरंधरं ॥३॥**

एकाक्षरं—निनुन्नानोऽननं नूनं नानुनोन्नाननो नुनीः ।
नानेनानां निनुन्नेनं नानौन्नाना ननोननु ॥४॥

---

२--चर्च्चोरुरोचि रुच्चोरा रुचिरोऽयं चराचरे ।
चौराचारोऽचिराराच्चीरं रुचा चारुरचूचुरत् ॥

चौरस्येवाचारो यस्य स चौराचारो नन्दसूनुः; न तु चोरः स्व भक्तान् प्रमोदयितुं, तादृशक्रीड़ापर इत्यर्थः । अचिरात् त्वरया गोप-कन्यानां चीरं वस्त्रं अचूचुरत्, कीदृशः—चन्दनादि-चर्च्चया उरुत्-कृष्टं रोचि र्यस्य स चर्च्चोरुरोचिः । उच्चमुरो वक्षो यस्य स उच्चोराः । चराचरे जगत्यरमतिशयेन रुचिरः मनोज्ञः रुचा कान्त्या यत श्चारुः ।

३–धरे धराधरधरंधाराधरधुरारुधि ।
धीरधी रारराधाधिरोधं राधा धुरंधरं ॥३॥

राधा वार्षभानवी धरे गोवर्द्धनगिरौ धराधरधरं गिरिधारिणं नन्दसूनुमारराध स्वतारुण्यसम्भार--समर्पणेन आनर्चेत्यर्थः । कीदृशी राधा—धीरधीः स्थिरमतिः । धरे कीदृशे—धाराधराणामिन्द्रमुक्तानां मेघानां धुरं भारमारुणद्धीति तस्मिन् । धराधरं कीदृशं—आधिरोधं मानसव्यथा-निवारकं ॥

एकाक्षरका उदाहरण—निनुन्नानोऽननं नूनं नानुनोन्नाननो नुनीः ।
नानेनानां निनुन्नेनं नानौन्नाना ननोननु ॥४॥

ननु किमेवं गोपालकं कृष्णं बहुश्लाघसे' इति वदन्तं कश्चित् प्रति कश्चिदाह--ननु भो वादिन् ! नानानन श्चतुरास्यो ब्रह्मा इनं गोपालं नानौत् नास्तौत्, एतेन अपितु अस्तौदेव । नूनं निश्चितं । स कीदृशः—नानेनानां प्रभूनामिन्द्रादीनां निनुत् 'नुद प्रेरणे क्विवन्तः' सर्व्वदेवताधिपतिरपीत्यर्थः । स पुनः कीदृशः सन्नमौदित्याह–न अनूनं कृत्स्नं यथा स्यात्तथा उन्नानि अश्रुक्लिन्नानि आननानि मुखानि

**अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद् यदि ।**
**अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्ति स्ततो द्विधा ॥११**

द्विधा—श्लेषवक्रोक्तिः, काकुवक्रोक्तिरिति । क्रमेण यथा—

इयं का स्त्री स्त्रीत्वं भवति कथमीषत् पदमिदं
किमस्थाने सिद्धं तव वचनमस्थानकमिदं ।
न काकोरुद्भूतं भवति तदहो काकुरिह का ।
तदेवं दूतीवाग् जयति हरिणाक्ष्या हरिमनु ॥

---

यस्य सः । उन्दी क्लेदने धातुः । भीत्याश्रुशोषादिति भावः । अनुनयतीत्यनूमीः । इनं गोपालं प्रभुं कीदृशं—निनून्नं दूरे क्षिप्तमनसः शकटस्य तदाविष्टस्यासुरस्याननं जीवनं येन तत् ॥

इति विद्याभूषणकृतस्तवमालाभाष्ये ।

वक्रोक्ति का लक्षण करते हैं—

प्रथम वक्ता के वाक्य को प्रथम श्रोता अन्यार्थ पर मानलेता है, तब वक्रोक्ति होती है, यह श्लेष से तथा विकृतस्वर से उच्चारित होने से वक्रोक्ति नामक अलङ्कार होता है, अलङ्कार के दो प्रकार होते हैं, (१) श्लेष वक्रोक्ति, (२) काकुवक्रोक्ति, क्रमेण उदाहरण श्रीकृष्ण के साथ दूती का वाकोवाक् प्रसङ्ग, कृष्ण-यह कौन ? स्त्री है, स्त्रीत्व कैसे हुआ ? ईषत् पद है, क्या यह अस्थान में सिद्ध है ? तुम्हारा वचन ही वैसा है, काकु से उद्भूत यह नहीं है, आश्चर्य की वात् है, काकु यहाँ क्या है ? श्रीहरि के साथ मृग नयनी की वाणी जय युक्त हो । यहाँ किमस्थाने—" यहाँ विकल्प से विसर्ग लोप प्राप्त होने से किं शब्द के स्थान में किमित्यस्थान में यह सभङ्ग का भी निर्देश को जानना होगा ।

काकुवक्रोक्ति का उदाहरण दिखाते हैं । सखी के प्रति सखी की उक्ति इस प्रकार है—जब कोकिल मुखरित है, आम्रमुकुल विकसित होकर वसन्त काल को सुशोभित कियाहै,श्रीकृष्ण अपराधी होने पर भी इस समय राधा द्वारा परित्याग करना क्या उचित है ? उसका हृदय कामसे व्यथित नहीं होता है ? निषेधार्थक न कार

अत्र किमस्थाने इति वैकल्पिकविसर्गलोपात् किंशब्दस्य स्थान इत्यत्र किमित्यस्थान इति च सभङ्गोऽपि निर्देशो ज्ञेयः ।

काले कोकिल-वाचाले सहकार-मनोहरे ।
अप्यागसि हरे स्त्याग स्तस्या श्चेतो न दूयते ।।

अत्रैकया सख्या निषेधार्थे घटितो नञ् अन्यया काक्वा दूयत एवेति विध्यर्थे घटितः ।

**शब्दैरेकविधैरेव भाषासु विविधास्वपि ।**
**वाक्यं यत्र भवेत् सोऽयं भाषासम इतीष्यते ।।१२।।**

यथा श्रीराधां प्रति सख्या वचनं—

मञ्जुल मणिमञ्जीरे कलगम्भीरे विहारसरसीतीरे ।
विरसासि केलिकीरे किमालिधीरे च गन्धसारसमीरे ।।

---

प्रयोग से प्रतीत होता है कि–व्यथित होता ही है । भावार्थ से यह बोध हुआ है ।।११।।

भाषासम अलङ्कार का वर्णन करते हैं—मानरत सखी के प्रति विशाखा बोलती है, हे आलि ! सखि ! अस्फुट ध्वनियुक्त शब्दायमान सुन्दर मणिमयनूपुर के प्रति,केलिसरोवर तट के प्रति क्रीड़ोपकरण शुक के प्रति मन्द–मन्द प्रवाहित चन्दनस्पर्शि समीरण के प्रति, क्या तुम अनुरागशून्या हो गई हो ? जहाँ विविध भाषाओं के शब्द में एकता होती है, इस प्रकार शब्दयुक्त रचना को भाषासम कहते हैं । मञ्जुल मणिमञ्जीरे कलगम्भीरे विहारसरसीतीरे विरसासि केलिकीरे किमालिधीरे च गन्धसारसमीरे यह श्लोक संस्कृत प्राकृत, शौरसेनी प्राची, अवन्ती, नागर अपभ्रंश में एक प्रकार ही होता है ।।१२।।

श्लेष का लक्षण करते हैं—अनेकार्थ युक्त शब्दों के प्रयोग से जब एकबार उच्चारण से ही अनेक अर्थ का बोध होता है, तो उसे श्लेष कहते हैं, यह श्लेष आठ प्रकार हैं—वर्ण श्लेष, प्रत्यय श्लेष, लिङ्ग श्लेष, प्रकृति श्लेष, पद श्लेष, विभक्ति श्लेष, वचन श्लेष, भाषा श्लेष, ।

क्रमशः—उदाहरण—श्रीराधा के प्रति सखी की उक्ति,—

एष श्लोकः संस्कृत प्राकृतशौरसेनी प्राच्यावन्ती नागरापभ्रंशेष्वेवंविध एव ।

**श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष उच्यते ।**
**वर्ण प्रत्ययलिङ्गानां प्रकृत्योः पदयोरपि ।**
**श्लेषाद्विभक्तिः वचन-भाषाणामष्टधा च सः ॥१३॥**

क्रमेण यथा—तत्र श्रीराधां प्रति सखी-वचनं—

अनुकूले विधौ व्रज्या सद्य एव प्रपद्यतां ।
प्रतिकूले विधावुद्यचत्याति सा ॐ ते विनंक्ष्यति ॥

अत्र विधाविति विधिविधुशब्दयो रिकारोकारयो रौकाररूपत्वाच्छ्लेषः । पूर्वार्धे विधि दैवं । उत्तरार्धे विधुश्चन्द्रः ।

किरणा हरिणाङ्कस्य दक्षिणश्च समीरणः ।
रामाणां श्लिष्टकृष्णाणां सर्व्व एव सुधाकिरः ॥ॐ

---

अनुकूल विधि होने से अभिसार मङ्गलमय होगा, विधि प्रतिकूल होने पर व्रज्या, गमन, निष्फल होगा, यहाँपर विधौ-विधु विधि इ-उ कार का एकरूप होने से श्लेष हुआ है, पूर्वार्द्ध में विधि–शब्द से दैवका बोध होताहै, उत्तरार्द्ध की विधु–शब्द से चन्द्रका बोध होता है।

सा—व्रज्या।ॐ चन्द्रकिरण,मलय समीरण–श्रीकृष्णालिङ्गित ललना के लिए अमृत हैं । ॐ श्लिष्ट- कृष्णो याभि स्तासां, सुधाकिर इत्यत्र किरण विशेषणत्वात् बहुत्वं, समीरणविशेषणत्वादेकत्वम् । यहाँ सुधाकिर क्विप् क-प्रत्यय का श्लेष है, सुधां किरन्तीति सुधाकिर' कृविक्षेपे इतिकृधातोः क्विप् प्रत्ययान्तात् प्रथमाया बहु वचनम् किम्वा बहु वचन–एकवचन का रूप-सुधाकिर, एक प्रकार होने से वचन श्लेष भी हुआ है ।

लिङ्गश्लेष का उदाहरण—हे गोपिकाकान्त: विकसित नेत्र नीलाब्ज, एवं वक्षोजद्वय हार से शोभित होकर तुम्हें सदा आनन्दित कर रहे हैं। हारिणीत्यस्य अब्ज विशेषणत्वेन पुंसकत्वं, द्वयीत्यस्य विशेषणं स्त्रीलिङ्गत्वं,-वचन श्लेषस्तु 'दत्तां हारिणी" इत्युभयत्र ।

ॐ प्रकृतिश्लेष का उदाहरण—हे नन्द ! तुम्हारे पुत्र, भुजद्वय के

अत्र सुधाकिर इति क्विप्क–प्रत्यययोः। किम्वा बहुवचनैकवचनयो रैक्यरूपाद् वचन-श्लेषोऽपि।

विकसन्नेत्रनीलाब्जे तथा तस्याः स्तनद्वयी।
हारिणी ※ गोपिकाकान्त तुभ्यं दत्तां सदा मुदं॥

अत्रापि वचन-श्लेषः।

अयं शस्त्राणि भुजया शास्त्राणि तु रसज्ञया।
नन्दन स्तव हे नन्द! वक्ष्यति स्म कपालकः ※॥

अत्र वक्ष्यतीति वहि-वचिभ्यां श्लेषः। यथा वा—

हरिदिक् पराङ् मुखतयाचलतः पतनं भवेदखिलमप्यलं।
स्खलनं सदा जलनिधौ सवितुः स्थितिकृन्नपाददशशत्यपि सा॥ ※

अत्र हरि-पादशब्दाभ्यां श्लेषः।

रसयन् माधवरसं कृष्णकर्मा सुरादृतः।
भक्तसर्व्वजनः कर्णभवान् परम वैष्णवः॥※

अत्र पदभङ्गि–प्रकृति समासयोरपि वैलक्षण्यात् पदश्लेषो, नतु प्रकृति श्लेषः, एवञ्च —

---

द्वारा शस्त्र का प्रकाश एवं रसना के द्वारा शास्त्र का प्रकाश करते हैं, कपालकः-स्वान् भक्तान् यहाँ वह धातु एव वच धातु से वक्ष्यति पद निष्पन्न होकर श्लेष हुआ है।

हरि विमुख होने से सब औरसे पतन होता है, सूर्य जलराशि में प्रविष्ट होने से दशशत किरण सूर्य को पतन से बचाने के लिए असमर्थ होती हैं। यहाँ हरि पाद शब्द के द्वारा श्लेष है, श्लेषेण-हरेरिन्द्रस्य, पादः किरणवाची च।

※ सुरादृत कृष्णकर्मा जन माधव की सेवा में रत होकर भक्त एवं परम वैष्णव होता है, यहाँ पद भङ्गि प्रकृति समास के वैलक्षण्य से पद श्लेष है, किन्तु प्रकृति श्लेष नहीं है, माधवो वसन्तः, श्लेषेण-मधुदैत्यस्यापत्यं माधवः, कृष्णकर्मा-श्लेषेण-मलिनकर्मा। सुरा देवाः, श्लेषेण-मदिराः, परमवैष्णवः श्लेषेण-परं अवैष्णवः।

※ युद्धस्थल में गरुड़ एवं चक्र के आक्रमण से दैत्य गण व्याकुल

खगेन हरिचक्रेण व्याकुलीभावमीयुषां ।
दैत्य—शंवलजातीनां ददृशे तति राहवे ।। ❋

अत्र खगचक्रशब्दयोः श्लिष्टत्वेऽपि विभक्तेरभेदात् प्रकृतिश्लेषः अन्यथा सर्व्वत्र पदश्लेष—प्रसङ्गः स्यात् ।

हर सर्व्वस्य दुःखानि भव सर्व्वस्य सौख्यदः ।
यत स्त्वं शिवतां यातः स्वधुंनी--जलसेवया ।।

तदिदं कश्चिद्‌भङ्गाभङ्गमप्युदितं श्लेषेण श्रीशिवं प्रति सङ्गमयितुं शक्यते । अत्र हरेति पक्षे शिवसम्बोधनमिति सुपः पक्षे हृधातोस्तिङ् इति विभक्तेः । एवं भवेत्यादौ । अस्य भेदस्य प्रत्ययश्लेषेणापि गतार्थत्वे प्रत्यया-प्रत्ययासाध्य--सुबन्ततिङन्तगतत्वेन विच्छित्तिविशेषाश्रयात् पृथगुक्तिः ।

न उप उमरा अप्युमुहं र अलं कामे इगोइ मे हिअअं ।
किन्तु सदाहीरवरं वञ्च इहारन्तरे कादुं ।।

अत्र संस्कृत--प्राकृतयोः ।

**पुन स्त्रिधा—सभङ्गोऽभङ्ग स्तदुभयात्मकः ।।१४।।**

---

हो गए थे । ❋ खगेन हरिचक्रेण-आकाशगामिना चक्रेण श्लेषेण चक्रवाकाख्य पक्षिणा, आहवे-युद्धे । यहाँपर चक्रेण शब्दश्लिष्ट होने पर भी एक विभक्ति होने से प्रकृति श्लेष हुआ है । अन्यथा सर्वत्र पदश्लेष प्रसङ्ग ही होगा ।

विभक्तिश्लेष का उदाहरण—सब के दुःख हरण करो, और सुखद हो, कारण गङ्गाजल के सम्पर्क से तुम तो शिव हो गए हो। यह भङ्ग-अभङ्ग श्लेष है, श्लेष से शिव की स्तुति भी होगी, यहाँ हर—-पक्ष में शिव का सम्बोधन; पक्ष में हृ धातु का (तिङ्‌विभक्ति) रूप है, इस प्रकार "भव" शब्दका भी दो स्वरूप हैं, यह भेद प्रकृति प्रत्यय श्लेष में पर्यवसित होने से भी सुवन्ततिङ्न्त होकर अतिशय चमत्कार होता है, अतः पृथगुक्ति हुई है ।

भाषाश्लेष का उदाहरण—न उप उमरा अप्यमुहं र अलंकामे इ गोइ मे हिअअं । किन्तु सदाहीरवरं वञ्च इहारन्तरे कादुं" यहाँ संस्कृत प्राकृत भाषा में श्लेष है ।।१३।।

एतद् भेदत्रयं चोक्तभेदाष्टके यथायथं ज्ञेयं । यथा वा—

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरा स्त्रीकृतो
योऽप्युद्वृत्तभुजङ्गहार-वलयो गङ्गां च योऽधारयत् ।
यस्याहुः शशिमच्छिरो हर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात् स स्वयमन्धकक्षयकर स्त्वां सर्व्वदोमाधव ।।

माधव-पक्षे सर्व्वदाता स त्वां पायात् । तत्र ध्वस्तेति सौन्दर्य्यमुक्तं स्त्रीकृत इति मोहिनीरूपेण । उद्वृत्तभुजङ्गः कालियः, रवेण वंशीकलेन लीनाति द्रवीकरोतीति तथा । अधारयत् अवास्थापयत् । शशिमथो राहोः शिरोहरः । अन्धकेषु वंशेषु वासकरः । उमाधवपक्षे बलिजित्कायो विष्णुकाय एव त्रिपुरनाशनायास्त्रीकृतः । यस्य शिरः शशिमदाहुः । हर इति स्तुत्यं

---

यह श्लेष सभङ्ग रूप से द्विविध हैं, शब्द विश्लेषणनिष्पन्न–सभङ्ग है, शब्द सारूप्य से अनेकार्थ का प्रकाशक होने पर अभङ्ग होता है, सभङ्ग अभङ्ग उभय रूप को उभयात्मक कहते हैं, वाक्य के किसी अंश में सभङ्ग किसी अश में अभङ्ग होता है, पदश्लेष विभक्ति श्लेष, भाषाश्लेष रूप से तीन प्रकार होते हैं, वर्ण श्लेषादि पञ्च, केवल अभङ्ग रूप में होते हैं अतः वर्ण श्लेषादि पञ्च पदश्लेष तीन, विभक्तिश्लेष तीन, भाषाश्लेष तीन, समुदाय जोड़ से चतुर्दश प्रकार श्लेष होते हैं ।

"हरिहर" उभयात्मक यह आशीर्वाद श्लोक है, इस में सभङ्गादि भेदत्रय का उदाहरण हैं। चरण प्रहार से जिन्होंने शकटासुर को विनष्ट किया, जिन्होंने वामन रूप से बलि को जीता, अमृत परिवेशन के लिए जिन्होंने मोहिनी रूप धारण किया, अघासुर को जिन्होंने मारा, गोवर्द्धन पर्वत धारण किया। कृष्ण रूप से, कूर्म रूप से पृथिवी की रक्षा की, राहु का शिरच्छेदन किया, एवं कूटनीति से प्रभास तीर्थ में यदुवंशीयों को विनष्ट किया, सर्वाभीष्ठद लक्ष्मीपति माधव नारायण आप सब की रक्षा करें ।

शिव पक्ष में जिन्होंने कामदेव को विनष्ट किया, त्रिपुरासुर-विनाश के समय बलिविजयी नारायण के शरीर को भी अस्त्र का

नामाहुः। सुगममन्यत्। अत्र येनेत्यादौ सभङ्गः। अन्धकेत्यादावभङ्गः। अनयोश्चैकत्र सम्भवात् सभङ्गाभङ्गात्मकः। ग्रन्थगौरवभयात् पृथङ्नोक्तः॥

**पद्माद्याकार-हेतुत्वे वर्णनां चित्रमुच्यते ॥१५॥**

अत्र तथाविधलिपि-संनिवेशे चमत्कार-विधायितामपि वर्णानां तथाविध–श्रोत्राकाश–समवायविशेषवशेत् चमत्कार-विधायिभि वंर्णैर-- भेदेनोपचाराच्छब्दालङ्कारत्वं। एते च बन्धाः श्रीरसामृतसिन्धुकारिभि र्निमित वर्णक्रम उदाहरिष्यन्ते। तत्र पद्मबन्धो यथा—

कलवाक्य सदालोक कलोदार मिलावक।
कवलाद्याद्‌भुतानूक कनूताभीर बालक ॥*भा० १।८।

---

विषय बनाया जो सर्प के हारतथा वलय धारण करते हैं, मस्तक में गङ्गा को धारण करते हैं, अमरगण शशिशेखर नाम से जिन की स्तुति करते हैं, अन्धक नामक असुर विनाश कारी उमाधव पार्वती पति महादेव तुम सब की सदा रक्षा करें। माधव पक्ष में—सर्वदाता तुम्हें रक्षा करें हस्त शब्द से सौन्दर्य्य का प्रकाश हुआ है, मोहिनी रूप को स्त्री वेश कहते हैं, कालिय दमन के समय भुजङ्ग के द्वारा परि वेष्टित हुए थे, रवसे—वंशी ध्वनि से सब को द्रवित करते हैं, अधारयत् शब्द से अवास्थापयत् जानना होगा, राहु का शिर हरण कारी, अन्धक वंश में निवास कारी, उमाधव के पक्ष में-त्रिपुरनाशन समय में बलिजित् विष्णु शरीर को अस्त्र का विषय बनाया, जिनके शिर में चन्द्रमा विराजित है, हर, यह स्तवनीय नाम है, और सब सुगम है, यहाँ "येन" इत्यादि में सभङ्ग श्लेष है, "अन्धक" इत्यादि में अभङ्ग श्लेष है; दोनों का अवस्थान एकत्र सम्भव होने से सभङ्ग अभङ्गात्मक हुआहै, ग्रन्थवृद्धि के भय से पृथक् उदाहरण प्रस्तुत नहीं हुआ ॥१४॥

वर्णों के सन्निवेश से पद्मादि के आकार की वर्णना होने से चित्रनाटक अलङ्कार होता है, आदि शब्द से खड्‌गमुरज चक्र गोमुत्रिक महापद्मबन्ध, सर्पबन्ध प्रतिलोमानुलोम्यसम, सर्वतोभद्र को जानना होगा।

**महापद्मबन्ध—तारप्रस्फारतालं सरभससरलं भासुरास्यं सुभालं**
**पापघ्नं गोपबालं करणहरकलं नीरभृद्धारनीलं ।**

पद्मादि आकार से लिपि का सन्निवेश से चित्त आनन्दित होने पर भी वर्ण श्रवण से भी हृदय आनन्दित होता है, अतः वर्ण के साथ अभेद उपचार से यह शब्दालङ्कार कहलाता है, प्रस्तुत बन्ध समूह का उदाहरण श्रीरसामृतसिन्धुप्रणेता की रचना से प्रस्तुत करते हैं ।

कविः साक्षात् कृतिं प्रार्थयते, कलेति । हे आभीर बालक ! श्रीनन्दगोप सूनो त्वं मिल, प्रत्यक्षीभव । हे कलवाक्य मधुरभाषिन् ! हे सदालोक ! सत् साधुष्वालोको यस्य । कलाभि र्वैदग्धीभिरुदार हे । हे अवक रक्षक ? कवलाद्यै र्दध्योदनग्रास वेत्र वेणु विषाणैरद्भुता श्चर्यरूप हैं, हे अनूक ? अनुगतः उः शिवो यं, शेषाद्विभाषेति सूत्रात् कप् । हे कनुत, केन ब्रह्मणा स्तुतेत्यर्थः, एवमुक्तं ब्रह्मणा, नौमीड्यते अभ्रवपुषे तड़िदम्बराय गुञ्जावतंसपरिपिञ्छलसन्मुखाय वन्यस्रजे कवलवेत्र विषाण वेणु लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजायेति भागवतीय प्रथमस्कन्धाष्टमाध्याये 'पृथयेत्थं कलपदैः परिणूताखिलोदय इत्यत्र टीकायां नू स्तुताविव्यस्मात् परिणुत इति वक्तव्ये दीर्घश्छन्दोऽनुरोधेन इति तद्वदत्र ॥

यह पद्मबन्ध है, हे मधुर भाषिन् !हे सज्जन गोचर ! हे विदग्ध-क्रीड़ापर ! हे सर्वरक्षक ! हे आभीर बालक ! हे श्रीकृष्ण ! दध्योदनादि के द्वारा तुम्हारी आश्चर्य शोभा होती है, हे देव ! देव देव महादेव भी तुम्हारे अनुगत हैं, एवं ब्रह्म भी तुम्हारा स्तव किए हैं । सम्प्रति तुम मेरे नयन के निकट उपस्थित हो जाओ ।

**महापद्मबन्धः**—रासमण्डलस्थं कृष्णं वर्णयति तारेति' हे मित्र वासुदेवं गोपबालं चेतसावरय । वसानादेव वादेषु वासुदेवेति शब्दित इति शिवोक्तं र्वेद्यं पूर्णब्रह्म भूतमित्यर्थः । कीदृशं, तारेण विशुद्धया-विशिष्टः प्रस्फारोऽति विस्तीर्णः, तालोगानाङ्ग भूतोरूपकादिर्यस्य तं । तारोमुक्तादि संशुद्धाविति विश्वः । सरभसः सहर्षश्चासौ प्रेम्णि

चारुग्रीवं रुचालं रतमदतरलं चेतसा पीतचेलं
शीतप्रस्फीतशीलं वरय वरबलं वासुदेवं सुबालम् ॥

चक्रबन्धः—गन्धाकृष्टलुब्ध-मदालिनि बने हार-प्रभातिप्लुतं
संपुष्णन्तमुपस्कृताध्वनिमयी वीचि-श्रियो रञ्जकम् ।

---

सरलश्चेतितं । भासुरास्यं चन्द्रोज्ज्वल मुखः । सुभालं मनोज्ञललाटं । पापघ्नं भक्ताविद्याविनाशकं । करणहरः श्रोत्रचित्तहारो कलोमधुर ध्वनिर्यस्य तं । नीरभृतां मेघानां वाराद्वृन्दादपि नीलंश्यामलं रुचा कान्त्या पार्श्वस्थानलति भूषयतीति रुचालं, शीतानि संसृतिताप हाराणि प्रस्फीतानि शीलानि सच्चरितानि यस्य तं । बालाभिः सहितं सबालं, स्फुटार्थमन्यत् । चक्रादि बन्धानां निर्माणं कवि प्रसिद्धे बोध्यम् ॥

अतिविशुद्ध तार नामक उच्चस्वर विशिष्ट एवं कालक्रियाका परिमाण स्वरूप तालपूर्ण गान कौशल में जो अति पटु हैं, एवं जो सदानन्द, सरल चित्तके हैं,जिनके मुख—चन्द्रवत् शोभित है, जिन के ललाट प्रदेश, अतिमनोहर हैं, जो भक्तगणों की अविद्या का विनाश कारी हैं, जिन के गुण श्रवण से श्रवणेन्द्रिय वशीभूत हो जाती है, जिन के वाक्य अति मधुर है, जिनका वर्ण नूतन जलपूर्ण मेघ के समान है, जो निज देह की प्रभा के द्वारा पार्श्वस्थ वस्तु को भूषित करते हैं, एवं जिनका चरित्र अति विस्तृत है। हे मित्र ! बालिका वेष्टित उन गोपपुत्र वासुदेव का ध्यान अन्तः करण में निरन्तर करो ।

**चक्रबन्धः**—तं कश्चिद्देवमहं मुदे स्वानन्दाय नौमि । क्वेत्याह बने इति । बने कीदृशे ? गन्धेन आकृष्टा गुरुन्मदा अलिनो येन-तस्मिन् । उपस्कृता मृष्टा अध्वानो यत्र तस्मिन् । सुनिभृते इतर जन वर्जिते । शीतानिलैः सौख्यदे । तापहारिणि । देवं कीदृशं । हाराणां प्रभातिप्लुतं व्याप्तं । भक्तान् संपुष्णन्तं । यमीवीचिश्रियो यमुना तरङ्गशोभायाः स्वनखराधर पीताम्बर हारकेयूर किरीटादि-कान्तिकदम्बै रञ्जकं । सद्यस्तुङ्गिता वर्द्धिता विभ्रमा येन तं । नाम्नो

सद्य स्त्वुज्झित-विभ्रमं सुनिभृते शीतानिलैः सौख्यदे
देवं नागभुजं सदा रसमयं तं नौमि कञ्चिन्मुदे ॥

**सर्पबन्धः**—रासे सारङ्गसंघाचित नव नलिन-प्राय वक्षस्थ दामा
बर्हालङ्कार-हार-स्फुरदमलमहारागचित्रे जयाय ।
गोपालो दासवीथीललितहितरवस्फारहास-स्थिरात्मा
नव्योजस्रं क्षणोपाश्रित--विततबलो वीक्ष्य रङ्गं बभासे ॥

---

सर्पाविव वृत्तौ भुजौ यस्य तं ।

जो स्वकीय नखर, अधर, शीतवस्त्र, हार, अङ्गद, किरीट प्रभृति भूषण की कान्ति के द्वारा यमतनया यमुनानदी की तरङ्ग माला की वृद्धि करते हैं, जिनके हार की प्रभा से अङ्ग विभूषित हैं, वह अति विलासशाली दीर्घबाहु भक्तवत्सल देव को,—सौरभाकृष्ट भ्रमर ध्वनि युक्त, अतिमार्जित पथ विशिष्ट सदा सञ्चरणशील शीतल समीरण युक्त निर्जन वन में नमस्कार करता हूँ ।

**सर्पबन्धः**—रासरसिकं हरिं वर्णयति रास इति गोपालो नन्दसूनु र्भगवान् रासे रङ्गं नृत्य भूमिं वीक्ष्य जयाय स्वोत्कर्षाय बभाषे दीप्तिं प्राय। सारङ्ग सङ्घैर्भृङ्गवृन्दै राचितं व्याप्तं नवनलिन प्रायं नूतनाम्बुजप्रचुरं बक्षस्थं दाम माल्यं यस्य सः। दास वीथिनां ब्रह्म-रुद्राद्यधिकारि भक्तश्रेणीनां स्वस्थितानां ललिते रमणीय हितेऽनुकूले जय जय भगवन्नित्यादि रवे शब्दे स्फारो विस्तीर्णो हासो यस्य सः, स्थिरात्मा निजोत्कर्ष श्रुत्याप्यविकृतचित्तः। क्षणे रासोत्सवे,उपाश्रितं विततं तदुचितं बलं येन सः। अजस्रं नव्यो नूतनः। रासे कीदृशे बर्हाणामलङ्काराणां च स्फुरन् योऽमलो महारागो नीलपीत रक्तादि विविधरङ्ग स्तेन चित्रे कर्बुरे॥

जिनके वक्षःस्थलस्थित माल्य, भ्रमरों से व्याप्त है, दासवीथि अर्थात् ब्रह्मरुद्रादि स्वजनवर्ग की मनोहर अनुकूल जयध्वनि को सुन कर जिनका चित्त अविकृत है, वह नित्य नवीनगोपाल भूषण मयूर-पिच्छ की प्रभासे चित्रित रासके मध्यमें नृत्यभूमि को देखकर रासोचित वेश विन्यास पूर्वक अत्यन्त शोभित हैं ।

**मुरजबन्धः**—शुभासार ससार श्रीः प्रभासान्द्र मसारभा ।
भारसा महसा वित्तं तरसा रससारितां ॥

**गोमूत्रिकाबन्धः**—सा मल्लरङ्गे रमया फुल्लसारा मुदेधिता ।
श्रमनीरधरा तुष्टा वल्लवी रासदेवता ॥

**प्रातिलोम्यानुलोम्यसमं**—तायि सारधरा धारातिभायात मदारिहा ।
हारिदामतया भाति राधाराधरसायिता ॥

---

**मुरजबन्धः**—इह विशेष्यं पूर्वतोऽनुकर्षणीयं । स वल्लवी रासदेवता रससारितां तपसावेगेन अवित्त प्राप्तवती । विद् लाभे इत्यस्य लुङिरूपम् । रसं श्रृङ्गार लक्षणां सत्तुं अनुवर्त्तितु शीलं यस्य तस्य भावस्तत्ता तामित्यर्थः । सामान्ये नपुंसकं तस्मात्तल् । सा कीदृशी, शुभस्य मङ्गलस्य आसारो धारासम्पातो यतः सा शुभासारा। सारेण न्यायेन सहिता ससाराच श्रीः सम्पद् यतः सा । सारं न्यायेबले वित्ते इति विश्वलोचनकारः । प्रभया सान्द्रस्य-निविड़स्य मसारस्येन्द्र नीलमणेरिव भाच्छवि र्यस्याः सा । महसा तेजसैव । भारसा भूभारं सतीति सोऽन्त कर्मणि तस्मात् क्विप् ॥

निखिल मङ्गल की जननी स्वरूपा एवं सारांश सम्पत्ति की उत्पत्ति जिस से होतीहै, तथा स्वकीय कान्ति के द्वारा इन्द्र नीलमणि की भाँति शोभित भूभार हारिणी श्रीकृष्ण की मूर्त्ति, रासमण्डल में श्रृङ्गार रस की अनुसारिणी हुई थी ।

**गोमूत्रिकाबन्धः**—सेति । सा वल्लवीरासदेवता, मल्लरङ्गे चानूरेण सह युद्ध भूमौ तुष्टा बभूवेतिशेषः । सा कीदृशी । रमया रेखा रूपया लक्ष्म्या विशिष्टा। फुल्लः सारोबलं यस्याः सा। अति बलिनीत्यर्थः । मुदा हर्षेणैधिता वृद्धा । स्फुटमन्यत् ।

रङ्गभूमि में चानूर के साथ युद्ध कर घर्म बिन्दु के द्वारा जो मूर्त्ति सन्तुष्ट हुई थी, वह वक्षः स्थलोपरि श्रीवत्सचिह्न धारिणी, आनन्द से विकसिता श्रीकृष्ण की मूर्त्ति रासमण्डल में शोभिता हो रही है ।

**प्रातिलोम्यानुलोम्यसमम्**—तायीति । सा कृष्णमूर्त्ति हारिदामतया

**सर्व्वतोभद्रः—रासावहा हावसारा सा ललास सलालसा ।**
**बला रमा मारलाव हास माद दमा सहा ॥**

**अत्र पद्मबन्धा दिग्दलेषु निर्गम-प्रवेशाभ्यां श्लिष्टवर्णाः विदिग्दलेषु अन्यथा । कर्णिकाक्षरन्तु श्लिष्टमेव । एवं बन्धान्तराण्यप्युह्यानि ।**

---

भातीति विशेष्यमूहित्व सम्बन्धः, सा वल्लवी रास देवतेति परतो विशेष्य मिहा कर्षणीयमित्येके । सा कीदृशी ? तायी, विस्तीर्णः सारः स्थिरांशो यस्य तस्य धवस्य गोवर्द्धनगिरे राधारः सम्यग्-धरण तेनाति भा प्रशस्ता दीप्तिर्यस्याः सा । अयातमदानगत गर्व्वानरीन् हन्तीत्ययात मदारिहा । राधाकर्त्तृको यो आराधः स्वयौवनार्पणलक्षणमर्च्चनं तद्रूपेण रसेनायिता प्राप्ता । अयगतो तस्मान्निष्ठा । अस्य पूर्वतः परतश्च तुल्यः पाठः । गतं प्रत्यागत मित्येके ।

गोवर्द्धन पर्वत धारण से जिस मूर्त्ति की प्रशस्तता भूमण्डल में ख्यात हुई है । एवं श्रीराधिका स्वकीय यौवन द्वारा जिस मूर्त्तिकी अर्च्चना की है, गर्वित शत्रु विनाश कारिणी श्रीकृष्ण की मूर्त्ति, माला से अति शोभित है ।

**सर्वतोभद्रन्**—रासेति । सा वल्लवीरासदेवता ललास । कीदृशी । रासमावहतीति तथा । हावो नायिकानिष्ठो भावभेदः सएव सारोबलं यस्यां सा तद्वश्येत्यर्थः । स लालसा रासे सतृष्णा बलेनारमते बलारमा । मारं स्मरं लुनाति परिभवतीति मारलावः । कर्मण्यन् । स चासौ हासश्चेति कर्मधारयः । मादो यौवन मत्तता । मारला-वहासमादाभ्यां दमं नियमनं न कस्यापि सहत इति तथा स्वतन्त्रैरित्यर्थः।

अनायास हँस हँस जिन्होंने कन्दर्प को जीत कर जो अन्य किसी का शासन नहीं मानते हैं, अर्थात् स्वाधीना रासदेवता श्रीकृष्ण मूर्त्ति रासक्रीड़ा कर नायिकागण के हावभाव नामक श्रृङ्गार भाव से वशीभूत होकर क्रीड़ा की । यह पद्माकृति वर्ण विन्यास में पूर्व दक्षिण पश्चिमोत्तरदिक् के पत्रों में यथाक्रम वहिर्गमन अन्तर्गमन के द्वारा दो श्लिष्टवर्ण का विशेष होता है । विदिग् दल में आग्नेय

काव्यान्तर्गडुभूता या सा तु नेह प्रपञ्चयते ।
रहस्य परिपन्थित्वान्नालङ्कारः प्रहेलिका ।
उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका ॥१६॥

च्युताक्षरा दत्ताक्षरा च्युतदत्ताक्षरा च । किन्तु श्रीकृष्णराधादिगोष्ठ्यां सुष्ठु रसं वहेत् । यथा—

कूजन्ति कोकिलाः साले निर्जने फुल्लमम्बुजं ।
किं करोतु कुरङ्गाक्षी नृपालेन निपीड़िता ॥

अत्र रसाले वक्तव्ये साल इत्यत्र वर्णश्च्युतः । जन इति निरिति दत्त । गोपालेनेति वक्तव्ये गोवर्ण श्च्युतो 'नृ' वर्णो दत्तः ।

अत्रादि शब्दात् क्रिया कारकगुप्तचादयः । तत्र क्रियागुप्ति यथा—

पाण्डवानां सभामध्ये दुर्योधन उपागतः ।
तस्मै गाञ्च सुवर्णञ्च सर्वाण्याभरणानि च ॥

---

नैऋत वायव्येशान कोणस्थपर्ण में कहीं पर प्रवेश एवं निर्गमन होता है, इस प्रकार आश्लिष्ट वर्ण का भी प्रयोग होता है । कर्णिकाक्षर अर्थात् मध्यवर्त्ती वर्ण श्लिष्ट ही होता है, कारण वह अनेकबार पठनीय है, इस का विशेष लक्षण सरस्वती कण्ठाभरण में है—

कर्णिकायांन्यसेदेक द्वे द्वे द्विक्षु विदिक्षु च । प्रवेशनिर्गमौदिक्षु कुर्य्यादष्टदलाम्बुजे । इसप्रकार बन्धान्तरका उदाहरण प्रस्तुत करें ।१५

काव्यार्थ बोध के लिए काठिन्य उपस्थित होने से रस का परिपन्थी होता है, अतः प्रहेलिका को अलङ्कार रूप में स्वीकार नहीं करते हैं, वह उक्तिवैचित्र्य मात्रहै और च्युतदत्ताक्षर में अन्तर्भूत है ।

च्युताक्षरा दत्ताक्षरा च्युतदत्ताक्षरा भी है । किन्तु श्रीकृष्ण राधादि गोष्ठी में वह रचना रसावह होती है । उदाहरण–आम्रवृक्ष में कोकिलगण कूजनरत हैं, अम्बुज विकसित है । नृपाल से निपीड़िता होकर कुरङ्गाक्षी क्या करेगी ? यहाँ रसाल कहना था, किन्तु 'साले' कहा, वर्णच्युत है, जने यहाँ 'नि' अधिक हैं, गोपालेन कहना था किन्तु गो वर्ण च्युत है, और 'नृ' वर्ण दिया गया है । आदि

अत्र हि 'अदु रिति क्रियागुप्तिः। पाण्डवानां सभामध्ये यः खल्वधन उपागतः, तस्मै गवादिकमदुरित्यन्वयः। अर्थवशात् पाण्डवा एव कर्त्तारो, ब्राह्मण एवासौ संप्रदानमिति लभ्यते, एवमन्यत्र।

## ❀ अर्थालङ्काराः। ❀

(१) अथावसरप्राप्तेष्वर्थालङ्कारेषु प्राधान्यात् सादृश्यमूलेषु लक्षितव्येषु तेषामुपजीव्यत्वादुपमामाह —

**'साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्ये उपमा द्वयोः।'**

वक्ष्यमाणेषु रूपकादिषु साम्यस्य व्यङ्ग्यत्वं। व्यतिरेके वैधर्म्मस्याप्युक्तिः। उपमेयोपमायां वाक्यद्वयं। अनन्वये चैकस्यैव साम्योक्तिः। इति तेभ्योऽस्या भेदो ज्ञापयिष्यते।

---

शब्द से क्रिया कारक गुप्त्यादि को जानना होगा, क्रिया गुप्ति का दृष्टान्त पाण्डवानां सभामध्ये दुर्योधन उपागतः। यहाँ अदु:' क्रिया गुप्ति है. पाण्डवों की सभा में धन हीन व्यक्ति, जो आये थे, उनको गो प्रभृति दिया गया है, अर्थ से पाण्डवगण ही कर्त्ता है, ब्राह्मण ही दानपात्र हैं, इस प्रकार अन्य स्थान में जानना होगा ॥१६॥

## ❀ अर्थालङ्कार ❀

शब्दालङ्कार वर्णन के पश्चात् अर्थालङ्कार वर्णन का अवसर प्राप्त होने पर प्रचुर प्रयोग, चमत्काराधिक्य होने से सादृश्य मूलक अलङ्कारों में उपजीव्य होने से अर्थात् प्राधान्य रूप से आश्रयणीय होने से उसका कथन प्रथम करते हैं।

उपमान उपमेय का समान धर्म विवक्षित होने से उपमालङ्कार होता है, वक्ष्यमाण स्वरूपचन्द्रादि में साम्य की प्रतीति व्यञ्जनावृत्ति से होती है, यहाँ साम्य इवादि से वाच्य होता है। व्यतिरेक अलङ्कार में वैधर्म्य की भी उक्ति होती है, उपमेयोपमालङ्कार में कमलेवमति मतिरिव कमला वाक्यद्वय होते हैं। अनन्वय अलङ्कार में राजीवमिव राजीवम् " एकमात्र पदार्थ की साम्योक्ति होती है।

(२) सा पूर्णा—यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च। उपमानं चोपमेयं भवेद् वाच्यं। सा उपमा। सामान्यधर्मो द्वयोः सादृश्यहेतु र्मनोज्ञत्वादिः। औपम्यवाचकमिवादि। उपमानं चन्द्रादि। उपमेयं मुखादि ।२।।

(३) इयं पुनः श्रौती यथेव वा शब्दा इवार्थो वा वति र्यदि।
आर्थी तुल्यसमानाद्या स्तुल्यार्थो यत्र वा वतिः।

यथेव वा शब्दा उपमानान्तर प्रयुक्त तुल्यादि--पदसाधारणा अपि श्रुतिगत-मात्रेण उपमानोपमेयगतं सादृश्यं--लक्षणं सम्बन्धं बोधयन्तीति तत्-सद्भावे श्रौत्युपमा। एवं तत्र 'तस्येवेत्यनेने' वार्थे विहितस्य वते रूपादाने, तुल्यादयस्तु 'कमलेन तुल्यं मुखमि'त्यादौ उपमेय एव। कमलं हरिमुखस्य तुल्यमित्यादावुपमान एव। कमलं हरिमुखञ्च तुल्यमित्यादावुभयत्रापि विश्राम्यन्तीत्यर्थानुसन्धानादेव साम्यं प्रतिपादयीति तत्सद्भावे आर्थाः। एवं 'तेन तुल्यमि'त्यनेन तुल्यार्थे विहितस्य वतेरुपादाने— ।।३।।

---

इस प्रकार रूपकादि अलङ्कार से उपमा का भेद स्थापित होता है।१

वह उपमा पूर्णा एवं लुप्ता भेद से द्विविध है, उभयगत साधारण धर्म बाधक पद, सादृश्य बोधक पद, एवं उपमानोपमेय वाचकपद का प्रयोग होने से वह पूर्णा उपमा कहलाती है, 'उपमान उपमेय का सामान्य धर्म सादृश्य हेतु मनोहरत्वादि है, कमलमिवमुखं मनोहरम्। यहाँ मनोहरत्वादि रूप गुण सामान्य धर्म हैं, मुखं चन्द्र इवाभाति, यहाँ आभाति क्रिया सामान्य धर्म है, उपमाका वाचक इवादि है, उपमान चन्द्रादि, उपमेय-मुखादि हैं ।।२।।

उपमा,—श्रौती आर्थी भेद से दो प्रकार हैं। पूर्णोपमा में यथा, इव, वा, शब्द, एवं उपमानान्तर में प्रयुक्त तुल्यादि पद का प्रयोग हो, एवं श्रवण समकाल में ही उपमान उपमेयगत सादृश्य का बोध होता हो तो श्रौती उपमा होती है, इस प्रकार तस्य, इव, इवार्थ में विहित वति प्रत्यय का प्रयोग होने से श्रौती उपमा होती है, तुल्यादि का प्रयोग का दृष्टान्त—कमलेन तुल्यं मुखम्। 'आदिशब्द से समान सदृश हसति प्रत्यर्थि शब्द को जानना होगा। कमलेन तुल्यं मुखम्' यहाँ उपमेयमुख में साम्य का विश्राम उपमेय मुखमें होता है।

'द्वे तद्धिते समासेऽथ वाक्ये' । 'द्वे श्रौत्यार्थी च' । यथा-।४।

[ श्रीकृष्ण वाक्यं ]— सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य कुम्भाविव स्तनौ पीनौ ।
हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा राधे ।।१।।

अत्र क्रमेण त्रिविधा श्रौती ।

मधुरः सुधावदधरः पल्लवतुल्योऽतिकोमलः पाणिः ।
माधव मृगनेत्राभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः ।।२।।

अत्र क्रमेण त्रिविधार्थी ।

---

है। कमलं हरिमुखस्य तुल्यं, यहाँ उपमान में साम्य का विश्राम है, कमलं हरिमुखञ्च तुल्य" यहाँ उपमानोपमेय दोनों में समता का विश्राम होता है, अर्थानुसन्धान से ही साम्य का प्रतिपादन होता है, तुल्यादि शब्द का प्रयोग होने से ही आर्थी उपमा हुई है। इस प्रकार "तेनतुल्यं क्रियाचेद्वतिः" सूत्रसे वति प्रत्यय होताहै, ब्राह्मणेन तुल्यमधीते ब्राह्मणवदधीते क्षत्रियः, यहाँ तुल्यार्थ विहित वति प्रत्यय का प्रयोग से आर्थी उपमा होती है ।।३।।

श्रौती आर्थी पूर्णोपमाका भेद को कहते हैं, तद्धित, समास, वाक्य भेद से तीन प्रकार होती हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं—हे राधे ! तुम्हारे मुखका सौरभ कमल की भाँति है, कुम्भ के समान स्तनद्वय स्थूल हैं। शरदिन्दु के समान तुम्हारे वदन-मुझे आनन्दित करता है। प्रथम वाक्यमें सामान्य धर्म सौरभ है, उपमान—अम्भोरुह है, मुख, उपमेय, वतिप्रत्यय-उपमाका प्रकाशक है। यह पूर्णोपमा है, तत्र, तस्येव' इवार्थ से वति प्रत्यय होने से तद्धितगत श्रौती है।

द्वितीय वाक्य में कुम्भाविव यहाँ इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' सूत्रसे समास होने के कारण समासगता श्रौती पूर्णोपमा है।

द्वितीयार्द्ध में वाक्य रूप होने से यथाशब्द श्रौतीघटक होने से वाक्यगता श्रौती पूर्णोपमा है।

त्रिविध आर्थी का उदाहरण,—सखाने कहा,हे माधव ! राधा

'पूर्णा षोढ़ा प्रकीर्त्तिता' । स्पष्टं ।

लुप्ता सामान्यधर्म्मादावेकस्य यदि वा द्वयोः ।
त्रयाणां वानुपादाने श्रौत्यार्थी सापि पूर्व्ववत् ॥५॥

सा=लुप्ता; तद्भेदमाह—

पूर्णावद्धर्मलोपे सा विना श्रौतीन्तु तद्धिते ॥६॥

सा लुप्तोपमा धर्मस्य साधारणगुणक्रियारूपस्य लोपे पूर्णावदिति पूर्वोक्तरीत्या षट्प्रकाराः । किन्त्वत्र तद्धिते श्रौत्यसम्भवात् पञ्चप्रकाराः ।

यथा—मुखमिन्दु र्यथा राधे ! पल्लवेन समः करः ।
वाणी सुधेव बिम्बाभमोष्ठं धिग् वज्रवन्मनः ॥१॥

---

का अधर सुधा के समान मधुर, हाथ-पुष्प के समान कोमल, मृग-नयन के समान लोचनद्वय हैं ।

यहाँ सुधावत्—तद्धितगा आर्थी पूर्णा है, पल्लव तुल्या-समासगा आर्थी पूर्णा है, मृगनेत्राभ्यां सदृशी–वाक्यगा आर्थी पूर्णा है ॥४॥

पूर्णोपमा छः प्रकार ही है । लुप्तोपमा का वर्णन करते हैं,-- सामान्य धर्म, उपमान, उपमेय, औपम्यवाचक, इवादि शब्द का लोप होने से लुप्तोपमा होती है, उक्त धर्मों में जिस किसी का उल्लेख न होने से लुप्तोपमा होती है,पूर्णोपमा की भाँति यह भी श्रौती आर्थी भेद से द्विविध है, वह, लुप्ता, उसका भेद को कहते हैं ॥५॥

लुप्तोपमा,—साधारण गुणक्रियारूप, उपमान उपमेय गत साधारण धर्म का लोप होने से–तद्धितगता, समासगता, वाक्यगता-रूप से श्रौती आर्थी छः प्रकार होगी । किन्तु तद्धित में श्रौती असम्भव होने से श्रौती द्विविधा, आर्थी त्रिविधा क्रमसे पञ्चविधा लुप्तोपमा होगी । षष्ठी सप्तमी विभक्त्यन्त में वति प्रत्यय होता है, प्रत्यय भी सामान्य धर्म की अपेक्षा से होता है, सामान्य धर्म का प्रयोजन होने से षष्ठी सप्तमी विभक्ति नहीं होगी,अतः समासगतावाक्यगता द्विविधा श्रौती होगी ॥६॥ उदाहरण—

हे राधे ! मुख-इन्दु के समान, कर-पल्लव के समान वाणी

आधारकर्मविहिते द्विविधे च क्यचि क्यङि ।
कर्म्मकर्त्रोर्णमुलि च स्यादेवं पञ्चधा पुनः ॥२॥

धर्म्मलोपे लुप्तेत्यनुषज्यते । क्यच् क्यङ् णमुलः, कलापमते यिन्नायि नमः । क्रमेण यथा—

अन्तः पुरीयसि * वने तनुजीयसि * त्वं
पाल्यं जनं गिरिसुताप्यनुजायते ते । +
दृष्टः प्रजाति रमृतद्युतिदर्शं * मिन्द्र
सञ्चार + मत्र भुवि सञ्चरति व्रजेन्दो ॥

---

सुधा के समान, ओष्ठ–बिम्बफलतुल्य, किन्तु वज्रतुल्य मन को धिक्कार । इन्दुर्यथा–वाक्यगा श्रौती लुप्ता, पल्लवेन समः वाक्यगा आर्थी लुप्ता, सुधेव–समासगा श्रौती लुप्ता बिम्बाभम्-समासगा आर्थी लुप्ता, वज्रवत्--तद्धितगा आर्थीलुप्ता ॥१॥

लुप्तोपमा का विभजन प्रकारान्तर से करते हैं,—अधिकरण कारक–कर्म कारक के उत्तर विहित क्यच् द्विविध होने से लुप्तोपमा भी द्विविधा होती है, क्यङ् प्रत्यय में एक प्रकार कर्मकर्त्तृ में नमुल, कर्म में कर्त्ता में णमुल होने पर प्रत्येक एक एक प्रकार होकर समुदाय से लुप्तोपमा पाँच प्रकार होती है । "धर्म लोपेलुप्ता सा पूर्व वाक्य के साथ सम्बन्ध है । क्यच् क्यङ् णमुल, पाणिनिके मत में कलाप के मत में यिन्नायिणमः प्रत्यय को जानना होगा ।

एकपद्य से ही उक्त पञ्चविध लुप्तोपमा का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

वने अन्तः पुरीयसि–आधार में क्यच् । तनु जीयसि त्वं कर्म में क्यच्, अनुजायते-क्यङ् अमृतद्युतिदर्शं- कर्ममें णमुल, सञ्चारं–कर्त्ता में नमुल ।

सुख पूर्वक विहार होने से अन्तः पुरीयसि, प्रयोग हुआ है, तनु जीयसीत्यत्र–स्नेह निर्भरता का तथा साधारण धर्म का लोप है, इस प्रकार अन्यत्र भी जानना होगा । यहाँ यथादि तथा तुल्यादि शब्द न होने से श्रौती नहीं होगी, अतः धर्म का लोप होने से दश

अत्रान्तः पुरीयसीत्यत्र सुखविहारास्पदत्वस्य, तनुजीयसीत्यत्र स्नेहनिर्भरत्वस्य च साधारणधर्म्मस्य लोपः। एवमन्यत्र। इह च यथादि--तुल्यादि विरहाच्छ्रौत्यादिचिन्ता नास्ति। तदेवं धर्म्मलोपे दशप्रकारा लुप्ताः ॥२॥

## उपमानानुपादाने द्विधा वाक्य-समासयोः।

यथा—'लक्ष्म्या मुखेन तुल्यं रम्यं नास्ते न वा नयन-सदृशं'। अत्र मुखनयनप्रतिनिधिवस्त्वन्तरयो र्गम्यमानत्वादुपमान-लोपः। अत्रैव मुखेन तुल्यमित्यत्र 'मुखं यथेदमि'ति 'नयन-सदृश' मित्यत्र 'दृगिवे'ति पाठे श्रौत्यपि सम्भवतीत्यनयोर्भेदयोः प्रत्येकं श्रौत्यार्थीभेदेन चतुर्विधत्वसम्भवेऽपि प्राचीनरीत्या द्विप्रकारत्वेनैवोक्तं।

---

प्रकार लुप्ता उपमा है।

इदञ्च केचिदौपम्यवाचकस्येवादे र्लोपे उदाहरन्ति। तदयुक्तं क्यङादेरपि तदर्थे विहितत्वेन औपम्यप्रतिपादकत्वात्। ननु क्यङादिषु सम्यगौपम्य-प्रतीति र्नास्ति प्रत्ययत्वेनास्वतन्त्रत्वात्; इवादिप्रयोगाभावाच्चेति न वाच्यम्, कल्पवादावपि तथा प्रसङ्गात्। न च कल्पवादीनामिवादितुल्यतया औपम्यवाचकत्वं, क्यङादीनान्तु द्योतकत्वं; इवादीनापि वाचकत्वे निश्चयाभावात्। वाचकत्वे वा समुदितं पदं वाचकं 'प्रकृति-प्रत्ययौ स्वस्वार्थावबोधकाविति च'। मतद्वयेऽपि वत्यादि-क्यङाद्याः साम्यमेवेति। यच्च केचिदाहुः वत्यादय इवाद्यर्थेऽनुशिष्यन्ते, क्यङादय स्त्वाचाराद्यर्थं इति, तदपि न। न खलु क्यङादय आचारधर्म्ममात्रा, अपितु सादृश्याचारार्था इति ॥२॥

उपमान का लोप होने से भी लुप्तोपमा होती है, उपमान का कथन न होने से वाक्यगतरूप से समासगत रूपसे दो प्रकार लुप्तोपमा होती है। उपमान पद का प्रयोग न होने से उसके उत्तर प्रयोज्य इवादि शब्द का प्रयोग नहीं होगा, अत: श्रौती भेद सामान्यका होना सम्भव नहीं है, चन्द्रपद का प्रयोग न होने से केवल "इव मुखम्" से बोध नहीं होता है। आर्थी के मध्य में केवल वाक्यगत समासगत लुप्तोपमा दो प्रकार होगी। लक्ष्या मुखेन तुल्यं रम्यं नास्ते नवा नयनसदृशं। यहाँ मुख नयन प्रतिनिधि वस्त्वनन्तर गम्यमान होने

**औपम्यवाचिनो (३) लोपे समासे क्विपि च द्विधा ।**

क्रमेण यथा—राधया मुखविम्वं राकापीयुषरश्मि विद्योति ।।४।।
कोकिलति श्रुतिमधुरं गायत् पञ्चमविशेषमेकान्ते ।।

अत्र कोकिलतीत्यत्र औपम्यवाचिनः क्विपो लोपः न चेहोपमाधर्म्मस्यापि लोपः, गायदित्यनेनैव निर्द्देशात् ।

**द्विधा समासे वाक्ये च लोपे धर्मोपमानयोः ।५।**

यथा—लक्ष्म्या मुखेन तुल्यं रम्यं नास्ते न वा नयन-सदृशं ।

---

से उपमानका लोप है । यहाँ मुखेन तुल्यम्" मुखं यथेदम्" नयनसदृशं' इगिव इस पाठ से श्रौती की सम्भावना है, इस से दोनों के भेद में श्रौती आर्थी भेद से चार प्रकार होना सम्भव होने पर भी प्राचीन रीति से दो प्रकार ही कहा गया है । औपम्य वाचक साद्दश्य वाचक इवादि शब्द का लोप से समास में क्विप् प्रत्यय से दो प्रकार लुप्तोपमा होगी ।।३।।

क्रमश: उदाहरण राधा का मुखविम्व पूर्णिमा के चन्द्र के समान प्रकाश शील है, श्रुति मधुर पञ्चम स्वरालाप के द्वारा कोकिल के समान आचरण करता है, यहाँ कोकिलति स्थल में औपम्य वाचि क्विप् का लोप है, उपमाधर्म का भी लोप है, ऐसा नहीं गायत्–इस से ही प्रकाश हुआ है ।।४।।

एक एक का लोपसे लुप्तोपमा का वर्णन कर द्वो द्वो के लोपसे जो लुप्तोपमा होती है, उस को कहते हैं,—

सामान्य धर्म एवं उपमान का लोप होने से अर्थात् युगपत् उभय का अप्रयोग से समास में, वाक्य में द्विधा लुप्ता उपमा होगी । उदाहरण—लक्ष्म्या मुखेनतुल्य रम्यं नास्ते नवा नयन सद्दशम्' यहाँ सामान्य धर्म का तथा उपमान का अप्रयोग से वाक्यगता लुप्तोपमाहै, नवा नयन सद्दशम् "रम्यं" सामान्य धर्मका प्रयोग होने से, उपमान का भी प्रयोग न होने से सदृश शब्द का साथ नयन शब्द का समास होने से लुप्तोपभा हुई है ।।५।।

**क्विप् समासगता द्वेधा धर्मवादि–विलोपने ।६।**

यथा—विधवति मुखं रमायाः । अत्र विधवतीति मनोरमत्व--क्विपो लोपः; 'मुखाब्जमस्या इति' इति पाठे समासगा ।

**उपमेयस्य लोपे तु स्यादेका प्रत्यये क्यचि ।७।**

यथा—दैतेय विक्रमालोक–विकस्वर--विलोचनः ।
चक्रेणोद्दण्डदोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति ।।

अत्र सहस्रायुधमिवात्मानमाचरतीति वाक्ये उपमेयस्यात्मनो लोपः ।

**धर्मोपमेय–लोपेऽन्या ।।८।।**

यथा—'यशसि प्रसरति कृष्णात् क्षीरोदीयन्ति सिन्धवः सर्वे ।' अत्र क्षीरोदमिवात्मानमाचरन्तीत्युपमेय आत्मा साधारण धर्म्मः शुक्लता लुप्ता ।

**त्रिलोपे तु समासगा ।९।**

यथा—'सा राधा मृगलोचना' । अत्र मृगस्य लोचने इव चञ्चले लोचने यस्या इति समासे उपमा तत्प्रतिपादक–साधारणधर्म्मोपमेयानां लोपः ।

---

सामान्य धर्म इवादि सादृश्य वाचक शब्द का युगपत् अप्रयोग से क्विप् प्रत्ययगता, समासगत--द्विधा लुप्तोपमा होती है । उदाहरण विधवति मुखं रमायाः । यहाँ विधवति मनोरमत्व क्विप् का लोप है, मुखाब्जमस्याः, इस प्रकार पाठ से समासगता लुप्ता उपमा है ।६।

उपमेय का लोप से धर्म का लोप होने से लुप्तोपमा होता है, उपमेय का अप्रयोग से क्यच् प्रत्यय में एक प्रकार लुप्तोपमा होगी । दृष्टान्त—दिति पुत्रों का विक्रम को देखकर उत्फुल्ललोचन हरि, केवल चक्र से ही उनके भुजद्वय सहस्र आयुध का कार्य किए थे, यहाँ सहस्रायुधमिवात्मानमाचरतीति वाक्य में उपमेयस्य आत्मनोलोपः।७

धर्म सामान्य धर्म एवं उपमेय का युगपद् अप्रयोग से अपरा एकविधा लुप्तोपमा होगी। उदाहरण—यशसि प्रसरति कृष्णात् क्षीरोदयन्ति सिन्धवः सर्वे, यहाँ क्षीरोदमिव आत्मानमाचरन्ति इति उपमेय आत्मा साधारण धर्म शुक्लता लुप्ता ।।८।।

सम्प्रति उपमान, उपमेय सामान्यधर्म के मध्य में यथासम्भव

**तेनोपमाया भेदाः स्युः सप्तविंशति–संख्यकाः ॥१०॥**

**पूर्णा षड् विधा लुप्ता चैकविंशतिधेति सप्तविंशति प्रकारा उपमा ।**
**एषु चोपमाभेदेषु मध्ये त्वलुप्तसाधारणधर्मेषु विशेषः प्रतिपाद्यते ।**

---

लोप होने से लुप्तोपमा होगी, उपमान, सादृश्य वाचक शब्द साधारण धर्म का लोप होने से अर्थात् प्रयोग न होने से समासगता अन्याएक त्रिधा लुप्तोपमा होगी। उदाहरण सा राधामृगलोचना' यहाँ मृगस्य लोचने इव चञ्चले यस्या इति समासे उपमा, तत् प्रतिपादक साधारण धर्मोपमेयायां लोपः ॥६॥

अतः उपमा का भेद–२७ सप्तविंशति हुआ पूर्णा षड् विधा, लुप्ता एकविंशतिविधा, जोड़ से सप्तविंशति प्रकार लुप्तोपमा है।

**नामानि** | **उदारहणानि**

पूर्णोपमा-६
- श्रौती ३-
  - तद्धितगता १ सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य
  - समासगता १ कुम्भाविव स्तनौ पीनौ।
  - वाक्यगता १ हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दु र्यथा राधे।
- आर्थी ३-
  - तद्धितगता १ मधुरः सुधावदधरः ।
  - समासगता १ पल्लवतुल्योऽतिपेशल पाणिः ।
  - वाक्यगता १ चकित मृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः,

लुप्तोपमा-२१

सामान्य धर्मलोपे५--
- श्रौती २-
  - समासगता १–वाचः सुधा इव ।
  - वाक्यगता १–मुखमिन्दु र्यथा।
- आर्थी ३-
  - तद्धितगता १–मनोवज्रवत्
  - समासगता १–ओष्ठस्ते बिम्बतुल्यः ।
  - वाक्यगता १–पाणिः पल्लवेन समः ।

प्रत्यये ५
- क्यचि २-
  - आधारात् क्यचि १–अन्तः पुरीयसि वनेषु
  - कर्मणः क्यचि १–पौरं जनं सुतीयसि

**एकरूपः क्वचित् क्वापि भिन्नः साधारणो गुणः ।**
**भिन्ने विम्बानुविम्बत्वं शब्दमात्रेण वा भिदा ॥१०॥**

---

कचङि १-कर्त्तुः क्यङि १ श्रीस्तव रमणीयते
णमुलि २-कर्मणि णमुलि १ अमृत द्युतिदर्श दृष्टः ।
कर्त्तरि णमुलि १ इन्द्रसञ्चार सञ्चरसि

उपमानलोपे २-　वाक्यगता १ तस्यामुखेनसदृशं रम्यं नास्ते
समासगता १ नवा नयन तुल्यं रम्यं

इवादिलोपे २—　समासगता १ सुधाकरमनोहर वदनम् ।
क्विप् प्रत्ययगता १ कोकिलति श्रुति मधुरं
गायत् पञ्चम विशेषमेकान्ते ।

सामान्य धर्म उपमानञ्च
एतयोरुभयोर्लोपे २—　समासगता १ न वा नयन सदृशं
वाक्यगता १ लक्ष्म्या मुखेन तुल्यं रम्यं नास्ते ।

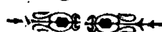
सामान्य धर्म इवादिश्च
एतयोरुभयोर्लोपे २—क्विप प्रत्ययगता १ विधवति मुखं रमायाः
समासगता　१ मुखाब्जमस्याः

उपमेय लोपे क्यचि १--कर्मणि क्यचि　१ विकस्वर विलोचनः
सहस्त्रायुधीयति ।

सामान्य धर्म उपमेयश्च
एतयोरुभयोर्लोपे　१—कर्मणि क्यचि १ क्षीरोदयन्ति सागराः

उपमानं, इत्यादि सामान्यधर्मश्च
एषां सर्वेषां लोपे　१—समासगता १ सा राधा मृगलोचना ।

**तेनोपमायाभेदाः स्युसप्तविंशति संख्यकाः ॥**



साधारण धर्म लोप से अलुप्त साधारण धर्म से उपमा दो प्रकार होगी । उस में से अलुप्त साधारण धर्म के मध्यमें विशेषकुछ कहते

एकरूपो यथा - मधुरं सुधावदधरं वेत्ति वंशी परं तव ।

विम्ब प्रतिविम्बत्वेन यथा—

श्मश्रु युक्तैः श्चितैः कालयवनीयशिरोगणैः ।
स्तृता भूः सरघाव्याप्तैः सा क्षौद्र--पटलैरिव ॥

अत्र श्मश्रु युक्तैरित्यस्य सरघाव्याप्तैरिति दृष्टान्तवत् प्रतिविम्वनं ।

शब्दमात्रेण भिन्नत्वे यथा—

स्मेरं विधाय नयनं विकसितमिव नीलमुत्पलं हरये ।
कलयामास कृशाङ्गी मनोगतं निखिलमाकूतं ॥

अत्र स्मेरविकसितत्वे वक्ष्यमाण-प्रतिवस्तूपमालङ्कारवत् शब्दभेदेन निर्द्दिष्टे ।

'एकदेशविवर्त्तिन्युपमा वाच्यत्व-गम्यते ।
भवेतां यत्र साम्यस्य ॥'११॥

---

हैं। कहीं पर साधारण धर्म एक प्रकार होता है, वस्तुत एक प्रकार नहीं, कहीं पर वस्तुनः तथा प्रकार से भेद युक्त है। भिन्न वस्तु में विम्वानुविम्व भाव होता है। दर्पण में मुख का प्रतिविम्व मुख से भिन्न होकर भी अभिन्न होता है, इस प्रकार उपमान उपमेयगत धर्म का वस्तुत भेद होता है, किन्तु सौसादृश्य से अभेद होता है। शब्द से ही भेद होता है, किन्तु वस्तुत भेद नहीं है।

एक रूप में उदाहरण—मधुरं सुधावदधरं वेत्तिवंशी परं तव विम्व प्रतिविम्व का उदाहरण श्मश्रुयुक्त कालयवनीय मस्तकों से भूमि व्याप्त हो गई थी, मानो मौहार व्याप्त चाक है। यहाँ श्मश्रुयुक्त पद से मधुमक्षिका व्याप्त दृष्टान्त से प्रतिविम्वित हुआ है। शब्द से भिन्न होने का दृष्टान्त। विकसित नील उत्पन्न की भाँति ईषत् हास्य युक्त कृष्ण के नयन युगल को देखकर व्रजललना ने हरि को निखिल मनोभावः अर्पण किया। यहाँ स्मेर विकसित्व में प्रति-वस्तूपमा की भाँति शब्द का भेद ही है ॥१०॥

एकदेशविवर्त्तिनी उपमा को कहते हैं। यहाँपर साम्य का बोध अभिधा से, व्यञ्जना से होता है, सादृश्य का बोध भो अभिधा

यथा—'नेत्रैरिवोत्पलैं वक्त्रैरिव पद्मैः पदे पदे ।
यमुना भाति पश्येयं चक्रवाकैः स्तनैरिव ।।'

अत्रोत्पलादीनां नेत्रादि--सादृश्यं वाच्यं । यमुनाया स्त्वङ्गना-सादृश्यं गम्यं । [ श्रीकृष्णस्य श्रीराधायै वाक्यमिदं ] ।।१

कथिता रसनोपमा ।

**यथोद्ध्वंमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता ।।१२।।**

यथा—'चन्द्रायते शुभ्ररुचापि हंसो हंसायते चारु गतेन राधा ।
राधायते स्पर्शसुखेन वारि वारीयते स्वच्छतया विहारः ।।

**मालोपमा यदेकस्मिन् उपमानं भवेद्बहु ।।१३।।**

यथा—( पौर्णमासीं प्रति वृन्दा-वचनं ]
वारिजेणेव सरसी शशिनेव निशीथिनी ।
मधुनेव बनश्रेणी कृष्ण-सङ्गेन सा बभौ ।।२ [ सा—राधा ]

---

व्यञ्जना से हो, वहाँ एकदेशविवर्त्तिनी नामिका उपमा होता है। एकदेश में साम्य का वाच्यत्व भाग में विवर्त्तन होता है, दृष्टान्त--नेत्र रूप उत्पलों के द्वारा, पद्मरूप वदन से स्तनरूप चक्रवाक के द्वारा यमुना शोभित है। यहाँ उत्पलादि के साथ नेत्रादि का सादृश्य शब्दत: लभ्य है, यमुना में अङ्गना का सादृश्य, व्यञ्जना से लभ्यहै, श्रीराधा के प्रति श्रीकृष्ण का कथन है ।।११।।

उपमेय, उपमान की भाँति प्रतीति होने से रसनोपमा होती है। दृष्टान्त,—हंस, शुभ्र कान्ति से चन्द्र के समान प्रतीत होता है, मनोज्ञ गमन लीला से श्रीराधा, हंसगमनी होती है, जल, स्पर्श सुख से राधा के समान प्रतीत होता है, विहार-स्वच्छता से वारि के समान प्रतीत होता है ।।१२।।

एकत्र अनेक उपमान होने से मालोपमा होती है। पौर्णमासी के प्रति वृन्दा का वचन इस प्रकार है,—सा, राधा, श्रीकृष्ण के सङ्ग से इस प्रकार शोभिता हुई, जिस प्रकार कमल से सरोवर शोभित होता है, रात्रि चन्द्र से वसन्त काल से बनश्रेणी शोभित होती है ।१३

क्वचिदुपमानोपमेययो र्द्वयोरपि । प्रकृतत्वं दृश्यते, यथा—

[ श्रीकृष्ण-पार्श्वं नेतुं श्रीराधां प्रति वृन्दा-वचनं ] ।

हंस श्चन्द्र इवाभाति जलं व्योमतलं यथा ।
कुमुदालीव तारालिः स्वच्छा शरदि राधिके ॥

[ धृतराष्ट्रं प्रति श्रीनारद वाक्यं ]

पाण्डुसूनो र्गृहे र्तिह भूपानीता बभूः श्रियः ।
पुरन्दरस्य भवने कल्पवृक्षभवा इव ॥

अत्रोपमेयभूत--विभूतिभिः कल्पवृक्षभवा इवेत्यत्र विभूतय आक्षिप्यन्ते इत्याक्षेपोपमा । अत्रैव गृह इत्यस्य भवन इत्यनेन प्रतिनिर्देशात् प्रति निर्द्देशोपमा । इत्यादयश्च लक्षिताः; एवम्विधवैचित्र्यस्य सहस्रधादर्शनात् ।

'उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः ।'।१५॥

अथर्दिकवाक्ये । यथा—[ दन्तवक्रबधानन्तरं पुनर्गोकुलमागतस्य

---

कहीं पर उपमान उपमेय दोनों ही वर्णना का विषय होते हैं, श्रीकृष्ण के निकट ले जाने के लिए श्रीराधा के प्रति वृन्दा का कथन, इस प्रकार है— हे राधिके ! हंस चन्द्र के समान दिखाई देता है । जल आकाश तल के समान स्वच्छ हो रहा है,शरत् काल के आगमन से नक्षत्र समूह कुमुद श्रेणी के समान प्रतीत हो रहे हैं । धृतराष्ट्र के प्रति श्रीनारद का कथन, इस प्रकार है, इन्द्र भवन में कल्पवृक्ष से प्राप्त वैभव के समान, पाण्डवों के गृह में राजन्य वर्ग के द्वारा आनीत सामग्री शोभित हुई ।

यहाँपर उपमेय स्वरूप विभूति कल्पवृक्ष से उत्पन्न विभूति की भाँति प्रतीति होती हैं, यह आक्षेप लभ्य है । इस को आक्षेप उपमा कहते हैं । इस घर में-इस के भवन में इस प्रकार प्रतिनिर्देश होने से प्रतिनिर्देशोपमा होती है, इस प्रकार उपमाका वैचित्र्य अनेक प्रकार है ॥१४॥

एकपदार्थ युगपत् उपमान उपमेय भाव को प्राप्त करने से अनन्वय अलङ्कार होता है। अर्थात् एकवाक्य में,यथा—दन्तवक्रबध के

कृष्णस्य विवाह-समये कृष्णराधाया स्तादृशत्वं वीक्ष्य पौर्णमासीं प्रति वृन्दायाः सानन्द-वचनं ]

कृष्णः कृष्ण इवादीपि राधा राधेव तत्र * चेत् ।
तदा तयो र्लक्षणं वा केन * कुर्य्याद् विलक्षणम् ?

अत्र कृष्णराधयो रनन्य-सदृशत्व-प्रतिपादनायोपमेयोपमानभावो विवक्षितः । कृष्णो गोविन्दवद्भातीत्युक्तौ लाटानुप्रासाद्विविक्तत्वं स्यात् । किन्त्वत्रौचित्यादेक एव शब्द प्रयोक्तुं योग्यः । यदुक्तं--

**अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुसङ्गिकं ।**
**लाटानुप्रास एतस्मिन् साक्षादेव प्रयोजकम् ॥इति**

---****---*

**'पर्य्यायेण द्वयो रेतदुपमेयोपमा मता ॥१६॥**

पर्य्यायेण व्यत्ययेन । एतदुपमानोपमेयत्वं । अर्थात् वाक्यद्वये;

---

अनन्तर पुनर्बार गोकुल में आकर राधा से परिणय सूत्र बन्धन कृष्ण का हुआ, इसे देख कर पौर्णमासी के प्रति वृन्दा का आनन्द वचन इस प्रकार है—विवाह के समय कृष्ण कृष्ण के समान प्रकाशित है, राधा भी राधा के समान शोभित है, तब दोनों का विलक्षण लक्षण किस से किया जाय ? यहाँ राधाकृष्ण का अनन्य सदृशत्व प्रतिपादन से उपमेयोपमाभाव ही विवक्षित हुआ हैं, कृष्ण गोविन्द के समान प्रकाशित है, इस प्रकार कथन से लाटानुप्रास से भिन्न प्रतीत होता है, किन्तु यहाँ औचित्य के कारण एक शब्द को रखना ही ठीक है, कहा भी है—अनन्वय अलङ्कार में शब्द का अभिन्न आनुपूर्वक होना नियत नहीं हैं, किन्तु लाटानुप्रास में शब्दैक्य होना सर्वथा नियत है, अन्यथा लाटानुप्रास नहीं होगा ॥१५॥

पर्यायक्रम से उपमान उपमेय परस्पर उपमेय उपमान होते हैं तो उपमेयोपमा अलङ्कार होगा । पर्याय शब्द से व्यत्यय, परिवर्त्तन को जानना होगा, यह उपमान उपमेय, उर्थात् वाक्यद्वय में यह अलङ्कार होगा, पूर्ववाक्य का उपमान, उत्तर वाक्य का उपमेय

यथा — [ श्रीराधिकायाः सौन्दर्य्यादि--वर्णनं शुश्रूषुषु श्रीकृष्णादि-सखीवर्गेषु सारिका-वचनं ]

श्रीराधिकानन्यसमानसत्यसौमाधुर्य्य-सम्पत्ति रिवाघविद्विषः ।
माधुर्य्य सम्पत्तिरपीयमुच्चकैः श्रीराधिकेवानुपमा विराजते ।।

अत्र राधिकाघविद्विष माधुर्य्यसम्पदोः सदृशं वस्त्वन्तरं नास्तीति गम्यते ।३

——✲✲✲——

'सादृशानुभवाद् वस्तु–स्मृतिः स्मरणमुच्यते ।।१७।।

यथा – नीलारविन्दमुद्वीक्ष्य खेलत् खञ्जनमञ्जसा ।
स्मरामि वदनं शौरे श्चारु चञ्चल-लोचनं ।।

'स्मरामि करुणां वर्षदरुणं हरिलोचनमि'त्यत्र तु स्मृतेः सादृश्यानुभवं विनोत्थितापितत्वान्नायमलङ्कारः । राघवानन्दमहापात्रास्तु वैसादृश्यस्मृतिमपि स्मरणालङ्कारमिच्छन्ति । यथा —

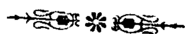
---

होगा। उदाहरण—श्रीराधिका के सौन्दर्यादि वर्णन को सुनने के इच्छुक श्रीकृष्णादि सखी वर्ग में सारिका की उक्ति इस प्रकार है। श्रीराधिका की अनन्य समान सत्य सौमाधुर्य सम्पत्ति है, श्रीकृष्ण की माधुर्य सम्पति भी राधिका की सम्पत्ति के समान है ।।१६।।

यहाँ राधिका श्रीकृष्ण की माधुर्य सम्पत्ति के समान अपर वस्तु है ही नहीं ।।३।।

वाच्य साम्यघटित अलङ्कार का वर्णन करके सम्प्रति व्यङ्गय साम्य अलङ्कार के मध्य में सुष्पष्ट प्रतीत स्मरण नामक अलङ्कार का वर्णन करते हैं। सदृश वस्तु को देखकर पूर्वानुभूत पदार्थ की स्मृति को स्मरण नामक अलङ्कार कहते हैं। यथा— खञ्जन पक्षि विलसित नील कमल को देखकर कृष्ण चन्द्र के चारु चञ्चल युक्त वदन का स्मरण करता हूँ। स्मरामि करुणां वर्षदरुणं हरि लोचनम्' यहाँ पर जो स्मृति हुई है, वह सादृश्यानुभव के विना ही हुई है, अतएव यह स्मरणालङ्कार नहीं है। राघवानन्द महापात्र तो विसदृश पदार्थानुभव से भी स्मरणालङ्कार मानते हैं।

शिरीष-मृद्वी गिरिषु प्रपेदे यदा यदा दुःखशतानि सीता ।
तदा तदास्याः सदनेषु सौख्यलक्षाणि दध्यौ गलदश्रु रामः ॥४॥



## 'रूपकं रूपितारोपाद् विषये निरपह्नवे' ॥१८॥

रूपितेति परिणामाद्व्यवच्छेदः । एतच्च तत्प्रस्तावे विचारयिष्यामः । निरपह्नव इत्यपह्नुति-व्यवच्छेदाय । तत् परम्परितं साङ्गं निरङ्गमिति च त्रिधा । तत् रूपकं । तत्र—

यथा—शिरीष कुसुमवत् कोमलाङ्गी सीता, पर्वतेषु यदा यदा-सर्वेष्वेव व्यापारेषु बहुतर दुःखानि प्राप, तत्रैव रामः,-राजधानीस्थ गृहेषु सीतायाः सर्वेषु व्यापारेषु असंख्य सुखानि निर्गच्छन्ति अश्रूणि यस्मिन् कर्मणि तद् यथा तथा दध्यौ सस्मार ॥ यहाँ विसदृश दुःख शत के अनुभव से उस के विपरीत सुख की स्मृति होने से स्मरणालङ्कार हुआ है ॥१७॥

व्यङ्ग्य साम्य अलङ्कार के मध्य में रूपक का स्थान प्रधानतम है, अतः रूपकालङ्कार का वर्णन करते हैं, शब्दत, तात् पर्य्यत निषेध रहित होकर उपमेय में उपमान का अभेद आरोप को रूपकालङ्कार कहते हैं, रूपयति उपमानोपमेययोरभेदा रोपणं करोतीति रूपकम् ।

लक्षण में रूपित पद प्रदान से परिणाम अलङ्कार का निरास हुआ, अर्थात् रूपक परिणामालङ्कार नहीं हुआ उपमेय में उपमान का अभेदारोप ही रूपक है, उपमेय में आरोप्यमाण उपमाण का अभेद प्रकृत में उपयोगी होने से परिणाम अलङ्कार होता है । इस का विचार, परिणाम अलङ्कार निरूपण के समय करेंगे । निरपह्नव पद प्रदान से अपह्नुति अलङ्कार की व्यावृत्ति हुई । शब्द तात्पर्य्य से निषेध का नाम अपह्नव, उपमेय में उपमान का अभेदारोप रूपक, सापह्नव उपमेय में उपमान का अभेदारोप अपह्नुति है, यह रूपक परम्परित । जिस में कार्य कारण भाव श्रेणी परम्परा क्रम से विन्यस्त है, साङ्ग—। समस्त प्रतिपादक के साथ । निरङ्ग (प्रतिपादकोंमें एक का न होना) तीन प्रकार है ॥१८॥

**यत्र कस्यचिदारोपः परारोपण-कारणं ।**

**तत् परंपरितं प्राहुः श्लिष्टाश्लिष्ट-निबन्धनं ।**

**प्रत्येकं केवलं मालारूपञ्चेति चतुर्विधम् !**

तत्र श्लिष्टशब्द-निबन्धनं केवलं परस्परितं यथा—

आहवे जगदुद्दण्ड राजमण्डलराहवे ।
श्रीनृसिंह महीपाल स्वस्त्यस्तु तव बाहवे ।

अत्र तादृशराजमण्डलो दैत्यनृप-समूह एव चन्द्रविम्वमित्यारोपः, पुण्यकालाविर्भावि श्रीनृसिंह-वाहो राहुत्वारोपे निमित्तं । राजशब्देन हि चन्द्रोऽप्युच्यते ।

**माला यथा**—पद्मोदय-दिनाधीशः सदागतिसमीरणः ।
क्रुरभूभृद्वर्गवर्जं श्रीकृष्ण त्वं विराजसे ।।

अत्र पद्मायाा उदय एव पद्मानामुदयः । सतामागतिरेव सर्व्वदागमनं हिंसकभूभृद्वर्ग एव कठिनपर्वतवृन्दं इत्याद्यारोपः श्रीकृष्णस्य सूर्य्यत्वाद्यारोपे निमित्तं ।

---

त्रिविध रूपक के मध्य में परम्परित रूपक का वर्णन करते हैं, यहाँ एक का आरोप अन्य आरोप के लिए कारण वनता है, उसे परम्परित कहते हैं, वह परम्परित रूपक दो प्रकारहैं, श्लिष्ट अश्लिष्ट निबन्धन दो प्रकार हैं, एक एक भी केवल, एकमात्रभूत, मालारूप अनेक भूत, है, अतः समुदाय से परम्परित रूपक चार प्रकार हैं, उस में श्लिष्ट शब्द निबन्धन केवल परम्परित का उदाहरण—हे श्रेष्ठ सैन्य युक्त श्रीनृसिंह महीपाल ! युद्ध क्षेत्र में आप के वाहुद्वय शत्रदलन कार्य में राहु के समान हैं, अतः वह जय युक्त हो ।

यहाँ राजमण्डल दैत्यनृप समूह ही चन्द्र विम्व हैं, इस प्रकार आरोप ही पुण्य काल में आविर्भात्र परायण श्रीनृसिंह के वाहु में राहुत्वारोपण में निमित्त है, राज शब्द से भी चन्द्र का बोध होताहै ।

**मालारूपक**—हे श्रीकृष्ण ! आप ही पद्मकुलविकासी सूर्यस्वरूप हैं, जिस प्रकार एक सूर्य असंख्य पद्मविकास कार्य में समर्थ हैं, उस

**आश्लिष्ट-निबन्धनं केवलं यथा—**

पान्तु वो जलदश्यामाः शार्ङ्गज्याहति–कर्कशाः ।
त्रैलोक्यमण्डपस्तम्भा श्चत्वारः कृष्णबाहवः ॥

अत्र त्रैलोक्ये मण्डपत्वारोपः कृष्णबाहूनां स्तम्भत्वारोपे निमित्तं ।

**माला यथा—**

मनोजरासस्य सितातपत्रं श्रीखण्डचित्रं हरिदङ्गनायाः ।
विराजति व्योम सरः-सरोजं राधे ! सिताभ्रप्रभमिन्दुविम्वं ॥

अत्र मनोजादे राजत्वाद्यारोप श्चन्द्रविम्वस्य सितातपत्रत्वाद्यारोपे निमित्तं । अत्र च नृसिंहभुजादीनां राहुत्वाद्यारोपो हिंसक नृप -समूहा दीनां चन्द्रविम्वत्वाद्यारोपे निमित्तमिति केचित् ॥ १६॥

**अङ्गिनो यदि साङ्गस्य रूपणं साङ्गमेव तत् ।**

---

प्रकार आप एक ही पृथिवी में असाधारण सम्पत्ति की वृद्धि करते हैं, जिस प्रकार वायु सर्वत्र गमन करती है, उस प्रकार आप भी दान-माण के द्वारा सदा साधुओं का आगमन सम्पादन करते हैं, हिंसक भूभृद्वर्ग ही कठिन पर्वतवृन्द हैं, इस प्रकार आरोप ही श्रीकृष्ण में सूर्यत्वादि आरोप के प्रति कारण है ।

अश्लिष्ट निबन्धन केवल का उदाहरण—
मेघश्यामल शार्ङ्गधनु आकर्षण विकर्षण से अतिकर्कश, त्रैलोक्य मण्डपस्तम्भ श्रीकृष्ण के चतुर्बाहु तुम सब की रक्षा करें, । यहाँपर तीन लोक में मण्डपत्वारोप ही श्रीकृष्ण बाहु में स्तम्भत्वारोप के प्रति निमित्त है ।

मालारूपक का दृष्टान्त—हे राधे ! कन्दर्प राज के शुभछत्र के समान, दिग्वधूयों के श्रीखण्डचित्र की भाँति--आकाश सरोवर के कमल की भाँति चन्द्रमा प्रकाशित है, यहाँ मनोज में राजत्वारोप ही चन्द्रविम्व में सितातपत्रादि आरोपण में कारण है, इस प्रकार श्रीनृसिंह भुजो में राहुत्वारोप ही हिंसक राजन्य वर्ग में चन्द्र विम्बत्वारोपण में कारण है । यह मत दूसरे का है ॥१६॥

**समस्तवस्तुविषयमेकदेश--विवर्त्ति च ॥**

तत्र, 'आरोप्याणामशेषाणां शाब्दत्वे प्रथमं मतं'। यथा—

रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः ।
अभिमृष्य मरुत् सस्यं कृष्णमेघ स्तिरोदधे ॥

अत्र कृष्णस्य मेघत्वारोपवद् वागादीनाममृतत्वादिकमारोपितं ॥२०॥

**यत्र कस्यचिदार्थत्वमेकदेशविवर्त्ति तत्**

कस्यचिदारोप्यमाणस्य । यथा—

लावण्यमधुभिः पूर्णं कृष्णस्यास्यं विकस्वरं ।
लोकलोचन–रोलम्बकदम्बैः कै नं पीयते ॥

---

साङ्ग रूपक का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।
आकाङ्क्षित अङ्गयुक्त अङ्गी प्रधान उपमान का यदि रूपण हो, और उस प्रकार ही उपमेय का अभेदारोपण हो, तब साङ्ग नामक रूपक होगा, अर्थात् साङ्ग उपमेय में साङ्ग उपमान का अभेदारोप ही साङ्ग रूपक है, वह दो प्रकार है, एक—समस्त वस्तु विषय अपर एकदेशविवर्त्ति, समस्त वस्तु-अर्थात् अङ्गाङ्गि समुदाय विषय, शब्द से गृहीत होते हैं, यह ही समस्त वस्तु विषय है, एकदेश में विवर्त्तित होता है, शब्दत्वांश में विशेषण रूप में स्थित होता है, वह एकदेश विवर्त्ति कहलाता है। अशेष आरोप्यमाण का शब्द द्वारा उपस्थित होने से समस्त वस्तु विषय होता है।

रावण रूप अनावृष्टि से क्लान्त देवगणरूपसस्य को वाणीरूप अमृत से सिञ्चन कर कृष्ण मेघ अन्तर्द्धान हो गया।

कृष्ण में मेघत्वारूोपण कर्त्तव्य होने से ही वाणी में अमृत का आरोप हुआ, वर्षण के लिए जो जो सामग्री की आवश्यकता होती है, यहाँ भी वे सब सामग्री हैं, जिस प्रकार कर्त्ता, कर्म, करण, उपमेय भूत कृष्ण, उपमान स्वरूप मेघ--कर्त्ता रूप से स्वतन्त्र होने से अङ्गी है, वाग् अमृत समूह अङ्ग होने से प्रयोज्य है, वर्षण सम्पादक होने से अङ्ग है, यह सब ही शब्दत: वर्णित हैं ॥२०॥

अत्र लावण्यादीनां मधुत्वाद्यारोपः शाब्दः। मुखस्य पद्मत्वारोपस्त्वार्थः। नचेयमेकदेशविवर्त्तिन्युपमा। विकस्वरत्वस्यारोप्ये पद्मे मुख्यतया वर्णनात्। मुखे तूपचारित्वात् ॥२१॥

'निरङ्ग' केवलस्यैव रूपणं, तदपि द्विधा' माला केवलरूपत्वात्। तत्र

**मालारूपं यथा—**

निर्माणकौशलं धातु मंङ्गलं लोकचक्षुषां।
मनः क्रीड़ागृहं शौरेः सेयमिन्दीवरेक्षणा ॥

जिस रूपण में आरोप्यमाण उपमान भेद की प्राप्ति अर्थ से होती है, उस रूपक को एकदेश विवर्त्ति साङ्ग रूपक कहते हैं।

लावण्य मधु से पूर्ण श्रीकृष्ण के प्रफुल्लित वदन का दर्शन लोक लोचन भ्रमरों से कौन नहीं करेगा॥

यहाँ लावण्य आदि में मधुत्व आरोप शब्द से ही गृहीत है, मुख में पद्मत्वारोप किन्तु अर्थ से गृहीत है, इस को एकदेश विवर्त्ति उपमा नहीं कह सकते हैं, विकस्वरत्वारोप्य पद्म का बोध शब्द से ही होता है। विकस्वरत्व का अर्थ--प्रस्फुटित वह प्रकाश सङ्कुचित शील पद्म में मुख्य रूप से सम्भव है। किन्तु सर्वदा एक रूप में स्थित मुख में वह सम्भव नहीं है। मुख्यार्थ प्राप्त होने से लक्षणा हेय है, इस नियम से विकस्वर पद ही रूपक का साधक है--उपमा का बाधक है ॥२१॥

निरङ्ग रूपक का वर्णन करते हैं—अङ्गरहित उपमान का रूपण, निरङ्ग उपमेय में अभेदारोपण निरङ्ग है। निरङ्ग उपमेय में निरङ्ग उपमान का अभेदारोपण, निरङ्ग नामक रूपक है।

यह निरङ्ग रूपक मालारूपक अर्थात् अनेकारोप युक्त है, केवल रूपक होने से एक मात्र आरोप युक्त है, अतः दो प्रकार भेद है।

नीलोत्पल नयना, विधाता का निर्माण कौशल को सूचित करती है, जननयनों का आनन्ददायक है, और कृष्णचन्द्र का क्रीड़ागृह है।

यहाँ इन्दीवरेक्षणा रूप निरङ्ग में निर्माण कौशल निरङ्ग

**केवलं यथा**—यत्ते सुजात-चरणाम्बुरुहं स्तनेषु

भीताः शनैः प्रिय ! दधीमहि कर्कशेषु ।
तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किं स्वित्
कूर्पादिभि र्भ्रमति धी र्भवदायुषां नः ॥२२॥

**'तेनाष्टौ रूपकभेदाः ।'** चिरन्तनैरुक्ता इति शेषः ॥२३॥

---

तीनों उपमानों का अभेद आरोपत्रय से मालारूप निरङ्ग है। निर्माण कौशल का उपमानत्व स्वीकार न करने पर भी आरोपद्वयका अनेक होने से मालारूपक हुआ है।

केवल का उदाहरण—गोपिका बोल रही है, हे प्रिय ! तुम्हारे सुजात चरणाम्बुरुह का धारण वक्षोज में भयभय से करती हूँ, कर्कश वक्षोज के स्पर्श से चरणों में व्यथा न हो, उस चरण से बन बन में घुमते रहते हो, इस से कितनी व्यथा होती है, शोचकर हमारी बुद्धि चकरा आती है।

यहाँ चरणाम्बुरुह रूप निरङ्ग में एक एक उपमेय में कर्कश रूप निरङ्ग रूप एक एक उपमान का एक मात्राभेदारोप से केवल रूप निरङ्ग रूपक है।

एक आरोप का कार्य कारण भाव से कार्यान्तर की अपेक्षा से परम्परित रूपक है, अङ्गाङ्गि भावसे आरोपान्तर सापेक्ष होने से साङ्ग है, सर्वथा आरोपान्तर निरपेक्ष होने से निरङ्ग रूपक होता है ॥२२॥

सम्प्रति शुद्ध रूपक भेद निरूपण का उपसंहार कर समुदाय से उस सङ्कलन करते हैं, उक्त प्रकार भेद समूह होने पर, शुद्ध रूपकालङ्कार के आठ प्रकार भेद हैं।

परम्परित ४ श्लिष्ट शब्दनिबन्धनम् केवलम् १ आहवे जगदुद्दण्ड
मालारूपकम् १ पद्मोदय दिनाधीश
अश्लिष्टशब्दनिबन्धनम् केवलम् १ पान्तु वो जलदश्यामाः
मालारूपकम् १ मनोजराजस्य

क्वचित् परम्परितमप्येकदेश विवर्त्ति, यथा—

खड्.गः क्ष्मा सौविदल्ल स्तव यदुनृपते इति ।

अत्रार्थः—क्ष्मायाः महिषीत्वारोपः खड्.गस्य सौविदल्लारोपे हेतुः । अस्य पूर्ववन्मालारूपत्वेऽप्युदाहरणं मृग्यं ॥२४॥

**'दृश्यन्ते क्वचिदारोप्याः श्लिष्टाः साङ्गेऽपि रूपके ।'**

| | | |
|---|---|---|
| साङ्गम् २ | समस्तवस्तुविषयम् | १ रावणावग्रहक्लान्तम् |
| | एकदेश विवर्त्ति | १ लावण्यमधुभिः पूर्वम् |
| निरङ्गम् २ | मालारूपकम् | १ निर्माण कौशलं धातुः |
| | केवलरूपकम् | १ दासेकृतागसि |

प्राचीनगण, परम्परित के उक्तभेद चतुष्टय को मानते हैं ॥२३॥



केवल साङ्ग रूपक ही एक देशविवर्त्ति होता यह नहीं, किन्तु परम्परित रूपक भी एकदेश विवर्त्ति होता है, वहाँ आरोपार्थ का होना सम्भव है, अतः परम्परित का चतुष्टय से अधिक भेद नहीं होता है, उसी में अन्तर्भाव है, प्राचीन गण परम्परित का अन्तर्भाव उक्त भेद चतुष्टय में ही करते हैं ।

उदाहरण—खड्.ग क्ष्मा सौविदल्ल स्तव यदुनृपतेः, इति' इस के पूर्वपादत्रय, पर्य्यङ्को राजलक्ष्म्या हरितमणिमयः पौरुषाब्धेस्तरङ्गः

भग्नप्रत्यर्थिवंशोल्वणविजयकरिस्त्यानन्दानाम्बुपट्टः ।

संग्रामत्रासताम्यन्मुरलपतियशोहंसनीलाम्बुवाहः । इति ।

इसका अर्थः– क्ष्मा पृथिवी में महिषीत्वारोप, एव खड्.ग में सौविदल्लत्वारोप में निमित्त है,यह पहले की भाँति मालारूपकमें होगा

कन्दर्प देवस्य सितात पत्रं श्रीखण्डचित्रं हरितोमनोज्ञम् ।

विराजते व्योमसरोजमेतत् कर्पूरपूरप्रभमिन्दुविम्बम् ॥

यहाँ कन्दर्प देव में राजत्वारोप दिक् में अङ्गनात्वारोप, आकाश में सरोवरत्वारोप, अर्थ लभ्य है, चन्द्रविम्ब में शब्द से ही सितातपत्रत्व सरोजत्वारोप के प्रति निमित्त है, इस प्रकार एकदेश विवर्त्ति माला रूप परम्परित रूपक है ॥२४॥

तत्रैकदेशविवर्त्ति श्लिष्टं यथा—

करमुदयगिरिस्तनेद्य राधे गलिततमः पटलांशुके निवेश्य ।
विकसितकुमुदेक्षणं विचुम्बत्ययममरेशदिशो मुखं सुधांशुः ॥

समस्तवस्तुविषयं यथात्रैव विचुम्बतीत्यादौ 'चुचुम्बे हरिदबलामुखमिन्दु-नायकेने'ति पदं ।

न चाश्लिष्टपरम्परितं—तत्र क्रूरमूभृद्दर्गवज्रमित्यादौ क्रूरमूभृदादौ वज्रत्वाद्यारोपं विना वर्णनीयस्य श्रीकृष्णादेः सर्व्वथैव सादृश्याभावाद्सङ्गतं । तर्हि पद्योदयेत्यादौ कथं परम्परितं श्रीकृष्णादिना सादृश्यस्य तेजस्वितादि-हेतुकस्य सम्भवादिति न वाच्यं । तथाहि श्रीकृष्णादेरतेजस्वित्वादिहेतुकं

---

सम्प्रति साङ्ग रूपक में भी श्लिष्ट शब्द निबन्धनत्वरूप परम्परित रूपक को दिखाते हैं, केवल परम्परित में होता है, यह नहीं। किन्तु साङ्ग रूपक में भी आरोप्य आरोपणीय उपमान वाचक शब्द श्लिष्ट होता है, अतः लक्ष्य के अनुसार लक्षण होने से इसको स्वीकार करना आवश्यक है। एकदेश विवर्त्ति श्लिष्ट का दृष्टान्त—हे राधे, ! सुधांशुने गलिततम पटलाशुंक में निजकरको निविष्ट कर उदयगिरिस्तन को स्पर्श किया है, पूर्वदिक् के विकसित कुमुदेक्षण युक्त मुख का चुम्बन भी किया है।

यहाँ नायक रूप सुधांशु अङ्गी है, तमः पटलांशुकगलनादि उसके अङ्ग रूप से कहा गया है, इस प्रकार साङ्ग रूपक हुआ है, तमः पटल में अंशुकत्वादि आरोप शब्द से प्राप्त है, अमरेशदिक् में नायिकात्व आरोप अर्थ लभ्य है। इस प्रकार एक देश विवर्त्तित है। कर-मुखशब्द श्लिष्ट होने से श्लिष्ट शब्द निबन्धनत्व है, इससे श्लिष्ट शब्द निबन्धन एक देश विवर्त्ति रूप साङ्ग रूपक अलङ्कार है।

समस्त वस्तुविषयक का उदाहरण भी उक्त पद्य में ही है, विकसित कुमुदेक्षणं चुचुम्बे हरिदबलामुखं इन्दुनायकेन। द्वितीयार्द्धमें उस प्रकार पाठ मानलेने से सकल आरोप ही शब्द गम्य होगा, श्लिष्ट-शब्द निबन्धन समस्त वस्तु विषयक साङ्ग रूपक होगा।

यह श्लिष्ट परम्परित हैं, कर श्लिष्ट है, और इस से ही महीधर

सादृश्यं सुव्यक्तं । न तु प्रकृते तद् विवक्षितं । पद्मोदयादेरेव द्वयोः साधारण-धर्म्मताया विवक्षितत्वात् । इह तु उदयगिरिस्तनादिना सादृश्यं पीनत्वादिना सुव्यक्तमेवेति न श्लिष्टं परम्परितं ।।२५।।

क्वचित् समासासङ्गावेऽपि रूपकं दृश्यते ।

'वदनं तव हे राधे ! सरोजमिति नान्यथा ।'

क्वचिद् वैयधिकरण्येनापि—

'विदधे मधुप-श्रेणीमिह भ्रूलतया विधिः ।'२६।।

क्वचिद् वैधर्म्येऽपि—

सौजन्याम्बु मरुस्थली सुचरिता लेख्यद्यु भित्तिर्गुण-
ज्योत्स्ना कृष्णचतुर्दशी सरलतायोगश्वपुच्छच्छटा ।

---

में स्तनत्वारोप हुआ इस प्रकार कहना ठीक नहीं है, क्रूर भूभृद्वर्ग वज्रं, यहाँ क्रूर भूभृद् आदि में वज्रत्वादि आरोप के विना वर्णनीय श्रीकृष्णादि का सर्वथा सादृश्य ही नहीं है, तब पद्मोदय इत्यादि में परम्परित कैसे होगा, श्रीकृष्णादि के द्वारा सादृश्य तेजस्वित्वादि हेतु का सम्भव होगा, यह भी नहीं कह सकते। श्रीकृष्णादि हेतुक सादृश्य सुव्यक्त है। यहाँ वह विवक्षित ही नहीं है। पद्मोदयादि दोनों का साधारण धर्म रूप से कथन हुआ है, प्रकृत स्थल में उदय गिरिस्तनादि के द्वारा सादृश्य पीनत्वादि से सुव्यक्त है, इसलिये यह श्लिष्ट परम्परित नहीं हुआ ।।२५।।

कहींपर समास न होने पर भी रूपक होता है, दृष्टान्त–हे राधे ! तुम्हारे वदन सरोज ही है, इस में अन्यथा नहीं है, यहाँ समास न होने पर भी मुख में सरोजत्वारोप से केवल निरङ्ग रूपक है।

कहींपर भिन्न विभक्ति होने पर भी रूपक होता है, विधिने भ्रूलता से वदन पङ्कजमें मधुप श्रेणी का निर्म्मण कियाहै, भ्रूलतया' यहाँ अभेद में तृतीया है, अन्यथा तादात्म्यारोप नहीं होगा ।।२६।।

कहींपर वैधर्म्य में भी रूपक होता है, उदाहरण—राजावली सौजन्य अम्बु में मरुस्थली है, सु चरित में--आकाश सदृश है, दया दाक्षिण्यादि गुणों में जोत्स्ना के लिए कृष्ण चतुर्दशी के समान है,

ये रेषापि दुराशया कलियुगे राजावली सेविता
तेषां शार्ङ्गिणि भक्तिमात्र–सुलभे सेवा कियत् कौशलं ।।२७।।

अत्र केषाञ्चिद्रूपकाणां शब्दश्लेषमूलत्वेऽपि रूपकविशेषत्वादर्थालङ्कार-मध्ये गणनं । एवं वक्ष्यमाणंवंविधालङ्कारेषु बोध्यं ।२८।

**अधिकारूढ़वैशिष्ट्यं रूपकं यत्तदेव तत् ।**

तदेवाधिकारूढ़वैशिष्ट्यसंज्ञकं । यथा —

इदं वक्त्रं राधे ! तव हतकलङ्कः शशधरः
सुधाधारा धारश्चिरपरिणतं बिम्बमधरः ।

---

कुत्ते की पुँछ की भाँति सरलता है, कलियुग में दुष्ट धन के लोभ से राजावली की सेवा जो लोक करते हैं, उनसवों की श्रीकृष्ण चरणों में उतने क्लेश से ही भक्ति की प्राप्ति होगी, अतः राजसेवा को छोड़ कर श्रीकृष्णभक्ति करना ही सुखकर है। यहाँ, जल के लिए मरुस्थल वित्त के लिए आकाश, कृष्णचतुर्दशी में ज्योत्स्ना, श्वपुच्छ में सरलता असम्भव है, अतः यह सब वैधर्म्य है, प्रथम विशेषणत्रय में अश्लिष्ट-शब्द निबन्धन मालारूप पारम्परित रूपक है, चतुर्थ विशेषण में निरङ्ग केवल रूपक है ।।२७।।

यहाँ कुछ रूपक शब्दश्लेषमूलक होने पर भी रूपक विशेष–रूपक का प्रकार विशेष होने से अर्थालङ्कार के मध्य में उसकी गणना होती है, श्लिष्ट परम्परित रूपक में शब्दार्थोभय अलङ्कार होना ही उचित है, इस प्रकार श्लेष मूलक अलङ्कार--अपह्नुति व्यतिरेकादि में जानना होगा ।।२८।।

पूर्वोक्त भेदों से विलक्षण भेद–अधिकारूढ़ वैशिष्ट नामक रूपक को कहते हैं, जो रूपक अपने में अधिक चमत् कारिता को व्यक्त करता है, वह अधिकारूढ़ वैशिष्ट्यसंज्ञक होता है। उपमान उपमेय में जो धर्म है, उसका महत्त्व न देकर जो धर्म उस में नहीं है, उसका आरोपकर रूपण करने से वैशिष्ट्य अधिक स्थापित होता है। अधि–रूढ़ वैशिष्टय संज्ञक रूपक का उदाहरण—हे राधे ! तुम्हारे यह वदन विनाकलङ्क का शशधर है, सुधाधारा–अमृत प्रवाह का आधार

इमे नेत्रे रात्रिन्दिवमधिकशोभे कुवलये
तनु र्लावण्यानां जलधिरवगाहे सुखभरः ।।
अत्र कलङ्कराहित्याविनाऽधिकं वैशिष्ट्यं ।।५।।

* *

**विषयार्थतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि ।**
**परिणामो भवेत्तुल्या तुल्याधिकरणो द्विधा ।।**

आरोप्यमाणस्यारोपविषयतया परिणामात् परिणामः ।

---

आश्रय है, ओष्ठ सुपक्वविम्बफल है दृश्यमान नेत्रद्वय दिनरात अधिक शोभित नीलोत्पल है, तथा तनुदेह लावण्यों का समुद्र है, अवगाहन में अत्यधिक सुखकर है। यहाँ कलङ्क राहित्यादि के द्वारा अधिक वैशिष्ट्य है, आदि पद से सुधाधारा का आधार को जानना होगा। उपमान-शशधर में कलङ्क है, किन्तु उस को छिपाकर मुख में उस का रूपण हुआ, अधर उपमेय में न होने पर भी सुधाधाराधारत्वधर्म का आरोप हुआ। उपमान विम्ब में अविद्यमान चिरपरिणतत्व धर्म का आरोपण हुआ है। कुवलय रात्रि में अधिक शोभित है, उपमान में दिनरात अधिक शोभत्व धर्मका आरोप करके नेत्र में रूपण हुआ है, जलधि में लावण्य न होने पर भी आरोपकर शरीर में उसका रूपण हुआ है ।।५।।

रूपक निरूपण के पश्चात् उस के सजातीय होने से परिणाम अलङ्कार को कहते हैं। आरोप्य में आरोपणीय पदार्थ में उपमेय में आरोप विषय तादात्म्येन उपमेयाभिन्न रूपसे प्रतीति करना ही परिणाम है। प्रस्तुत विषय का उपयोगी साधन के उपयोगी होकर परिणाम अलङ्कार होता है। अर्थात् प्रस्तुत विषय साधनोपयोगि रूपसे उपमेय में उपमान का अभेद आरोप को परिणाम कहते हैं। वह दो प्रकार है। तुल्याधिकरण, अतुल्याधिकरण, उपमान उपमान में एक विभक्ति होने से तुल्याधिकरण, असमान विभक्ति होने से अतुल्याधिकरण होता है।

आरोप्यमाण का उपमान का उपमेय रूप में परिणत होना

स्मितेनोपायनं कृष्णस्यागतस्य कृतं तया ।
स्तनोपपीड़माश्लेषं द्यूते चक्रे यया पणः ।।

अत्रोपायन पणौ वसनाभरणादिभावेनोपयुज्येते । अत्र तु कृष्ण-सम्भाषणद्यूतयोः स्मिताश्लेषरूपतया । प्रथमे वैयधिकरण्येन प्रयोगः । द्वितीये सामानाधिकरण्येन चेति । रूपके 'मुखचन्द्रं हरेः पश्ये'त्यादौ आरोप्यमाणस्य च चन्द्रादेरूपरञ्जकत्वमात्रं । न तु प्रकृते दर्शनादावुपयोगः । इस तूपायनादे विषयेण तादात्म्यं । प्रकृते च कृष्णसम्भाषणादौ उपयोगः । अतएव रूपके आरोप्यस्यावच्छेदकमात्रेणान्वयः । अत्र तु तादात्म्येन । 'यत्ते सुजाते'त्यादौ रूपकमेव, न परिणामः । अतिस्नेहेनातिकर्कशात्वानां स्तनानां पादव्यथनतायां अप्रस्तुतत्वादसौ तदागमनघटनार्थमनुसन्धीयते । अयमपि रूपकवदधिकारूढ़-विशिष्टो दृश्यते ।

---

ही परिणाम है, परिपूर्व नम धातु का भाव वाच्य में घन् प्रत्यय से परिणाम शब्द होता है, यथा—कृष्ण को आते देखकर उसने स्मित से ही उपायन प्रस्तुत किया, और द्यूतमें जो पण था उसकी भी रक्षा की स्तनोपपीड़ आलिङ्गन देकर, अतः उपमेयभूत स्मित में उपमान भूत उपायन का भेद आरोप ही प्रकृत कृष्ण के अभ्यर्थन का उपयोगी है, उपमेयभूत स्तनोपपीड़ आलिङ्गन में उपमानभूत पण का अभेद आरोप, प्रकृत द्यूत क्रीड़ा साधनोपयोगी है, अतः यह परिणाम अलङ्कार है।

यहाँ उपायन एवं पण में वसन आभरणादि का विनियोग होता है। प्रस्तुत स्थलमें कृष्ण सम्भाषण द्यूतमें स्मित एवं आलिङ्गन ही उसका निर्वाहक है। प्रथम में वैयधिकरण प्रयोग है, उपमान उपमेय भिन्न भिन्न विभक्ति के हैं। द्वितीयार्द्ध में सामानाधिकरण्य है, आश्लेष पण, उपमान उपमेय समान विभक्ति के हैं। रूपक में—

"मुखचद्रं हरेः पश्य" यहाँ आरोप्यमाण चन्द्र का उपरञ्जक मात्र है, अभेद आरोप से मुख में केवल सौन्दर्य्य प्रपिपादन होता है। किन्तु दर्शनादि में उपयोग नहीं है, मुख में चन्द्र का आरोप के विना भी दर्शन हो सकता है, परिणाम स्थल में स्मितेन, विषय स्मित

यथा — उद्यत्तमसि च वृन्दावनदेशे क्वापि चित्रमाभाति ।
काश्चन दिव्यौषधयः स्फुरन्ति दीपा विनापि तैलादि ।।
अत्र दीपानामोषध्यात्मतया प्रकृते श्रीकृष्णलीलोपयोगिन्यन्धकारनाश उपयोगः । अत्र तैलादि विनाभावेनाधिकारूढ़ वैशिष्टंच ।।६।।

**सन्देहःप्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः ।**

आश्लेष के साथ तादात्म्य अभिन्नता है । प्रकृत में कृष्णसम्भाषनादि में उपयोग होता है, अर्थात् साधनोपयोगी होता है । अतएव रूपक में आरोप्य उपमान पदार्थ का अवच्छेदक इतर व्यावर्त्तक रूप में उपमेयभूत मुखादि के साथ अभेदसम्बन्ध होता है । परिणाम में तादात्म्य से प्रकृत विषयसाधनोंपयोगिरूप से अभेद होता है । अर्थात् मुखचन्दं पश्यामि स्थल में उपमेय मुख के साथ उपमान चन्द्र का अभिन्न प्रत्यय नहीं होता है, किन्तु कुत्सित मुख का निरास करने के लिए सुन्दरादि विशेषण की भाँति उसकी प्रतीति होती है, "स्मितेनोपायनम्" परिणाम में स्मित उपायन उभयपदार्थ अभिन्न होकर कृष्ण का संवर्द्धन कार्य सम्पन्न करता है, अतः वस्तुत अभिन्न रूप से ही प्रतीति होता है ।

उपमान प्रतियोगि का भेद प्रतीति रूपक, उपमेय प्रतियोगि का भेद प्रतीति परिणाम है, यत्ते "सुजातचरणाम्बुरुहंस्तनेषु" यहाँ रूपक ही है, परिणाम नहीं है, अतिस्नेह से अति कर्कशस्तन समूह पादव्यथन का कारण हो, यह तो अप्रस्तुत है, अतः उस से सत्वर आने के लिए प्रेरणा हो गई है, परिणाम भी रूपक की भाँति अधिकारूढ़ वैशिष्ट्य युक्त होता है, यथा -- प्रगाढ़ तमसावृत वृन्दाबन प्रदेश में कुछ विचित्र घटना है, तैलादि के विना ही वहाँ के कल्प-वृक्षसमूह उद्भामित होकर अन्धकार विनष्ट करते हैं ।

यहाँ दीप समूह स्वरूप ओषधिगण होने से ही श्रीकृष्णलीलोप-योगि अन्धकार विनाशक होते हैं, यहाँ तैलादि विनाभाव से ही अधिकारूढ़ वैशिष्ट्य है । उपमान प्रदीप में वर्त्तमान तैलपूरधर्म का न दिखाकर ही प्रकाशक कहागया है ।।६।।

**शुद्धो निश्चयगर्भासौ निश्चयान्त इति त्रिधा ॥**

यत्र संशय एव पर्य्यवसानं तत्र शुद्धः । यथा—

एषा चम्पकमालिकात्र पतिता किं चन्द्रलेखाथवा
कान्तीनामधिदेवता भवति वा वृन्दाबनश्रीरुत ।
हा कष्टं नहि चेष्टते किमियमित्युद्विग्नधीवृत्तय
स्तामावव्रु रमूश्चमूरुनयना भृङ्गीनिभाः पद्मिनीं ।

यत्रादावन्ते च संशय एव, मध्ये निश्चयः स निश्चयमध्यः । यथा—

एकं प्रावृषिजं परं शरदिजं मेघं तदा मन्महे
यद्येतौ तिमिरापहौ न हरितां स्यातां कुमार–प्रभो ।
सूर्य्याचन्द्रमसाविमाविति मनागुत्प्रेक्षितुं शक्नुमः
किं त्वेकोऽसितकान्ति रेष तदपाकृत्यात्र विभ्राजते ॥

---

उपमान उपमेय परिवारभुक्त अलङ्कार,–उपमा (१), उत्प्रेक्षा (२), संदेह (३), भ्रान्तिमान (४), अपह्नुति (५), रूपक (६), रूपकातिशयोक्ति (७), अनन्वय (८), व्यतिरेक (९), निदर्शना (१०) हैं। उस में सन्देह अलङ्कार का लक्षण करते है यह उपमेय में उपमान का संशय से होता है, प्रकृत, उपमेय में प्रतिभोत्थित–कवि प्रौढ़ोक्ति मात्र प्राप्त है, पदार्थ स्वभाव सिद्ध नहीं है। अन्य उपमान का संशय सन्देह होना सन्देह नामक अलङ्कार है। तुल्यरूप से उभय पक्ष का ज्ञान से संशय होता है, एकपक्ष का उभय पक्षक का ज्ञान होना, सम्भावना है, अतः सम्भावना रूपा–उत्प्रेक्षा में अतिव्याप्ति नहीं होगी, यह सन्देह शुद्ध, निश्चयगर्भ, निश्चयान्त भेद से तीन प्रकार हैं।

जहाँ संशय में ही पर्यवसान होता है, वह शुद्ध है, यथा—यह गिरी हुई चम्पक माला है, अथवा चन्द्रलेखा ? कान्तियों की अधिदेवता है, अथवा श्रीवृन्दावन श्री है ? यह क्या है, निश्चय नहीं होता है, उद्विग्न होकर हरिण नयनागण पद्मिनी को उस प्रकार

अत्र कुमारप्रभावित्यत्र संशयानुट्टङ्कनात्तुल्यत्व–भङ्ग्या तौ श्रीकृष्ण रामाख्यौ कुमारावेव मध्ये निश्चितौ ।

यत्रादौ संशयोऽन्ते तु निश्चयः, स निश्चयान्तः । यथा—

किं तावत् सरसि सरोजमेतदारादाहोस्विन्मुखमवभासते तरुण्याः ।

संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय शौरि र्विब्वोकै र्बकसहवासिनां परोक्षैः ।※

अप्रतिभोत्थापिते तु स्थाणु र्वा पुरुषो वेत्यादि संशये नायमलङ्कारः ।

मध्यं तव सरोजाक्षि ! पयोधरभरार्द्दितं ।
अस्ति नास्तीति कृष्णः स्त्वां मद्द्वारा सखि ! पृच्छति ।।

अत्रातिशयोक्तिरेव । उपमानोपमेय–संशयस्यैव सन्देहालङ्कार–विषयत्वात् ।।७।।

---

कहरही थी, यहाँ आदि अन्त में ही संशय, मध्य में निश्चय है, वह निश्चय मध्य सन्देहालङ्कार है । यथा—एकतो वर्षाकालीन मेघ की भाँति है, अपर शरत् कालीन मेघ की भाँति है, यह रामकृष्ण कुमारद्वय दशदिग् को आलोकित नहीं करते हैं, अतः पुष्पवन्त रूपसे दोनों की उत्प्रेक्षा भी नहीं कर सकते हैं,किन्तु एक तो असित कान्ति से महीयान् होकर विराजित है ।

यहाँ "कुमार प्रभौ" शब्द से संशय उत्थित न होने पर तुल्यत्व भङ्गी के द्वारा श्रीकृष्ण बलराम नामक कुमार द्वय ही है, यह मध्य में निश्चित हुआ ।

यहाँ आदि में संशय है, और अन्त में निश्चय है, वह निश्चयान्त सन्देहालङ्कार है । यथा—सरोवर में सरोज है ? अथवा गोपाङ्गना का मुखहै ? इस प्रकार क्षण काल संशयायित होकर श्रीकृष्ण ने सहचर गणके अज्ञात से निश्चय कर लिया कि यह गोपतरुणी का मुख है । अप्रतिभा से उपस्थापित वर्णन " स्थाणु र्वा पुरुषो वा" संशय से सन्देहालङ्कार नहीं होगा ।

किन्तु हे सरोजाक्षि ! पयोधरभार से पीड़ित तुम्हारे मध्यदेश है, या नहीं ? हे सखि ! कृष्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए हमसे तुम को पुछवाना चाहते हैं । यह तो अतिशयोक्ति ही है, उपमान

'साम्यादतस्मि स्तद्बुद्धि र्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थिता ।

यथा—मल्लक्ष्म्या स्तव जन्मसिन्धु मननाद्देवा नमस्यन्ति यां
त्वत्कीर्त्तिप्रथिमेति सादरतया देव्यः समर्च्चन्ति च ।
त्वत्प्राप्ति प्रथमस्मितद्युति-धिया पर्य्येमि चाहं हरिः
सेयं चन्द्रमसः प्रभा न कुरुते कस्य भ्रमं राधिके !!

स्वरसोत्थापिता भ्रान्ति र्नायमलङ्कारः । यथा—शुक्तिकायां रजतमिति ।
न चासादृश्यमूला; यथा—

सङ्गमविरह-विकल्पे वरमिह विरहो न सङ्गमः शौरेः ।
सङ्गे स एक एव त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे ।।८।।

---

उपमेय का संशय ही सन्देहालङ्कार का विषय होता है ।।७।।

सम्प्रति भ्रम स्वरूप भ्रान्तिमान् अलङ्कार का लक्षण करते हैं । साम्यात्–सादृश्य से, अतस्मिन्–तद्भिन्न वस्तु में, प्रतिभोत्थिता, कविप्रौढ़िक्ति मात्र निष्पन्ना, तद्बुद्धि–तद्वस्तुत्व प्रकारक ज्ञानको भ्रान्तिमान् अलङ्कार कहते हैं, तादात्म्य रूप से भ्रान्ति प्रतीति भ्रान्तिमान् अलङ्कार है । एकत्र **अन्य का आरोप से रूपक एकत्र अन्यका अध्यवसायस्थल में अतिशयोक्ति, एकत्र अन्यका भ्रम होने से भ्रान्तिमान् होता है** । आरोप अध्यवसाय भ्रम का भेद ही है, यथा-श्रीकृष्ण कहते हैं–हे राधिके ! शोभासम्पत्ति की जन्मभूमिमानकर जिस को देवतागण प्रणाम करते हैं, देवीगण भी तुम्हारी कीर्त्ति को जानकर आदर से अर्चना करती है, मैं भी तुम्हारी प्राप्ति लक्षण स्मित द्युति बुद्धि से उसको मानता हूँ, वह चन्द्रिका किस को भ्रम में नहीं डालती है ? स्वाभाविक रूप से उत्थापित—शुक्तिकायां रजत मिति' भ्रान्ति, भ्रान्तिमान् अलङ्कार नहीं होगा । लक्षण में "साम्यात्" कहने पर असादृश्यमूलाभ्रान्ति भ्रान्तिमान् अलङ्कार नहीं होगा । सखि के निकट अनुताप से विरहिणी सखी कहती है, सखि ! प्रियतम का संयोग विरह का श्रेष्ठत्व अश्रेष्ठत्व निर्वचन में विरह की श्रेष्ठता प्रतीति होती है, कारण, सङ्गम में प्रिय प्रत्यक्ष

---

* पद्मानामगोचरैरित्यर्थः ।।

क्वचिद्भेदाद् गृहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित् ।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते ॥

क्रमेण यथा—प्रिय इति गोपवधूभिः शिशुरिति वृद्धैरधीश इति देवैः ।
पुरुषोत्तम इति भक्तै ब्रह्मेत्युपनिषद्भि रुच्यते कृष्णः ।

अत्रैकस्यापि कृष्णस्य तत्तद्गुणप्रकाशादनेकधोल्लेखे गोपबध्वादीनां रुच्यादयो यथायोगं प्रयोजकाः । यदाहुः—

यथारुचि यथार्थित्वं यथाव्युत्पत्ति भिद्यते ।
अभेदोप्यर्थ एकस्मिन्नतु सन्धान--साधितः ॥

अत्र कृष्णस्य प्रियत्वादीनां वास्तवत्वेन ग्रहीतृभेदेन च न मालारूपकं न च भ्रान्तिमान् । नचायं 'अभेदे भेद' इत्येवंरूपातिशयोक्तिः । तथाहि—अन्यदेवाङ्ग-लावण्यमित्यादौ लावण्यादे विषयस्य पृथक्त्वेनाप्यध्यवसानं । नचेह कृष्णे गोपबधूप्रभृतिभिः प्रियत्वाद्यध्यवसीयते । प्रियत्वादेः कृष्णे तात्त्विकत्वात् ।

---

होकर एकही रहते हैं, किन्तु विरहे त्रिभुवन ही प्रियतम मय हो जाता है अतः विरह ही श्रेष्ठ है । विरह दशामें उत्कट भावना से त्रिभुवन स्थित समस्त वस्तु में प्रियतम का भ्रम होने पर भी वहाँ सादृश्य नहीं है, अतः भ्रान्तिमान् नामक अलङ्कार नहीं हुआ है ॥८॥

भ्रान्तिमान् अलङ्कार का छायारूप सादृश्य होने से उल्लेख अलङ्कार का निरुपण करते हैं, किसी स्थल में ज्ञाता, व्यावर्त्तक धर्म ज्ञातव्य पदार्थों का भेद से एक पदार्थ का अनेक प्रकार से उल्लेख होना उल्लेख नामक अलङ्कार है ।

**ग्रहणकर्त्ता के भेद से उल्लेख का उदाहरण—**

श्रीकृष्ण को गोपियों ने वल्लभ प्रिय, वृद्धगणों ने शिशु, देवों ने अधीश, भक्तों ने पुरुषोत्तम, माना, उपनिषत् उन को ही ब्रह्म कहती है । यहाँ कृष्ण एक है, गुणों के प्रकाश से अनेक प्रकार कहेजाते हैं । इस में गोपबधूयों की रुचि ही कारण है । कहा भी है—मनोवृत्ति प्रयोजन, और व्युत्पत्ति के भेद से अवधारण की योग्यता के भेदसे

केचिदाहुः—अयमलङ्कारो नियमेनालङ्कारान्तर-विच्छित्ति-मूलः। उक्तोदाहरणे च शिशुत्वादीनां नियमाभिप्रायात् प्रियत्वादीनां भिन्नत्वाद्यध्यवसाय इत्यतिशयोक्ति रस्ति। तत्सद्भावे च प्रत्येतृ-भेदेन नानात्वप्रतीतिरूपो विच्छित्ति-विशेष उल्लेखभिन्नालङ्कार-प्रयोजकः। 'श्रीकण्ठजनपदवर्णने 'वज्रपञ्जर मति' 'शरणागतै रम्वरमिति' वातिकैरित्यादिन्यतिशयोक्ते विविक्तो विषयः। इह च रूपकालङ्कारयोगः। वस्तुतस्त्वम्वरविवरमित्यादौ भ्रान्तिमन्तमेवेच्छन्ति, न रूपकं; भेदप्रतीति पुरःसरस्यैवारोपस्य गौणीमूल--रूपकादि--प्रयोजकत्वात्। यदुक्तं शारीरकमीमांसा भाष्यव्याख्याने वाचस्पतिमिश्राः—'अपि च परशब्दः परत्र वक्ष्यमाणगुणयोगेन वर्त्तत इति।'

---

एक वस्तु में एक प्रकार ज्ञान भी भिन्न भिन्न प्रतीत होता है। यहाँ श्रीकृष्ण के प्रियत्वादि का वास्तव रूप से ग्रहीता के भेद से भी माला रूप रूपक नहीं हुआ, भ्रान्तिमान् भी नहीं हुआ। अभेद में भेद होना इस प्रकार अतिशयोक्ति भी नहीं है, अङ्ग का लावण्य अन्य ही है। यहाँ लावण्यादि का ज्ञान पृथक् रूपसे होता है। यदि कहो कि-गोपबधूगण कृष्ण को प्रीति करती हैं, प्रियत्व तो कृष्ण में तात्त्विक रूप से ही है।

मनीषिगण कहते हैं—यह उल्लेख अलङ्कार नियम से अलङ्कारान्तर के वैचित्री से होता "उक्त उदाहरण में--शिशुत्व प्रभृति के द्वारा प्रियत्वादि को भिन्न रूप से प्रतीति होती है, अभेद में भेद प्रतीति होने से अतिशयोक्ति है, उस की स्थिति से ही बोध कर्त्ता का भेद से अनेक प्रकार प्रतीति रूप वैचित्री विशेष उल्लेख अलङ्कार होता है। श्रीकण्ठ जनपदवर्णन में 'वज्रपञ्जर मति' शरणगतै रम्बरमिति वातिकैः" ये सब अतिशयोक्ति से भिन्न विषय हैं। वहाँपर रूपकालङ्कार है। देश में वज्रपञ्जरत्व अम्बरविवरत्व का आरोप है, अतएव वज्रपञ्जर इत्यादिस्थल में रूपक कृत विच्छित्ति मूल ही एवोल्लेखालङ्कार है, उन सबका यह मत है। वस्तुतस्तु अम्बर विवरम्" इत्यादि स्थल में भ्रान्तिमान् अलङ्कार मानते हैं, रूपक नहीं। भेद प्रतीति पूर्वक आरोप ही गौणीमूल-

यात्र प्रयोक्तृ--प्रतिपत्रोः संप्रतिपत्तिः, स गौणः। स च भेद-प्रत्यय-पुरःसर इति। इह तु वातिकानां श्रीकण्ठजनपदे भ्रान्तिकृताम्वरत्वाद्यारोप इति। अत्र "यत्तपोवनमिति" मुनिभिः "कामायतनमिति" वेश्याभिरित्यादौ च परिणामालङ्कारः गाम्भीर्य्येण समुद्रोऽसि गौरवेणासि पर्व्वत' इत्यादौ चानेकत्वोल्लेखे गाम्भीर्य्यादि विषयभेदः प्रयोजकः। अत्र च रूपकयोगः 'गुरु वंचसि पृथुरुरसि अर्जुनो यशसि' इत्यादिकस्य रूपकाद् विविक्तो विषयः। अत्र हि श्लेषमूलातिशयोक्तियोगः ॥६॥

---

रूपकादि का प्रयोजक है, शङ्कर भाष्य भामती टीकाकार वाचस्पति मिश्र का कथन को प्रमाण रूपसे दिखाते हैं, परशब्द--अन्यवाचक शब्द, परत्र-अन्यार्थ में गुणयोगेन वर्त्तते, सामान्य धर्म रूपसे प्रतिभात जो गुण-धर्म, उसका योग रूप सम्बन्ध से है, उपस्थापकता सम्बन्ध से रहता है, यहाँ वक्ता श्रोता का समानरूप से सामान्य धर्म का ज्ञान होता है, वह गौण नामक शब्द व्यापार है, गौर्वाहिक' स्थल में प्रथम परस्पर भेद प्रतीति होती है, अनन्तर गो शब्द जाड्यमान्द्यादि सामान्य धर्म योग्य से वाहिकार्थ में युक्त होता है, वक्ता और श्रोता का उक्त सामान्य धर्मज्ञान समान रूप से होता है। विवादास्पदस्थल में श्रीकण्ठ--जनपद में यथेच्छ गमन समान धर्म को देखकर आरोप हुआ है। अत भ्रान्तिमान् अलङ्कार ही है। हर्षचरितस्थ श्रीकण्ठजन पद वर्णनसन्दर्भ में "यत्तपोवनम्" मुनिभिः कामायतनम्" वेश्याभिः" यहाँ परिणाम-अलङ्कार है, आरोप्यमाण तपोबन, कामायतन का प्रकृत तपस्या कामोपभोग साधनोपयोगित्व है।

गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि, गौरवेणासि पर्वतः' इत्यादि स्थल में एक राजा का उल्लेख अनेकस्थान में होने पर गाम्भीर्यगतविषयाणां समुद्रत्वादि आरोप का प्रयोजक धर्मसमूह का भेद-उल्लेख अलङ्कार का कारण हैं, यहाँ रूपक का योग है। राजा में समुद्रत्वादि आरोप का मूल ही भेद प्रतीति पूर्वक सारोपाख्य गौणीरूप लक्षणा है। गुरुर्वचसि पृथुरुरसि अर्ज्जुनोयशसि' यहाँ पर वाणी में बृहस्पति तुल्य, पृथुमहाराज के समान, यश से तृतीय पाण्डव' उल्लेखालङ्कार-

'प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः ।'

इयञ्च द्विधा—क्वचिदपह्नव-पूर्वकारोपः, क्वचिदारोप-पूर्वकापह्नव इति । क्रमेण यथा—

नेदं नभोमण्डलमम्बुराशि र्नैताश्च तारा नवफेन-भङ्गाः ।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नासौ कलङ्कः शयितो मुरारिः ॥
राधेऽद्य पश्य चरमाचलचूलचुम्बि-
हिण्डीरपिण्डरुचि भाति सितांशुविम्बं ।
उद्दीपितस्य रजनीं मदनानलस्य
धूमं दधत् प्रकटलाञ्छन--कैतवेन ॥

---

रूपकालङ्कार के विभिन्न विषय हैं, गुरु प्रभृति पदार्थ निगीर्णन होने से रूपक मूलीभूत सारोपाख्य लक्षण प्राप्त होना असम्भव है। तब क्या यहाँ अन्य अलङ्कार नहीं है? कहते हैं--अत्रहि हि–तथाहि अत्र–'गुरु' इत्यादि स्थल में श्लेष से महद् वृहस्पति के साथ भेद होने पर भी श्लेष से अभेद अध्यवसाय होता है। श्लेष मूलक अतिशयोक्ति है, इससे प्रतीति होती है—विषय भेद से उल्लेख अलङ्कारस्थल में नियम से ही अलङ्कारान्तर का योग है ॥६॥

उपमानोपमेय घटित अलङ्कार गोष्ठीभूत अपह्नुति अलङ्कार का वर्णन करते हैं, वर्णन प्राप्त उपमेय का शब्द से तात्पर्य से निषेध करके प्रकृत भिन्न उपमान का स्थापन विन्यास करने से अपह्नुति अलङ्कार होता है।

प्रतिषिध्य पदमें त्वाच् प्रत्यय का आनन्तर्य अर्थहै, अतः अपह्नव पूर्वक आरोप, उपमेय निषेध पूर्वक उपमान का स्थापन आरोप पूर्वक अपह्नव उपमान स्थापन पूर्वक उपमेय प्रतिषेध है, तथा मालारूपसे केवलरूपसे दो प्रकार है, समुदाय से चार प्रकार अपह्नुति अलङ्कार है।

अपह्नव पूर्वक आरोप में मालारूपा अपह्नुति का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं, दृश्यमान आकाश नहीं है, किन्तु अम्बुराशि है,

एवं 'विराजति व्योमवपुः पयोधि स्तारामया स्तत्र च फेनभङ्गा' इत्याद्याकारेण च प्रकृतनिषेधो वाच्यः ।

**गोपनीयं कमप्यर्थं द्योतयित्वा कथञ्चन**
**यदि श्लेषेणान्यथा वान्यथयेत् साप्यपह्नुतिः ॥**

श्लेषेण यथा—

मेघागमसमयेऽस्मिन्नधिगत--हरिता दृशां सम्पत् ।
हरये स्पृहयसि राधे नहि नहि शाद्वलविभूतये द्विषति ॥

अत्राधिगतहरित्वमेव दृशां सम्पदित्यन्यथा कृतं । यतः शाद्वलविभूतय इत्युक्तं ।

---

समान विशाल निर्मल होने से यह समुद्र हैं, यह तारा नहीं है, नूतन फेनभङ्ग है, यह शशी चन्द्र नहीं है, किन्तु कुण्डलित फणीन्द्र है, चन्द्रस्थित कलङ्क नहीं है, किन्तु मुरारिः कृष्ण, समान वर्ण, तथा सम्भव होने से सोये हुए हैं।

यहाँ नभोमण्डल आदि उपमेय का निषेध करके अम्बुराशि प्रभृति उपमानादि का स्थापन हुआ, वे अनेक होने से मालारूपा अपह्नुति अलङ्कार है, तथा 'न' चतुष्ट्य का प्रयोग से शब्द से ही प्रकृतप्रतिषेध है। आरोप पूर्वक अपह्नव में केवलरूपा अपह्नुति का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, हे राधे! देखो! अस्ताचलशिखर में फेन स्तूप की भाँति चन्द्र दिखाई पड़ता है। रात्रि में उद्दीपितमदनानल के धूम को वह लाञ्छन के छल से धारण कर प्रकाशित है।

यहाँ प्रथम धूम रूप उपमान का आरोप कर पश्चात् कलङ्क रूप उपमेय का अपह्नव से अपह्नुति हुई है, आरोप एकमात्र होने से केवलरूपा है। यहाँ कैतव कहा गया है, 'न' का प्रयोग नहीं है, तात्पर्य्य से ही प्रकृत का प्रतिषेध हुआ है, इस प्रकार विराजति व्योमवपुः पयोधि स्तारास्तत्र च फेनभङ्गाः। प्रकारान्तर से भी निषेध होता है। आकाश रूप शरीर से समुद्र विराजित है उस पयोधि में नक्षत्राकारा फेनखण्ड समूह है, इसमें वपु शब्द प्रयोग से मयट् प्रत्यय से प्रकृत व्योम ताराओं का अपह्नव में वक्ता का तात्पर्य

**अश्लेषेण यथा—**

इह पुरोनिलकम्पितविग्रहा मिलति हन्त तमालमियं लता ।
लषसि किं सखि ! कृष्ण-समागमं नहि घनागमरीति रुदाहृता ।

वक्रोक्तौ परोक्तस्यान्यथाकरणं । इह तु स्वोक्तेरिति भेदः । गोपनकृता गोपनीयार्थस्य प्रथममभिहितत्वान्न व्याजोक्ति ॥१०॥

'अन्यन्निषिध्य प्रकृत—स्थापनं निश्चयः पुनः ।

निश्चयाख्योऽलङ्कारः । अन्यदारोप्यमाणं' यथा—

हृदि विशलता--हारो नायं भुजङ्गम-नायकः
कुवलयदल—श्रेणी कण्ठे न सा गरलद्युतिः ।

---

है । पयोधि फेनभङ्गरूप उपमान का स्थापन से अपह्नुति है, रूपक नहीं है, उस में "विषये निरपह्नवे" कहा गया है ।

उपमेय का निषेध ही और उपमान का स्थापन होने पर भी अपह्नुति प्रकरण से विलक्षण अपह्नुति अलङ्कार होता है, उसका दृष्टान्त कोई वक्ता, लज्जा प्रभृति से गोपन योग्य किसी विषय को किसी प्रकार व्यञ्जना से सूचित करके श्लेष से अन्यविषय का स्थापन करता है, तब अपह्नुति नामक अलङ्कार होता है ।

**श्लेष से कथन का दृष्टान्त—**

मेघागम समय में राधे नयनों की सम्पत्ति हरिता हो गई है, हरि की चाहती हो, नहीं नहीं, शाद्वल विभूति के प्रति द्वेष करती । यहाँ अधिगत हरित्व ही दृशां सम्पत् है, इस को अन्यथा किया । कारण शाद्वल विभूतये कहा है । अश्लेषक उदाहरण—अनिल कम्पित विग्रहलता देखो सखि ! लता तमाल से मिलरही है, सखि ! तुम क्या कृष्ण सङ्ग को चाहती हो, नहीं नहीं, यह तो घनागम की रीति को कहा है । वक्रोक्ति में परोक्त का अन्यथाकरण है, यहाँ तो निज उक्ति का ही अन्यथा करण है, उस से यह भिन्न है । गोपन कर्त्ताने गोपनीय विषय को पहले कहा है, इस लिए यह व्याजोक्ति नहीं हुई ॥१०॥

प्रकृत अर्थ का निषेध कर अन्य का स्थापन से जिस प्रकार

मलयजरजो नेदं भस्म प्रियारहिते मयि
प्रहर न हर–भ्रान्त्यानङ्ग ! क्रुधा किं मुधा धावसि ॥

नह्ययं निश्चयान्तः सन्देहः । तत्र संशय-निश्चययो रेकाश्रयत्वेनाव-स्थानात्, अत्र तु अनङ्गस्य संशयः, कृष्णस्य निश्चयः । किञ्च, नानङ्गस्य च संशयः, एक कोटचनधिके ज्ञाने तथाचेष्टत्वासम्भवात् । तर्हि भ्रान्तिमानस्तु; अस्तु नामानङ्गस्य भ्रान्तिः, न चेह तस्या श्चमत्कारविधायित्वं; अपितु तथाविध–नायकात्युक्तिरेवेति सहृदय--संवेद्यः । किञ्चाविवक्षितेऽपि अनङ्गस्य धावनादौ भ्रान्तौ वा नायक चाटवादि रूपेणैव सम्भवति तथाविधोक्तिः । ननु रूपकध्वनिरियं, विशलतादे र्निर्धारणात् । न चापह्नुतिः,प्रस्तुतानिषेधादिति

---

अपह्नुति होती है, उस प्रकार अन्य का निषेध कर प्रकृत पदार्थ का स्थापन से निश्चय अलङ्कार होता है, अन्यत् शब्द से वर्णनीय से भिन्न वस्तु उपमान को जानना होगा, उपमेय की वर्णना में अपर का निषेधकर उसका स्थापन से निश्चय नामक अलकार होता है । प्रकृत का निश्चय से ही निश्चय अलङ्कार हुआ है, यह भी दो प्रकार हैं, प्रकृत स्थापन पूर्वक अन्यका निषेध अन्य निषेध पूर्वक प्रकृत का स्थापन । उदाहरण–कृष्णो वदति हे अनङ्ग ! हर भ्रान्ति से मुझे प्रहार न करो, क्रुद्ध होकर क्यों दोड़ रहे हो ? देखो । हृदय में मृणालवल्ली निर्मित हार है, भुजङ्गम नहीं है, कण्ठ में कुवलय दल श्रेणी है, कालकूट नहीं है, श्वेतचन्दन रेणु है, भस्म नहीं है, अतः प्रियारहित जन को क्लेश प्रदान न करो ।

यह निश्चयान्त सन्देहालङ्कार नहीं हैं, यह नव निरुक्त निश्चयालङ्कार है । सन्देह अलङ्कार में संशय निश्चय का आश्रय एक होता है, यहाँ पर अनङ्ग का संशय, और कृष्ण का निश्चय है, और भी अनङ्ग का संशय भी नहीं हो सकता, एककोटि ज्ञान में संशय नहीं होता है, तब भ्रान्तिमान् अलङ्कार क्यों न इसे कहा जाय ? अनङ्ग की भ्रान्ति हो, किन्तु, अलङ्कार का फल चमत्कार विधायित्व है, यहाँपर भ्रान्तिमान् अलङ्कार होने से चमत्कार विधायित्व नहीं होगा । किन्तु उस प्रकार नायक की अत्युक्ति ही

पृथगेवालङ्कार श्चिरन्तनालङ्कारेभ्यः। शुक्तिकायां रजतधिया पतति पुरुषे शुक्तिकेयं, न रजतमिति कस्यचिदुक्ति र्नायमलङ्कारः, वैचित्र्याभावात् ॥११॥

भवेत् सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना।
वाच्या प्रतीयमाना सा प्रथमं द्विविधा मता॥
वाच्येवादेः प्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुनः।
जाति गुणः क्रिया द्रव्यं यदुत्प्रेक्ष्यं द्वयोरपि॥
तदष्टधापि प्रत्येकं भावाभावाभिमानतः।
गुणक्रिया स्वरूपत्वान्निमित्तस्य पुनश्च ताः॥
द्वात्रिंशद्विधतां यान्ति—

---

है, सहृदय संवेद्य है। यह अपह्नुति भी नहीं है, प्रस्तुत का निषेध नहीं हुआ है, अतएव पृथक् अलङ्कार यह है, किसी में अन्तर्भाव नहीं है। रजतबुद्धि शुक्ति में होने से यह शुक्ति है, रजत नहीं है, कथन से अलङ्कार नहीं होता है, इस में वैचित्री नहीं है ॥११॥

निश्चयालङ्कार निरूपण के पश्चात् निश्चयात्मक उप्रेक्षालङ्कार का निरूपण करते हैं। उपमेय को उपमान रूप में सम्भावना करना उत्प्रेक्षा है, सम्भावना—अंशद्वय के मध्य में एक अंश में किसी प्रकार दृढ़ ज्ञान रहना है। जैसे 'सम्भावयामि स्थाणुरेवायम्' यहाँ स्थानु अंश में दृढ़ता, पुरुष अंश में दुर्बलता है, अतः सम्भावना अंशविशेष में किञ्चित् निश्चय रूप, समुदाय में तो संशय ही रहता है। शुद्ध संशय स्थल में उभय अंश में ही समानबल रहता है। जैसे स्थाणु र्वा पुरुषो वा, यहाँ स्थाणु अंश में पुरुष अंश में समानबल होता है, इस से सम्भावन का अर्थ मनसि करणम् मननम्, धारणम् धारणा, प्रभृति सम्भावना का पर्याय शब्द है। प्रकृत की वर्णना में प्रस्तुत उपमेय का ग्रहण होता है, परात्मना—उस से भिन्न उपमान रूप से सम्भावना मन में करना—उत्प्रेक्षा नामक अलङ्कार है, उद् ऊर्द्धदेश में दृष्टि जिस से होती है, वह उत्प्रेक्षालङ्कार है, किसी पदार्थ की

तत्र वाच्योत्प्रेक्षाया उदाहरणदिक्—

अभिसारे चलचेला व्रजतन्वीनां तती रुरुचे ।
अपि किं विजय-पताका दधिरेऽनङ्गस्य सङ्गति पुरतः ॥

अत्र विजयपताकानां बहुत्वाज्जात्युत्प्रेक्षा । जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्यामिति न्यायात् ।

ज्ञानेऽल्पभाषिता वीर्य्ये क्षान्ति र्दानेऽप्यमानिता ।
एवं श्रीमत्युद्धवे किं गुणा गुण--विभूषिताः ॥

अत्र विभूषितत्वं गुणः ।

पाञ्चजन्य-स्वनः कृष्णद्विड् बधूगर्भपातनः ।
प्रायश्चित्तं पृच्छतीव शुद्धयै विधिसभां गतः ॥

---

वर्णना करने में वर्णन कर्त्ता की दृष्टि यदि अपर की ओर हो तो उत्प्रेक्षा होती है ।

रूपक में आरोप की, भ्रान्तिमान में भ्रम की, अतिशयोक्ति में अध्यवसाय की निश्चयरूपता है । उत्पेक्षा में—सम्भावना की संशय रूपता है, रूपक सारोपाख्यलक्षणामूल है, अतिशयोक्ति में साध्यवसानाख्य लक्षणामूला है, यह लक्षणामूला नहीं है, सन्देह—केवल संशयमूलक है, यह सम्भावनात्मक संशय रूप है । उत्प्रेक्षा प्रथम वाच्या प्रतीयमाना रूप से दो प्रकार हैं, वाच्या शब्द से, बोध्य प्रतीयमाना आर्थी है । इवादि का प्रयोग से वाच्या होगी । इवादिका अप्रयोग से आर्थी होगी, वाच्या एवं प्रतीयमाना उभय में ही जाति विशिष्ट अर्थः, गुण, क्रिया, द्रव्य ये सब उत्प्रेक्षा का विषय होंगे । समुदाय को लेकर उत्प्रेक्षा आठ प्रकार हैं । भाव सम्भावना से, अभाव सम्भावना से उक्त आठ प्रकार द्विगुणित होकर १६ प्रकार हैं, पुनः वह गुण स्वरूप क्रिया स्वरूप से प्रत्येक प्रकार द्विगुणित होने से ३२ प्रकार होता है । वाच्योत्प्रक्षा का उदाहरण—अभिसार के समय व्रज तरुणी गण अतिशय शोभित हैं, पवन के द्वारा उन के अङ्गस्थित वसनाञ्चल कम्पित होने से कनक स्तम्भ में विजयी कन्दर्प की विजयपताका शोभित हुई है । यहाँ विजय पताका अनेक

अत्र पृच्छतीति क्रिया ।

चकोरजयिनोः कृष्णनेत्रयोरपि पोषकः ।
मुखविम्वः स राधायाः पूर्ण श्चन्द्र इवापरः ॥

अत्र चन्द्र इत्येकव्यक्तित्वाद् द्रव्यं । एते भावाभिमाने । अभावाभिमाने यथा—राधाया स्तद्विधौ भूत्वा कष्टं तौ गण्डमण्डलौ ।
अपश्यन्ताविवान्योन्यं तारुण्ये पाण्डुतां गतौ ॥

अत्रापश्यन्ताविति क्रियाया अभावः । एवमन्यत् ।

निमित्तस्य गुणरूपत्वे यथा—पाञ्चजन्येत्यादौ पृच्छतीवेति क्रियायां निमित्तं गर्भपातनत्वं गुणः । अपश्यन्ताविवेत्यादौ पाण्डुतागमनरूपक्रिया-निमित्तं । एवमन्यत् ।

---

होने से जात्युत्प्रेक्षा है, जाति का कथन होने पर एक वचन प्रयोग होता है। सकल विषयक ज्ञान होने पर भी अनावश्यक विषय में मौनावलम्बन, सामर्थ्य होने पर भी क्षमा सहिष्णुता, दान कार्य में अहङ्कार हीनता। इस प्रकार श्रीमान् उद्धव में सकल गुण गुणों से विभूषित ही थे, यहाँ विभूषितत्व ही गुण है।

श्रीकृष्ण विद्वेषीललनाओं के गर्भपातनकारी पाञ्चजन्य की ध्वनि सत्यलोक में उपस्थित होकर मानो प्रायश्चित्त विधि को पुछने लगी। यहाँ "पृच्छति' यह क्रिया है, चकोर को जीतने वाले श्रीकृष्ण नेत्रों का पोषक श्रीराधा का मुखविम्ब है, वह द्वितीय पूर्ण-चन्द्र की भाँति है। यहाँ चन्द्र एक व्यक्ति होने से द्रव्य है, यह तो भावाभिमानका दृष्टान्त है। अभावाभिमान का दृष्टान्त--श्रीराधा का विरह दुःख से उनके गण्डमण्डल परस्पर को न देखकर तारुण्य में पाण्डुता को प्राप्त किये हैं। यहाँ "अपश्यन्तौ" क्रिया का अभाव है, इस प्रकार अन्योदाहरण को प्रस्तुत करना आवश्यक है। निमित्त का गुणरूपत्व में दृष्टान्त-'पाञ्चजन्य' यहाँ पृच्छतीव, क्रिया में निमित्त, गर्भपातन गुण है, 'अपश्यन्ती' इव यहाँ पाण्डुतागमनरूप क्रिया निमित्त है, इस प्रकार दूसरा दृष्टान्त को भी जाने।

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा का उदाहरण--श्रीराधा के नेत्र युगल

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा यथा—राधाया नेत्रयुगलं तिर्य्यगञ्चति सर्वदा ।
ईप्सितास्त्वदियं रुन्धे स्वमित्थं सोढ़ुमक्षमं ॥

अत्र सोढ़ुमक्षममिवेति प्रतीयते । एवमन्यत् ।

ननु ध्वनि-निरूपण प्रस्तावेऽलङ्काराणां सर्वेषामपि व्यङ्ग्यत्वं भवतीत्युक्तं; अत्र पुनर्विशिष्य कथमुत्प्रेक्षायाः प्रतीयमानत्वं ? उच्यते । व्यङ्ग्योत्प्रेक्षायां 'महिला सहस्ते' त्यादावुत्प्रेक्षां विनापि वाक्यविश्रान्ति । इह तु नेत्रयुगलस्य विचार-कर्त्तृत्वाभावात् सोढ़ुमक्षममिति नोपपद्यते । तस्मादुत्प्रेक्षात्रावश्यं प्रतिपत्तव्या ।

अत्र वाच्योत्प्रेक्षायाः षोड़शसु भेदेषु विशेषमाह—

तत्र वाच्या भिदाः पुनः ।

**विना द्रव्यं त्रिधा सर्वाः स्वरूपफल-हेतुगाः ॥**

अत्रोक्तेषु वाच्य-प्रतीयमानोत्प्रेक्षाभेदेषु मध्ये ये वाच्योत्प्रेक्षायाः

---

सर्वदा वक्रदृष्टि सम्पन्न है, यह ही ईप्सित है, सहन करने में असमर्थ होकर स्वयं ही इसकी रक्षा की। यहाँ सोढ़ुमक्षममिवेति प्रतीयते? इस प्रकार अन्य दृष्टान्त की भी जाने। ध्वनि निरूपण प्रस्ताव में अलङ्कारों का व्यङ्गत्व होगा, यहाँ पुनर्बार विशेष कर उत्प्रेक्षा का प्रतीयमानत्व कैसे कहा ? उत्तर में कहते हैं-व्यङ्गोत्प्रेक्षा में 'महिलासहस्ते' यहाँ उत्प्रेक्षा के विना ही वाक्य की विश्रान्ति हुई है, यहाँ नेत्र युगल का विचार कर्त्तृत्व का अभाव से सोढ़ुमक्षम यह सम्भव नहीं है, अत उक्त रूप उत्प्रेक्षा को मानना आवश्यक है, यहाँ वाच्योत्प्रेक्षा का १६ षोड़श भेद में जो विशेष है, उसे कहते हैं। वाच्योत्प्रेक्षा-प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के मध्य में द्रव्योत्प्रेक्षा के विना अन्य सर्व व्याच्या उत्प्रेक्षा का भेद स्वरूप, फल, हेतु स्वरूप से होता है, पूर्वोक्त वाच्यप्रतीयमानोत्प्रेक्षा भेद के मध्य में जो वाच्योत्प्रेक्षा के षोड़श भेद हैं, उस में जात्यादि के तीनों में जो द्वादश भेद हैं, उन प्रत्येक का स्वरूप फल हेतुगत रूप से द्वादश भेद से षट्त्रिंशद् भेद हैं, द्रव्य का स्वरूपोत्प्रेक्षण होना सम्भव नहीं है, अतः चार के साथ मिलकर चत्वारिंशद् ४० भेद हैं।

षोड़शभेदा स्तेषु जात्यादीनां त्रयाणां ये द्वादशभेदा स्तेषां प्रत्येकं स्वरूप--फलहेतुगतत्वेन द्वादशभेदतया षट्त्रिशद्भेदाः। द्रव्यस्य स्वरूपोत्प्रेक्षणमेव न सम्भवतीति चत्वार इति मिलित्वा चत्वारिंशद्भेदाः।

अत्र स्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—पूर्वोदाहरणे अनङ्गस्य विजयपताका इव गुणा गुण-विभूषिता' इत्यादौ जातिगुण--स्वरूपगा।

**फलोत्प्रेक्षा यथा—**

रावणस्यापि रामास्तो भित्वा हृदयमाशुगः।
विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियं ।।

अत्राख्यातुमिवेति प्रवेश--फलं क्रियारूपमुत्प्रेक्षितं।

---

यहाँ स्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण--पूर्वोदाहरण अनङ्गस्य विजय पताका इव गुण गुणा विभूषिता' इत्यादि में जाति गुण स्वरूप गत है, फलोत्प्रेक्षा यथा–राम का शर रावण के हृदय को भेदनकर मानो पातालवासीयों को संवाद देने के लिए भूमि में प्रविष्ट हुआ। यहाँ आख्यातुमिव इससे प्रवेशफल क्रियारूप का उत्प्रेक्षण हुआ। हेतूत्प्रेक्षा यह दृश्यमान वहस्थली है, जिस स्थान मैं तुम्हे ढूढ़ता हुआ भूतल में एक नूपुर प्राप्त किया, वह मानो विश्लेष दुःख से ही मौन धारण किया था। सीता के चरण से अलग होने के कारण दुःखी होकर नीरव हुआ। इस प्रकार अन्योदाहरण को भी जाने।

स्वरूपोत्प्रेक्षा का विभाग करते हैं, पूर्वोक्त प्रकार के मध्य में स्वरूपगा उत्प्रेक्षा, निमित्त–निज निज कारण का कथन से एवं अकथन से दो प्रकार हैं। पूर्वोक्त चत्वारिंशद् भेद (४० भेद के) मध्य में स्वरूपगत जो षोड़श भेद हैं, वह निमित्त का उपादान अनुपादान से ३२ द्वात्रिंशद् भेद हैं, समुदाय से मिलकर ६५ षट्पञ्चाशद् भेद वाक्योत्प्रेक्षा के हैं। निमित्त का उपादान का उदाहरण 'पाञ्चजन्य' इत्यादि प्रायश्चित्त प्रश्न में निमित्त गर्भ पातन पातकित्व है, अनुपादान में-'कृष्णः काम इवापरः' यहाँ उस प्रकार सौन्दर्य्यादि अतिशय का कथन नहीं है,हेतु फल का नियमसे ही निमित्त उपादान होता ही है,'विश्लेष दुःखादिव' यहाँ बद्धमौनत्व ही जिसका निमित्त

हेतूत्प्रेक्षा यथा—

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमूर्व्यां ।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनं ।।

अत्र दुःखरूपगुणो हेतुत्वेनोत्प्रेक्षितः । एवमन्यत् ।

'उक्तयनुक्तयो र्निमित्तस्य द्विधा तत्र स्वरूपगाः ।'

तेषु चत्वारिंशत्संख्यकेषु भेदेषु मध्ये ये स्वरूपगायाः षोड़शभेदा स्ते उत्प्रेक्षा-निमित्तस्य उपादानानुपादानाभ्यां द्वात्रिंशद्भेदा इति मिलित्वा षट्-पञ्चाशद्भेदाः वाच्योत्प्रेक्षाया स्तत्र निमित्तस्योपादानं यथा पूर्वोदाहृते 'पाञ्चजन्येत्यादौ प्रायश्चित्त-प्रश्नादौ निमित्तं गर्भपातन-पातकित्वमुपात्तं । अनुपादाने यथा—'कृष्णः काम इवापरः' इत्यत्र तथाविध--सौन्दर्य्याद्यतिशयो नोपात्तः । हेतु-फलयोस्तु नियमेन निमित्तस्योपादानमेव; तथाहि 'विश्लेष-दुःखादिवेत्यत्र यन्निमित्तं बद्धमौनत्वं । 'आख्यातुमिवे'त्यत्र भूप्रवेश स्तयोरनुपादानेऽसङ्गतमेव वाक्यं स्यात् ।

---

है, आख्यातुमिव "यहाँ भू प्रवेश' दोनों का अप्रयोग से वाक्य असङ्गत ही होगा ।

प्रतीयमान उत्प्रेक्षा का जो षोड़श भेद हैं उसका विशेष कहते हैं, प्रतीयमान उत्प्रेक्षा का पूर्वोक्त जो षोड़श भेद हैं, उस के प्रत्येक फलगता हेतुगता रूपद्विविध होकर समुदाय से द्वात्रिंशद् भेद होते हैं। इस प्रकार उभय के मिलन से षट् पञ्चाशद् भेद वाच्योत्प्रेक्षा के होते हैं, उस में निमित्त का उपादान पूर्वोदाहृत पाञ्चजन्य इत्यादि में प्रायश्चित्त प्रश्नादि में निमित्त-गर्भपातन पातकित्व को कहा गया है । अनुपादान में "कृष्णः काम इवापर" यहाँ उस प्रकार सौन्दर्य्यादि अतिशय का कथन नहीं हुआ है, हेतु फल नियम से दोनों निमित्त एवं उपादान होते हैं । विश्लेष दुःखादिव" यहाँ बद्धमौनत्व ही जिस का निमित्त है । आख्यातुमिव 'यहाँ भू प्रवेश' दोनों का अकथन से वाक्य असङ्गत ही होगा ।

प्रतीयमाना का षोड़श भेद में जो विशेष है, उस को कहते हैं, प्रत्येक फल हेतुगत होकर प्रतीयमाना का भेद होता है । इस में भी

प्रतीयमानायाः षोड़शसु भेदेषु विशेषमाह—

**'प्रतीयमाना भेदाश्च प्रत्येकं फलहेतुगाः ।'**

यथोदाहृते 'राधाया नेत्रयुगलमि'त्यादौ 'सोढ़ुमक्षममिति' हेतु उत्प्रेक्षितः। अस्यामपि निमित्तानुपादानं न सम्भवति। इवाद्यनुपादाने उत्प्रेक्षणस्य प्रमातु र्निश्चेतुमशक्यत्वात्। स्वरूपोत्प्रेक्षाप्यत्र न सम्भवति। धर्म्मयन्तर-तादात्म्य--निबन्धनायामस्यामिवाद्य--प्रयोगे विशेषणयोगे सत्यतिशयोक्तेरभ्युपगमात्, यथाऽयं राजाऽपरः पाकशासन' इति। विशेषणाभावे च रूपकस्य यथा—'राजा पाक शासन' इति। तदेवं द्वात्रिंशत् प्रकाराः प्रतीयमानोत्प्रेक्षाः।

**'उक्तयनुक्तयोः प्रस्तुतस्य प्रत्येकं ता अपि द्विधा।'**

ता उत्प्रेक्षाः। उक्तौ यथा—'अभिसारे' इत्यादि। अनुक्तौ यथा-'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।' अत्र तमसो लेपनस्य व्यापनरूपो

---

निमित्त उपादान का होना सम्भव नहीं है, इवादि का अप्रयोग से उत्प्रेक्षण का निरूपण करना सम्भव नहीं है। स्वरूपोत्प्रेक्षा भी यहाँ सम्भव नहीं है, धर्म्यन्तर तादात्म्य निबन्धना में 'अस्यामिवाद्य प्रयोगे, विशेषण के योग से अतिशयोक्ति होती है, जिस प्रकार 'अयं राजा अपरः पाकशासनः' विशेषण के अभाव से रूपक का दृष्टान्त—यथा राजा पाकशासन इति, द्वात्रिंशत् प्रकार प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा है।

प्रस्तुत की उक्ति से अनुक्ति से प्रत्येक दो प्रकार होते है, ता—उत्प्रेक्षा! उक्ति में अभिसारे, अनुक्ति में लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः। यहाँ तमः लेपनका व्यापन रूप विषय का कथन नहीं हुआ। अञ्जन वर्षण का तमः सम्पात है, दोनों का ही उत्प्रेक्षा निमित्त है, तमः की बहुलता, धारारूप अधः संयोग भी यथा संख्य अन्वय है॥

किसी के मत में लेपन कर्त्तृभूत की तमोलेपन कर्त्तृत्वेन उत्प्रेक्षा हुई। व्यापन निमित्त, इस प्रकार नभः—वर्षाक्रिया कर्त्तृत्वेन उत्प्रेक्षित हुआ। वह, उत्प्रेक्षा—अलङ्कारान्तर से उत्थित होने से

विषयो नोपात्तः। अञ्जन-वर्षणस्य तमः संपातः। अनयोरुत्प्रेक्षा-निमित्तं च तमसो बहुलत्वं धारारूपोध:संयोगश्च यथासंख्यं। केचित्तु लेपनकर्त्तृभूतमपि तमो-लेपन-कर्त्तृत्वेनोत्प्रेक्षितं व्यापनञ्च निमित्तं, एवञ्च नभोऽपि वर्षाक्रिया-कर्त्तृत्वेनेत्याहुः ॥

'अलङ्कारान्तरोत्था सा वैचित्र्यमधिकं भजेत्'।

तत्र सापह्नवोत्प्रेक्षा यथा—

अश्रुच्छलेन रुक्मिण्या हुतपावक-धूमकलुषाक्ष्याः।
अप्राप्य मानमङ्गे विगलति लावण्यवारिपूर इव ॥

श्लेषहेतुकं यथा—

मुक्तोत्करः सङ्कटशुक्तिमध्याद्विनिर्गतः श्रीवृषभानुजायाः।
जानीमहेऽस्याः कमनीयकम्वुग्रीवाधिवासाद् गुणवत्त्वमाप ॥

अत्र गुणवत्त्वं श्लेषः। कम्वुग्रीवाधिवासादिति उत्प्रेक्षाहेतुः। जानीमहे इत्युत्प्रेक्षा-वाचकं।

---

अधिक वैचित्र्य पूर्ण होती है। अपह्नुति अलङ्कार मूला उत्प्रेक्षा का दृष्टान्त,—यज्ञमण्डप में यज्ञीय वह्नि का धूम से नेत्र पङ्किल हो जाने पर रुक्मिणी का अश्रु के छल से लावण्य प्रवाह सम्मान से वञ्चित होकर गिरने लगा।

**श्लेष हेतु का उदाहरण**—श्रीवृषभानुनन्दिनी के कम्वुविनिन्दित कण्ठ देश में अवस्थान के हेतु मुक्तापुञ्ज उत्कर्ष को प्राप्त किया। यहाँ गुणवत्त्वश्लेष है, सूत्रवत्त्व-उत्कर्षवत्त्व। अर्थद्वय का योग है। कम्बुग्रीवाधिवासात् उत्प्रेक्षा का उपस्थापक है,जानीमहे--यह उत्प्रेक्षा वाचक है। इस प्रकार मन्ये, शङ्के, ध्रुवं प्रायः नूनं-इत्यादि का प्रयोग से उत्प्रेक्षा होती है।

कभी उपमोत्प्रेक्षा—उपमा उपक्रमे यस्याः सा तथोक्ता उत्प्रेक्षा होती है। उदाहरण—मुरारि श्रीकृष्ण ने बनश्रेणी को देखा, वह किस प्रकार? समुद्र के तीर में गाढ़ नीलवर्ण के पत्र पुञ्जयुक्त थी और वह प्रतिक्षण में तरङ्ग चालित शैबाल की भाँति दिखाई देती थी। यहाँ आभा-शब्द उपमा वाचक होने से उपक्रम में उपमा है,

एवं–'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः' ।

क्वचिदुपमोत्प्रेक्षा यथा—

पारेजलं नीरनिधेरपश्यन्मुरारि रानीलपलाशराशीः ।
वनावलीरुत्कलिकासहस्र प्रतिक्षणोत्कूलित–शैवलाभाः ॥

अत्राभा-शब्दस्य उपमावाचकात्वादुपक्रमे उपमा । पर्य्यवसाने तु जलधितीरे शैवाल-सम्भावनानुपपत्तेः सम्भावनोत्थानमित्युत्प्रेक्षा । एवं विरह-वर्णने, 'केयूरायितमङ्गदै'रित्यत्र 'विकाशिनी नोत्पलति स्म कर्णे श्रीराधिकायाः कुटिलः कटाक्ष' इत्यादौ च ज्ञेयं ।

भ्रान्तिमदलङ्कारे 'मल्लक्ष्म्या स्तव जन्मे'त्यादौ भ्रान्तानां देवादीनां विषयस्य चन्द्रप्रभाया ज्ञानमेव नास्ति, तदुपनिबन्धनस्य कविनैव कृतत्वात् । इह तु सम्भावना-कर्त्तुः विषयस्यापि ज्ञानमिति द्वयो र्भेदः ।

सन्देहे तु समकक्षतया कोटिद्वयस्य प्रतीतिः । इह तु सम्भाव्यभूतैक कोटेरुत्कटेति । अतिशयोक्तौ विषयिणः प्रतीतस्य पर्य्यवसाने ऽसत्यता प्रतीयते । इह तु प्रतीतिकाल एवेति भेदः ।

---

पर्यवसान में जलधिके तीरमें शैवाल की सम्भावना नहींहै, सम्भावना का उत्थान से उत्प्रेक्षा हुई है, इस प्रकार विरह वर्णन में केयूरायित मङ्गदैः" विकाशिनी नोत्पलति स्म कर्णे श्रीराधिकायाः कुटिलः कटाक्षः' जानना होगा ।

भ्रान्तिमदलङ्कार में 'मल्लक्ष्म्या स्तव जन्मेत्यादि में भ्रान्त देवताओं का चन्द्र प्रभाविषयक ज्ञान ही नहीं है, कवि ने ही उसका उट्टङ्कन किया है । प्रस्तुत स्थल में अर्थात् उत्प्रेक्षा में । विषयी उपमान का एवं उपमेय का भी । भ्रम एवं सम्भावना का भेद से जहाँ वाक्य से ही प्राणी का भ्रम होता है, वहाँ भ्रम होता है, और जहाँपर सम्भावना होती है, उत्प्रेक्षा है । सन्देह में समकक्ष रूप से उभय कोटि की प्रतीति होती है, उत्प्रेक्षा में सम्भव रूप से ज्ञात एक कोटि का निश्चय रूप ज्ञान होता है, अतिशयोक्ति में विषयी उपमान का अन्वय बोध के समय सत्य रूप से ज्ञान होता है, पर्य्यवसान में– सम्पूर्ण अन्वय बोध के अनन्तर असत्य प्रतीति होती है, उत्प्रेक्षा में

रञ्जिता नु विविधा स्तरु शैला नामितं नु गगनं स्थगितं नु ।
पूरिता नु विषयेषु धरित्री संहृता नु ककुभ स्तिमिरेण ।।

इत्यत्र यत्तर्वादौ तिमिराक्रान्तता-रञ्जनाद्विरूपेण सन्दिह्यते इति सन्देहालङ्कार इति केचित्, तन्न । एकविषये समानबलतयानेककोटि स्फुरणस्यैव सन्देहत्वात् । इह तु तर्वादिव्याप्ते प्रति सम्बन्धिभेदः । व्यापनादे निगरणेन रञ्जनादेः स्फुरणञ्च । अन्ये तु 'अनिर्धारणरूपविच्छित्त्याश्रयत्वेनैक-कोटचधिकोऽप्ययं सन्देह-प्रकार' इति । तदप्ययुक्तं । निर्गीर्णस्वरूपस्यान्य-तादात्म्य--प्रतीति हि सम्भावना, तस्याश्चात्र स्फुटतया सम्भवात् । नु शब्देन चैवशब्दवत्तस्य द्योतनादुत्प्रेक्षैवेयं भवितुम् युक्ता, अलमदृष्टसन्देह-प्रकार-कल्पनया ।

हरे यच्चन्द्रान्तर्जलद-लवलीलां वितनुते
तदाचष्टे लोकः शशक इति नो मां प्रति तथा ।

---

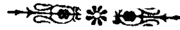
प्रतीति काल में ही विषयी की असत्यता की प्रतीति होती है, अन्धकार से विविध तरुशैल रञ्जित हो गए हैं,गगनाकाश क्या पृथिवीपर उत्तर आया है, धरित्री क्या अपनी उच्चनीचता को भर दी ही है, अथवा दिङ् मण्डल संकुचित हो गए हैं ।

यहाँपर तरु प्रभृति में तिमिराक्रान्तता रञ्जनादि रूप मे सन्देह करते हैं, अतः यह सन्देहालङ्कार है, यह किसी का मत है, वह ठीक नहीं है । एक विषय में समानबल से अनेक कोटि का स्फुरण होना ही सन्देह है, यहाँ तरुआदि व्याप्ति से सम्बन्धि भेद है । व्यापनादि का कथन न होने से रञ्जनादि का प्रकाश है, अपर का मत है-अनिर्धारण रूप वैचित्री का आश्रय से एक कोटि का आधिक्य से यह सन्देह प्रकार है । यह भी युक्ति युक्त नहीं है । निगीर्ण स्वरूप की अन्यतादात्म्य की प्रतीति ही सम्भावना, उस की सम्भावना ही सुष्पष्ट रूप से है, "नु" शब्द से चैव शब्द की भाँति प्रकाश होने पर उत्प्रेक्षा ही होनी चाहिये, अतः अदृष्ट सन्देह प्रकार की कल्पना से विरत होना ही ठीक है ।

हे हरे ! लोक चन्द्र के अन्तर्वर्त्ती मेघचिह्न को देख कर 'शशक

अहं त्विन्दुं मन्ये त्वदरिविरहाक्रान्ततरुणी—
कटाक्षोल्कापातव्रणकिणकलङ्काङ्कितन्तनुं ॥

अत्र 'मन्ये' शब्द-प्रयोगेऽप्युक्तरूपायाः सम्भावनाया अप्रतीतिरिति वितर्कमात्रं, न सापह्नवोत्प्रेक्षा । उत्प्रेक्षा ॥१२॥



'सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्ति र्निगद्यते ।'

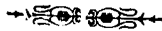
विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः । तस्य चोत्प्रेक्षायां विषयिणोऽनिश्चितत्वेन निर्द्देशात् साध्यत्वं । इह तु निश्चितत्वेनैव

---

है' यह मान लेते हैं, मैं तो चन्द्र को यह मानता हूँ । तुम्हारे शत्रु के विरह से उसके तरुणीयों की कटाक्षोल्कापातव्रण से जो मांस का कड़ा पड़ा है, उस से ही चन्द्र कलङ्क युक्त हो गए हैं ।

यहाँ "मन्ये" शब्द प्रयोग से उक्त रूप सम्भावना की अप्रतीति है, वितर्क मात्र है, वितर्काख्य व्यभिचारिभाव है, यह अपह्नवोत्प्रेक्षा नहीं है ॥१२॥

# ❀ अथोत्प्रेक्षा भेदसङ्कलनम् ❀



प्रथमं वाच्य प्रतीयमाना चेति दौ भेदौ । तत्र—
भावाभिमाने एकः, अभावाभिमाने
चैक इति द्वौ, तयोश्च प्रत्येकमेव
जातेः— गुणनिमित्तकत्वात् क्रियानिमित्तकत्वाच्च
स्वरूपगताः ३२— द्वैविध्येन चत्वारः । ४

| | | |
|---|---|---|
| गुणस्य—उक्तरूपेण | ........ | ४ |
| क्रियायाः ,, | ........ | ४ |
| द्रव्यस्य ,, | ......... | ४ |
| | | १६ |

तेषाञ्च षोड़शानां निमित्तस्य उपादानेन अनुपादानेन च
द्वैविध्यात् द्वात्रिंशत्-
वाच्याः ११२ प्रकाराः—३२ ।

प्रतीतिरिति सिद्धत्वं । विषय-निगरणञ्चोत्प्रेक्षायां विषयस्याधः करणमात्रेण ।
इह च 'मुखं द्वितीयश्चन्द्र' इत्यादौ यदाहुः ।

---

फलगताः-१२
- जातेः-भावाभिमानादिनोक्त क्रमेण- ४
- गुणस्य-,, ............... ४
- क्रियायाः ,, ............... ४

१२

( द्रव्यस्य तु फलोत्प्रेक्षानास्ति )

हेतुगताः १२
- जातेः--भावाभिमानादिनोक्तक्रमेण··· ४
- गुणस्य ,, ............ ४
- क्रियाया ,, ............ ४

५६

१२

( द्रव्यस्य हेतूत्प्रेक्षापि नास्ति )

तेषाञ्च षट् पञ्चाशद्भेदानां प्रत्येकमेव प्रस्तुतस्य उक्तया अनुक्तया च पुनर्द्वैविध्येन द्वादशाधिकशत भेदाः सम्पद्यन्ते १२२

फलगताः--१६
- जातेः--भावाभिमानादिनोक्तक्रमेण··· ४
- गुणस्य ,, ............ ४
- क्रियायाः ,, ............ ४
- द्रव्यस्य ,, ............ ४

१६

( प्रतीयमानायां स्वरूपोत्प्रेक्षा नास्ति)

प्रतीयमानाः-६४ हेतुगताः-

१६

३२
- जातेः--भावाभिमानादिनोक्त क्रमेण··· ४
- गुणस्य ,, ............ ४
- क्रियायाः ,, ............... ४
- द्रव्यस्य ,, ............... ४

१६

**विषयस्यानुपादानेऽप्युपादानेऽपि सूरयः ।**
**अधःकरणमात्रेण निगीर्णत्वं प्रतीयते ॥ इति**

**भेदेऽप्यभेदः, सम्बन्धेऽ सम्बन्ध स्तद्विपर्य्ययौ**
**पौर्वापर्य्यात्ययः कार्य्य-हेत्वोः सा पञ्चधा ततः ॥**

**तद्विपर्य्ययौ अभेदे भेदः, असम्बन्धे सम्बन्धः । साऽतिशयोक्तिः । अत्र भेदेऽप्यभेदो यथा—**

**इन्दु नीलाम्बुजयुगमपि तिलपुष्पं सम्बन्धूकं ।**
**यस्यां कनकलतायां सेयं कृष्णाङ्गना चित्रं ॥**

---

तेषाञ्च द्वात्रिंशद्भेदानां प्रत्येकमेव पूर्ववत्
प्रस्तुतस्य उक्तया अनुक्तया च पुनर्द्वैविध्येन चतुःषष्टिभेदाः
सम्पद्यन्ते—६४ ।
समुदायेन—१७६



सम्भावनारूपः उत्प्रेक्षा का वर्णन के पश्चात् किञ्चित् विभिन्न तत् सम्भावना रूपा अतिशयोक्ति का निरूपण करते हैं । अध्यवसाय का,—यथार्थ वस्तु में अयथार्थ वस्तु रूप से, निरुक्त सम्भावना सिद्ध होने पर-निश्चय रूपसे निष्पन्न होने से,कवि प्रौढ़ोक्ति से संशय भाग में विलीन की भाँति केवल निश्चय रूप से परिणत होने पर अतिशयोक्तिनामक अलङ्कार होता है, अतएव अतिशय से सम्भवातिरेक से योग्यतातिक्रम से वा उक्ति अतिशयोक्ति है ।

विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्त्तिनी ।
असावतिशयोक्तिः स्यादलङ्कारोत्तमा यथा ॥

अग्निपुराणे च— लोकसीमातिवृत्तस्य वस्तुधर्मस्य कीर्त्तनम् ।
भवेदतिशयो नाम सम्भवोऽसम्भवोद्विधा ।

एतेन यथार्थस्य अयथार्थरूपेण निश्चयरूपा सम्भावना अतिशयोक्तिरिति लक्षणं पर्यवसितम् ।

**अध्यवसाय का अर्थ** यह है,—जिस में अध्यवसाय-होता है, वह विषय है, यथार्थ वस्तु है । उसका निगरण से अधः करण से

अत्र श्रीराधिकामुखनेत्रादे रिन्दुनीलाम्बुजादिभिरभेदेनाध्यवसायः ।

यथा वा—माधव तव राधायां विधुरुदयी पूर्णतां लभतां ।

नीलाम्भोरुहयुगलं तस्मिन् फुल्लं तदेतदाश्चर्य्यं ।।

यथा वा—'विश्लेष-दुःखादिव बद्धमौनं । अत्र चेतनगत-मौनत्वम न्यदचेतनगतं चान्यदिति द्वयो र्भेदेऽप्यभेदः । एवं 'सहाधरदलेनास्या यौवने रागभाक् प्रियः ।' अत्राधरस्य रागो लौहित्यं, प्रियस्य प्रेम, द्वयोरभेदः ।

## अभेदे भेदो यथा—

अन्यैव सौन्दर्य्य-समृद्धिरस्या भङ्गी तथान्या वपुषो दृशोश्च ।
स्वान्तस्य चोल्लासभर स्तथान्यो राधैव सान्या प्रियसङ्गमेन ।।

---

यथाकथञ्चित् अप्रधान करने से जो वस्तु अध्यवसान प्राप्त है, वह विषय है, यह अयथार्थ वस्तु है. उसकी अभेद प्रतिपत्ति, अभेद सम्भावना अध्यवसाय है, निगीर्णरूप से यथार्थ वस्तुके साथ अयथार्थ वस्तु का अभेद ज्ञान ही अध्यवसाय है। उत्प्रेक्षा के साथ अतिशयोक्ति का भेद है, उत्प्रेक्षा में विषयी का निर्देश अनिश्चित रूप से होने से अयथार्थ का स्थापन युक्त्यादि के द्वारा होता है, अतः साध्यत्व है, अतिशयोक्ति में विषयी की प्रतीति निश्चय रूप से होती है, अतः लक्षण में "सिद्धत्वे" कहा गया है। उत्प्रेक्षा में विषय निगरण है। विषय यथार्थ पदार्थ का अधः करण मात्रेण—केवल अप्रधानी करने से होता है, मुखं "द्वितीयश्चन्द्रः" उत्प्रेक्षा जिस प्रकार होती है, उस प्रकार अतिशयोक्ति भी होती है। समान विषय होने से अतिशयोक्ति लक्षण को अतिव्याप्ति उत्प्रेक्षा में होगी अतः सिद्धत्वे—विशेषण देना आवश्यक है। जानने की बात् है—कि घट में पल्लवारोपण से घटका अधः करण होता है, "ऊरु कुरङ्गकदृशः" यहाँ ऊरुरूप यथार्थ वस्तु में, सम्भावयामि यदयं स्मरस्य विजयस्तम्भ मुखं द्वितीय श्चन्द्रः। यहाँ मुखरूप यथार्थ वस्तु में 'मन्ये यदयं द्वितीय श्चन्द्र एव' इस प्रकार है।

विषय का अधः करण ही विषय निगरण है, प्राचीनमत का वर्णन करते हैं।

सम्बन्धेऽसम्बन्धो यथा—

अमृतं चकोर-विलसितमपि शशिनि क्वापि नान्वभावीति ।
राधामुखमनुभवता हरिणा तस्मिन् तत्तदेव मन्येत ।

असम्बन्धे सम्बन्धो यथा—

यदि स्यान्मण्डले सक्तमिन्दो रिन्दीवर-द्वयं ।
तदोपमीयते राधा-वदने चारुलोचनं ।।

---

पण्डितगण, विषय,-यथार्थ पदार्थ का अनुपादान-अनुल्लेख से भी उपादाने—उल्लेख से भी, अधः करण मात्रेण केवल विषय का अप्रधान करने से निगीर्णत्व; विषयका निगरण कहते हैं। सम्प्रति अतिशयोक्ति का प्रकार का वर्णन करते हैं। भेद में भी अभेद-अभेद में भेद सम्बन्ध में असम्बन्ध,-असम्बन्ध में सम्बन्ध, कार्य कारण का पौर्वापर्य विपर्यय: यह पाँच भेद हैं। भेद में अभेद, यथार्थ से अयथार्थ भिन्न होने पर भी उससे अभिन्न रूप से सम्भावना, यथार्थ का सम्बन्ध में भी असम्बन्ध सम्भावना, दोनों का विपर्यय-वैपरीत्यद्वय, यथार्थ अयथार्थ में अभेद होने पर भी भेद की सम्भावना, यथार्थ का असम्बन्ध होने से भी सम्बन्ध सम्भावना, तथा कार्य हेतु कार्यकारण का पौर्वापर्य्यात्यय, पूर्ववर्त्तित्व, परवर्त्तित्व रूप वैपरीत्य, यहाँ आसत्तिक्रम से ही अन्वय है,संख्याक्रम से नहीं कारण का पूर्ववर्त्तित्व होना कार्यका परवर्त्तित्व होना नियत है, वहाँ यदि कारण से कार्य का पूर्ववर्त्तित्व की सम्भावना. समकालवर्त्तित्व की सम्भावना हो तो वह अतिशयोक्ति पाँच प्रकार होगी।

विपर्यय-अभेद में भेद, असम्बन्ध में सम्बन्ध, सा-अतिशयोक्ति भेद में भी अभेद का दृष्टान्त—इन्दु, नीलम्बुजयुगल, बन्धूक पुष्प के साथ तिलपुष्प (नासिका) जिस कनकलता में है, वह कृष्णाङ्गना विचित्र है, यहाँ श्रीराधिका के मुख नेत्रादिका इन्दुनीलाम्बुजादि के साथ अभेद अध्यवसाय है।

यथा वा—हे माधव ! तुम्हारी राधा में उदितविधु पूर्णता की

अत्र यद्यर्थबलादाहृतेन सम्भवेन सम्भावनया सम्बन्धः ।

**कार्य-कारणयोः पौर्वापर्यञ्च** द्विधा भवति। कारणात् प्रथमं कार्य्यस्य भावे, द्वयोः समान-कालत्वे च । क्रमेण यथा—

कृष्णाङ्गसङ्गाय वराङ्गनानां वितन्वती भूरि विकारवृन्दं ।
पूर्वं मनस्युत्सुकताविरासीद्विवेश पश्चान्मुरली-निनादः ॥

---

प्राप्त होते हैं, आश्चर्य तो यह है—उस में नीलकमलयुगल विकसित हैं। यथा वा—विश्लेष दुःखादिव बद्धमौनं' यहाँ चेतन गत मौनत्व पृथक् है, अचेतन गत मौनत्व पृथक् है, दोनों में भेद होने पर भी अभेद है, एवं सहाधर दलेनास्या यौवने रागभाक् प्रियः। यहाँ अधर का राग, लौहित्य है, प्रियका प्रेम, दोनों का अभेद है।

**अभेद में भेद का उदाहरण—**

राधा की सौन्दर्यसमृद्धि अन्य है, वपु-नयनों की भङ्गी भी पृथक् है। अन्तर का उल्लासाधिक्य भी पृथक् है, प्रियसङ्गम से राधा ही उल्लसित होती है, अन्य कोई नहीं, सम्बन्ध में असम्बन्ध—चन्द्र में चकोर विलसित अमृत होने पर भी किसी का अनुभव नहीं होता है, श्रीकृष्ण श्रीराधा मुख का अनुभव कर सब का अनुभव करते हैं।

यहाँ चन्द्र में उस उसका सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्ध है।

**असम्बन्ध में सम्बन्ध का उदाहरण—**

यदि इन्दुमण्डल में इन्दीवर युगल संलग्नहो तब राधा वदन में चारुलोचन की उपमा हो सकती है। यहाँ यदि शब्द प्रयोग से कल्पित सक्तत्व सम्बन्ध से अध्यवसाय की प्रतीति होती है, अतः इन्दुमण्डल में यथार्थ इन्दीवरासक्त का अयथार्थ के साथ सक्तत्व रूप से अध्यवसाय होने पर लक्षण की सङ्गति हुई। कार्य कारण का पौर्वापर्य दो प्रकार से है, कारण के पहले कार्य की स्थिति से, कार्य कारण की स्थिति समान कालीन होने से, क्रम पूर्वक उदाहरण श्रीकृष्ण मिलन के लिए गोपाङ्गनाओं में अतिशय विकार समूह की उत्पत्ति होती है, पहले मन में उत्सुकता आविर्भूत होती है, पश्चात् उस में मुरली ध्वनि प्रविष्ट होती है।

द्वयमेतत् समं जातं रासलीलार्थिनो हरेः ।
मुरली-वादनं गोपीवृन्दस्याकर्षणं पुरः ॥

इह केचिदाहुः— मुखनेत्रादिगतो लौकिकातिशयोऽलौकिकत्वेनाध्यवसीयते। मुखनेत्रादे रिन्द्वादिभि रध्यवसाये 'अन्यैव सौन्दर्य्ये' त्यादि प्रकारेऽव्याप्ति-र्लक्षणस्येति । तन्न; तत्रापि अन्यसौन्दर्य्यादिकमन्यत्वेनाध्यवसीयते । तथाह्यन्येदेवेत्यत्र अन्येवेति इवयोगेऽध्यवसायस्यासाध्यत्वमेवेत्युत्प्रेक्षाङ्गीक्रियते । 'कृष्णाङ्गसङ्गाये' त्यत्र मुरलीनिनादस्य प्रथमभावितापि पश्चाद्भावित्वेनाध्य-वसिता। अतएवात्रापि 'इव' प्रयोगे उत्प्रेक्षा। एवमन्यत्। अतिशयोक्तिः ।१३

**पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ।**
**एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ॥**

अन्येषामप्रस्तुतानां । धर्मो गुणक्रियारूपः । क्रमेण यथा—

प्रजागर स्वप्न-सुषुप्तिषु श्रीगान्धर्विकायां सततं हि नान्या ।
मनोवपुर्वागखिलेन्द्रियाणां कृष्णैकतानत्वमृतेऽस्ति वृत्तिः ॥

---

रासलीलाभिलाषी श्रीकृष्ण का कार्यद्वय एकसाथ ही हुआ, मुरली वादन एवं निज समीप में गोपीवृन्द का आकर्षण। इस प्रकरण में कुछ व्यक्ति कहते हैं—मुखनेत्रादि गत लौकिक अतिशय अलौकिक रूप में अध्यवसाय नहीं करते हैं। मुखनेत्रादि का चन्द्रादि के द्वारा अध्यवसाय से अन्यैव सौन्दर्य्येत्यादि प्रकार में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, ऐसा नहीं, वहाँ भी अन्यसौन्दर्य्यादि अन्य रूप से अध्यवसाय होते हैं, अन्यदेव के स्थान में अन्येव' इव शब्द के योग से अध्यवसाय का असाध्यत्व है, अतः उत्प्रेक्षा होती है, कृष्णाङ्ग सङ्गाय-यहाँ मुरली निनाद प्रथम होने से भी पश्चात् हुआ है, ऐसा अध्यवसाय है। अतएव यहाँ भी इव शब्द के योग से उत्प्रेक्षा है।१३

सादृश्य मूलक तुल्ययोगिता अलङ्कार को कहते हैं— जब प्रस्तुत पदार्थों का एक धर्माभिसम्बन्ध होगा अथवा अप्रस्तुत पदार्थोंका एक धर्माभिसम्बन्ध होगा—तब तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है।

यदि प्रस्तुत पदार्थ के साथ प्रस्तुत पदार्थों का एक धर्म से गुण

अत्र मन आदीनां तदेकतानत्वेन वर्त्तनैकक्रियाभिसम्बन्धः ।

राधाङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते ।
मालती–शशभृल्लेखा-कदलीनां कठोरता ॥

अत्र मालत्यादीनामप्रस्तुतानां कठोरतारूपैकगुणसम्बन्धः एवं

दानं वित्तादृतं वाचः कीर्त्तिधर्मौ तथायुषः ।
परोपकरणं कायादसारात् सारमुद्धरेत् ॥

अत्र दानादीनां कर्मभूतानां सारतारूपैकगुणसम्बन्ध । एकाहरणक्रिया सम्बन्धश्च ॥ तुल्ययोगिता ॥१४॥

---

से क्रिया से अभिसम्बन्ध कर्त्ता कर्म करणादि रूप से सम्पर्क होता है, अथवा यदि अप्रस्तुत पदार्थ के साथ अप्रस्तुत पदार्थों का एक धर्माभि सम्बन्ध होता है, तब तुल्य योगिता नामक अलङ्कार होता है।

अतएव अप्रस्तुत के साथ प्रस्तुत का, प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत का एक धर्माभिसम्बन्ध रूप दीपक से इस का भेद है। "अन्येषाम्-अप्रस्तुतानां, धर्मो गुण क्रियारूपः" क्रमश उदाहरण, प्रजागर स्वप्न सुषुप्ति में भानुनन्दिनी की मनोवपु वाणी अखिलेन्द्रियों की सतत वृत्ति कृष्णैक तानत्व छोड़कर अपर नहीं रही। यहाँ मन आदियों की तदेकतानता है, उस से वृत्ति नामक क्रिया से सम्बन्ध है।

राधाङ्ग की मृदुता को जानने वाले किस के चित्त में मालती शशभृल्लेखा कदलीयों की कठोरता का अनुभव नहीं होता है। यहाँ मालतीप्रभृति अप्रस्तुतों की कठोरता का सम्बन्ध है। एवं असार से यहाँ ईषदर्थ में नञ् का प्रयोग हुआ है, अभावार्थ नञ् का होने पर अत्यन्त असार से सार का आहरण नहीं होता है। बुद्धिमान् जन,– असार शरीर से परोपकार रूप सारका आहरण करे। असार आयु से धर्म कीर्त्ति रूप सार का आहरण करे। असार वाणी से सत्यरूप सार का आहरण करे, असार रूप धन से साररूप दान कार्य करे। यहाँ दानादि कर्म समूह का सार रूप एक गुणसम्बन्धहै। एकआहरण क्रिया के साथ सम्बन्ध है ॥१४॥

अप्रस्तुत-प्रस्तुतयो र्दीपकन्तु निगद्यते।'

एकधर्म्माभिसम्बन्ध इत्यनुवर्त्तते। ※

'अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्।'

यथा — स्वं स्वं पतिम्मन्यजनं व्रजाङ्गना विहाय कृष्णं पतिमाशु भेजिरे।
सती च योषित् प्रकृतिश्च निश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि।

अत्रोत्तरार्द्धे अप्रस्तुतायाः प्रकृतेः प्रस्तुतायाः सत्या योषिता एकार्थ-गमनक्रियासम्बन्धः।

यथा वा—नवं वयो मेऽत्र वसन्तकालः प्रेमा विचारी मदनोऽतिरुष्टः।
हरेरलब्धि र्गुरुगञ्जनञ्च षड़ेव मर्माण्यवसादयन्ति॥

---

साहृश्यमूलक दीपक अलङ्कार का निरूपण करते हैं—अप्रस्तुत प्रस्तुत पदार्थों का एक क्रिया सम्बन्ध होने से दीपक अलङ्कार होगा, पूर्व से एक धर्माभिसम्बन्ध पद का अनुवर्त्तन होगा, धर्म क्रियादिरूप, अप्रस्तुत के साथ प्रस्तुत का प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत पदार्थ का एक धर्माभिसम्बन्ध होने से दीपक होता है, इस से तुल्ययोगिता में अतिव्याप्ति नहीं हुई, दीपक का लक्षणान्तर करते हैं। अथ शब्द वैशिष्ट्य की सूचना करता है, यदि अनेक क्रिया में एक यत्किञ्चित् कारक हो तो भी दीपक अलङ्कार होगा। अप्रस्तुत पदार्थ को प्रकाश करता है, नित्य ब्रह्मलिङ्ग है। उदाहरण—व्रजाङ्गना निज निज पतिम्मन्यं जन को छोड़कर सत्वर पतिकृष्ण के समीप चली गई, सती स्त्री, निश्चला प्रकृति-स्वभाव, जन्मान्तर में भी पुरुष को प्राप्त करलेती है।

उत्तरार्द्ध में अप्रस्तुत प्रकृति के साथ प्रस्तुत सत्य योषित का एकार्थ गमन क्रिया सम्बन्ध है।

द्वितीय उदाहरण राधा सखी को कहती है, मेरा नवीनवयः क्रम है, वसन्तकाल, प्रेम भी विचारनिष्ठ है, मदन भी अतिरुष्ट है, श्रीकृष्ण का विरह, गुरु की भर्त्सना यह छै मर्म को भेदन करते हैं,

---

※ धर्म्म=क्रियादिरूपः।

अत्र प्रस्तुतायाः हरेरलब्धे रप्रस्तुतानां नववय आदीनाञ्च अवसाद-क्रियाभिसम्बन्धः ।

लज्जते चिन्तयत्यन्त र्मुहु र्नन्दति ताम्यति ।
मुह्यति प्रथमं प्राप्य राधा माधव-दर्शनम् ।।

दीपकं ।।१५।।

**प्रतिवस्तूपमा साम्याद् वाक्ययो र्गम्यसाम्ययोः ।**
**एकोऽपि धर्म्मः सामान्य यत्र निर्दिश्यते पृथक् ।।**

यथा—श्रीराधयानन्यसमोर्द्ध्वया हृतं
मनो हरे र्धावति नापराङ्गनां ।
सरोजिनी सन्मधुलम्पटः सदा
वल्लीं परः प्राञ्चति किं मधुव्रतः ।।

अत्र धावन-प्राञ्चनक्रिययो रेकार्थतैव पौनरुक्त्यनिरासाय भिन्नवाचकतया निर्दिष्टा । इयं मालयापि दृश्यते, यथा—

---

यहाँ हरि की अप्राप्ति प्रस्तुत है, इस में अप्रस्तुत नववय आदि का अवसाद क्रिया के साथ सम्बन्ध है ।

राधा माधव को देखकर मोह, ताप, आनन्द चिन्ता लज्जा से अभिभूत हो गई है । ( दीपक ) ।।१५।।

प्रकारान्तर से सादृश्यमूलक अलङ्कार का निरूपण करते हैं, जहाँ उपमा वाचक शब्द का प्रयोग नहीं होता है, किन्तु तात्पर्य-पर्य्यालोचन से बोध होता, भिन्न पदार्थ के द्वारा ही उपमा का बोध कराया जाता है, वाक्यार्थ द्वय का समान सामर्थ्य होता है । गुण क्रिया रूप धर्म एक होने पर भी भिन्न आनुपूर्वीक रूप से कहा जाता है, वह प्रति वस्तूपमालङ्कार है, प्रति वस्तु-प्रतिपदार्थ ही उपमा--सादृश्य है, अतः प्रतिवस्तूपमा है । उदाहरण—असमोर्द्धरूपाराधा से हरि का मन हरण हुआ है । वह मन अपर अङ्गना के प्रति धावित नहीं होता है, सदा सरोजिनी का उत्तम मधु में सदा लम्पट मधुप क्या अपर वल्ली के और जा सकता है ? यहाँ धावन क्रिया एवं प्राञ्चन क्रिया की एकार्थता है, पुनरुक्त नहीं, इसलिए भिन्न

विमल एव रवि विशदः शशी प्रकृतिशोभन एव हि दर्पणः ।
शिवगिरिः शिवहाससहोदरः सहजसुन्दर एव हि नन्दजः ।

अत्र विमल-विशदादेरर्थ एक एव । वैधर्म्येण यथा—

गोप्य एव हि गोविन्दं नृत्याद्यै स्तोषयन्त्यलं ।
ता विनान्यजगन्नार्य्यो न योग्या रास-कर्म्मणि ।।

प्रतिवस्तूपमा ।।१६।।

'दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिविम्वनं ।'

सधर्म्मस्येति प्रतिवस्तूपमा-व्यवच्छेदः । अयमपि साधर्मवैधर्म्याभ्यां द्विधा । क्रमेण यथा—शोभते गुणहीनापि गीः कृष्ण गुणयोगतः,
शालग्रामादि-संस्पर्शाद् वन्द्यं स्यात् पाललं जलं ।।
त्वयि दृष्टे विशाखायाः स्रंसते विरह-व्यथा ।
दृष्टा नोदयभाजीन्दौ ग्लानिः कुमुद-संहतेः ।।

---

शब्द से कथन हुआ है ।

यह मालारूपा भी होती है, उदाहरण रवि विमल है, चन्द्रमा सुन्दर है, दर्पण भी स्वाभाविक सुन्दर है, शिवगिरि कैलास, शिव-हास सहोदर है, नन्दात्मज सहज सुन्दर है । यहाँ विमल विशद एकार्थ का वाचक है,, वैधर्म्य का उदाहरण नृत्यादि के द्वारा गोपी गण ही कृष्ण को सुखी करती हैं, उनसव को छोड़कर जगत् की नारीगण रासकार्य के लिए योग्य नहीं हैं ।

प्रतिवस्तूपमा ।।१६।।

प्रतिवस्तूपमा की भाँति दृष्टान्त अलङ्कार भी प्रतिवस्तु से समर्थित होता है, अतः प्रतिवस्तूपमा के बाद दृष्टान्त को कहते हैं । यहाँ समान सदृश धर्म है, प्रतिवस्तूपमा की भाँति अभिन्न नहीं है, धर्म शब्द से गुण एवं क्रिया को जानना होगा, सदृश पदार्थ का प्रति-विम्व भावसे स्थापन को दृष्टान्त कहते हैं । लक्षण में प्रतिवस्तूपमा से भिन्न दिखाने के लिए सधर्म पद का उपन्यास हुआ है । यह भी साधर्म्य वैधर्म्य से दो प्रकार होता है, दृष्टान्त क्रमश—श्रीकृष्ण के

---

* पाललं—पङ्कमयं ।।

श्रीराधयेत्यत्र मनोधावनस्य प्राञ्चनस्य चैकरूपतयैव पर्य्यवसानात् प्रतिवस्तूपमैव । इह तु शोभावन्धता-प्राप्तिक्रिययोः साम्यमेव, न त्वैकरूप्यं । अत्र समर्थ्यसमर्थकवाक्ययोः सामान्यविशेषभावेऽर्थान्तरन्यासः । प्रतिवस्तूपमा-दृष्टान्तयोस्तु न तथेति भेदः ।। दृष्टान्तः ।।१७।।

**सम्भवन्वस्तु-सम्बन्धोऽसम्भवन् वापि कुत्रचित् ।**
**यत्र विम्वानुविम्वत्वं बोधयेत् सा निदर्शना ।।**

सम्भवद्वस्तु सम्बन्धा यथा—

कोऽत्र कृष्णमखिलार्थदं प्रभुं विद्विषन् सुचिरमेति सम्पदं ।
ज्ञापयन्निति जनान् स बान्धवः कंस एष झटिति क्षयं गतः ।।

---

गुण स्पर्श से गुण हीन वाणी भी शोभित होती है, शालग्रामादि के संस्पर्श से पङ्कमय जल भी वन्दनीय होता है, तुम्हें देखकर विशाखा की विरह व्यथा दूर हो जाती है। चन्द्रोदय को न देख कर कुमुद श्रेणी ग्लानि को प्राप्त करती है। प्रतिवस्तूपमा का दृष्टान्त में राधा के द्वारा वचन में,मनोधावन-प्राञ्चन क्रिया से एकार्थ का बोध होता है, अतः प्रतिवस्तूपमा ही है, दृष्टान्त अलङ्कार स्थल में शोभा, वन्धना प्राप्ति क्रियाद्वय की समता है, किन्तु एकरूपता नहीं है, यहाँ समर्थ्य समर्थक वाक्य का सामान्य विशेष भाव से अर्थान्तर न्यास होता है। प्रतिवस्तूपमा एवं दृष्टान्त अलङ्कारमें उस प्रकार नहीं है, अतः उस से यह भिन्न होता है। "दृष्टान्तः"।।१७

सादृश्य कल्पना में पर्यवसित वाक्यार्थ निदर्शना है। प्राकरणिक सादृश्य प्रयुक्त निदर्शना अलङ्कार का वर्णन करते हैं। यदर्थक यत्र अव्यय है, वस्तुसम्बन्ध पदार्थ का अन्वय हो अर्थात् विनाबाधा से प्रतीति हो, कहीं पर असम्भव हो बाधासे सम्बन्ध की अप्रतीति हो, ऐसा होकर यहाँ विम्वप्रतिविम्बभाव है,अर्थात् उपमान उपमेय भाव है, यह यदि व्यञ्जना से बोधित होता है,तो उसे निदर्शना कहते हैं।

सम्भवत् वस्तु सम्बन्ध असम्बन्ध वस्तु सम्बन्धानिदर्शना द्विविध है, निदर्शयति निश्चयेनोपमेयभावं बोधयतीति निदर्शना। निपूर्वक

अत्र कंसस्य ईदृशार्थज्ञापन-क्रियायां कर्त्तृत्वेमान्वयः सम्भवति। ईदृशार्थज्ञापनसमर्थक्षय-प्राप्तिधर्म्मवत्त्वात्। स च कंसस्य क्षयगमनस्य विद्विड्विपत्प्राप्तेश्च विम्बं बोधयति।

असम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिबन्धना त्वेकवाक्यानेकवाक्यगतत्वेन द्विविधा। तत्रैकवाक्ये यथा—

> कलयति किल ललितायाः कुवलयललितं कटाक्ष-विक्षेपः।
> अधरः किसलयलीलामाननमस्याः कलानिधि-विलासम्॥

अत्रान्यधर्म्मं कथमन्यो वहत्विति कटाक्ष-विक्षेपादीनां कुवलयगत-ललितादीनां कलनमसम्भवत्, तद्वल्ललितादिकमवगमयत् कटाक्षविक्षेपादेश्च विम्ब-प्रतिविम्बत्वं बोधयति।

---

दृशधातो: ईषिश्रन्थासीत्यादिनास्त्र्यधिकारे यु प्रत्यय:।

उदाहरण—अखिल वस्तु प्रदाता समर्थ प्रभु श्रीकृष्णको विद्वेषकर नित्य सम्पद् का अधिकारी कौन बन सकता है, इसको सूचितकरने के लिए ही,बान्धव के साथ कंस सत्वर विनष्ट हो गया। यहाँ कंस का ईदृशार्थ ज्ञापन क्रिया के साथ कर्त्ता रूप से सम्बन्ध है। कारण ईदृशार्थ ज्ञापन समर्थ क्षय प्राप्ति धर्मवान् वह है। वह कंस की क्षय प्राप्ति विद्वेष से विपत् प्राप्ति का विम्ब को बोध कराता है। असम्भवद् वस्तु सम्बन्ध निबन्धना निदर्शना एक वाक्य एवं अनेक वाक्य गत होने से दो प्रकार हैं।

एक वाक्य का उदाहरण—ललिता का कटाक्ष विक्षेप कुवलय सौन्दर्य को प्रकट करता है। अधर किसलय लीला को प्रकट करता है, और आनन, कलानिधि विलास को व्यक्त करता है। यहाँ अपर का धर्म अपर कैसे वहन कर सकता है, कटाक्ष विक्षेपादि की कुवलय गत ललितादि से एकता होना असम्भव है। उस प्रकार ललितादि को सूचित कर कटाक्ष विक्षेप के साथ विम्ब प्रतिविम्बत्व का बोध कराता है।

और भी-कृष्ण, मथुरा पहुँच जाने से कंस महिषीयों की गति राजहंस की भाँति हुई, और आनन द्युति भी चन्द्र के समान हुई।

यथा वा—मथुरामागते कृष्णे मुक्ता कंस-मृगीदृशां ।
राजहंसगतिः पद्भ्यामाननेन शशिद्युतिः ॥

अत्र पदाभ्यामसम्बन्ध-राजहंसगते स्त्यागोऽनुपपन्न इति तयो स्वत्-सम्बन्धः कल्प्यते । स चासम्भवन् राजहंस-गतिमिव गतिं बोधयति ।

अनेकवाक्यगा यथा—

उमा निजं याति सुकोमलं वपु स्तप-क्षमं साधयितुं समीहते ।
सा नूनमिन्दीवर-पत्रधारया शमीलतां छेत्तुमहो व्यवस्यति ॥

अत्र यत्तच्छब्दनिर्दिष्ट-वाक्यार्थयोरन्वयोऽनुपपद्यमान स्तादृशवपुष स्तप-क्षमत्वसाधनेच्छा इन्दीवर-पत्रधारया शमीतरुच्छेदनेच्छा इवेति विम्ब-प्रतिविम्बतायै पर्य्यवस्यति ।

यथा वा—कृष्णं हित्वा जन्म नीतं व्यर्थतां विषयेच्छया ।
काचमूल्येन विक्रीतो हन्त चिन्तामणि र्मया ॥

अत्र कृष्णं हित्वा विषयेच्छया जन्म-वैफल्यनयनं काचमूल्येन चिन्तामणि-विक्रय इवेति पर्य्यवसानं । एवं—

---

यहाँ चरण के साथ राजहंस की गति का सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है, किन्तु दोनों का सम्बन्ध की कल्पना की गई है। वह असम्भव होने से राजहंस की गति के समान गति की कल्पना की गई है।

अनेक वाक्यगत निदर्शना का दृष्टान्त—उमा अति सुकोमला होकर भी तपस्या करने की इच्छुक हो गई, इससे तो वह इन्दीवर पत्र से शमी वृक्ष को छेदन करने का ही निश्चय किया है। यहाँ यत् तत् शब्द निर्दिष्ट वाक्यार्थ का अन्वय होना सम्भव न होने से उस शरीर से तपस्या करना, पद्म पत्र से शमी वृक्ष को छेदन करने का समान है, अत विम्व प्रतिविम्वता में पर्यवसित होता है।

यथा वा—कृष्ण को छोड़ कर विषय की इच्छा से आयु व्यतीत करना व्यर्थ ही है, मैंने काच के मूल्य से चिन्तामणि को बेचा है। यहाँ कृष्ण को छोड़कर विषय की इच्छा से समय बिताना काच के मूल्य से चिन्तामणि बेचने का समान है। एवं कहाँ, वृन्दावन के अधीश्वर कृष्ण, ओर चर्मचक्षु का मैं कहा हूँ। मानो पुलिन्द के हात

क्वाऽयं वृन्दावनाधीशः क्व च मे चर्मलोचनं ।
पाणिं प्राप्तः पुलिन्दस्य महामारकतो मणिः ।।

अत्र मन्नेत्रेण वृन्दावनाधीश-दर्शनं पुलिन्दस्य सद्रत्नासादनमिवेति पर्य्यवसानं । इयं च क्वचिदुपमेयवृत्तस्योपमानेऽसम्भवेऽपि सम्भवति ।

यथा—योऽनुभूतोऽत्र पद्मायां स्तस्या मधुरिमाधरे ।
समास्वादि स मृद्वीकारसे श्रीहरिणा स्फुटं ।।

अत्र प्रकृतस्याधरस्य मधुरिमधर्मस्य द्राक्षारसेऽसम्भवात् साम्य एव पर्य्यवसानं ।

**मालारूपादि यथा—**

इहानिनीषामि करेण भास्करं मूर्द्ध्ना विभित्सामि सुमेरुपर्वतं ।
दोर्भ्यां तितीर्षामि महार्णवो यतो गुणान् विवक्ष्यामि हरेरपत्रपः ।।

इह विम्वप्रतिविम्वताक्षेपं विना वाक्यार्थे पर्य्यवसानं । दृष्टान्ते तु पर्य्यवसितेनवाक्यार्थेनसामर्थ्याद्विम्वप्रतिविम्वताप्रत्ययेन । नापीयमर्थापत्तिः । तत्र गोष्ठाधीशसुतस्येत्यादौसादृश्य-पर्य्यवसानाभावात् । निदर्शना ।।१८।।

---

में महामारकतमणि आगई ।

यहाँ मेरे नेत्र से वृन्दावनाधीश का दर्शन पुलिन्द के लिए सद् रत्न प्राप्ति की भाँति है। यहाँ उपमेय उपमान सम्भव न होने पर भी सम्भव हुआ ।

**यथा**—पद्मा के अधर की मधुरिमा का अनुभव हरि ने जिस प्रकार किया उस प्रकार मधुरिमा का आस्वादन उन्होंने द्राक्षारस में किया। यहाँ प्रकृत अधर की मधुरिमा द्राक्षारस में सम्भव नहीं है। किन्तु समता में पर्यवसान है।

**मालारूपा निदर्शना का उदाहरण—**

मैं तो हात से सूर्य को लाना चाहता हूँ, सुमेरु पर्वत को मस्तक से फोड़ना चाहता हूँ, महार्णव को तैर कर पार करना चाहता हूँ। कारण मैं निर्लज्ज होकर श्रीहरि के गुण गण की वर्णना करना चाहता हूँ। यहाँ विम्व प्रतिविम्वता का आक्षेप के विना ही वाक्यार्थ

**आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा ।**
**व्यतिरेकः ॥**

स च—एक उक्तेऽनुक्ते हेतौ पुन स्त्रिधा ।
चतुर्विधोऽपि साम्यस्य बोधनाच्छब्दतोऽर्थतः ।
आक्षेपाच्च द्वादशधा श्लेषेऽपीति त्रिरष्टधा ।
प्रत्येकं स्यात् मिलित्वाष्टचत्वारिंशद्विधः पुनः ॥

उपमेयस्य उपमानादाधिक्ये हेतुरुपमेयगतमुत्कर्षकारणमुपमान-गतनिकर्षकारणञ्च । तयो र्द्वयोरप्युक्तादेकः प्रत्येकं समुदायेन वानुक्तौ त्रिविध इति चतुर्विधेऽप्यस्मिन्नुपमानोपमेयत्व-निवेदनं शब्देनार्थेनाक्षेपेण चेति

---

का पर्यवसान होता है । दृष्टान्त में वाक्यार्थ की शक्ति से विम्व प्रति बिम्वता का प्रत्यय होता है । यह अर्थापत्ति नहीं है, वहाँ गोष्ठाधीश सुतस्य इत्यादि में सादृश्य का पर्यवसान है । निदर्शना-१८॥

विलक्षण इति गुणेन दोषेण च—विलक्षण का नाम व्यतिरेक अलङ्कार है । गुण अथवा दोषके द्वारा उपमान से उपमेय का अधिक होना है, उपमेय का आधिक्य, अथवा उपमेय का उपमान से न्यून न होना है, यह व्यतिरेक है, हेतु का कथन एवं अकथन से तीन प्रकार होगा, उपमान उपमेय का वैधर्म्य से ही व्यतिरेक होगा, उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष होने से व्यतिरेक होगा, उपमा में वैधर्म्य नहीं है । यहाँ वैधर्म्य है, उपमान की अपेक्षा उपमेय अधिक होने से एक प्रकार होगा, उपमान की अपेक्षा उपमेय की न्यूनता से द्वितीय प्रकार है, हेतु की उक्ति से एक प्रकार ही होगा, हेतु का कथन न होने से तीन प्रकार होगा, केवल उपमेय का उत्कर्ष का कारण उक्त न होने से एक प्रकार होगा, केवल उपमान का उत्कर्ष का कारण अनुक्त होने से एकविध है, दोनों का उत्कर्ष अपकर्ष कारण अनुक्त होने से एकविध है, समुदाय से यह तीन प्रकार हैं । इस प्रकार हेतु उक्त होने से जो एकविध होता है, उसके साथ अनुक्त हेतु सम्पन्न त्रिविध के मेलन से वह अलङ्कार

द्वादश प्रकारोऽपि 'श्लेषे' अपि शब्दादश्लेषेऽपि भवतीति चतुर्विशति प्रकारः। उपमानात् न्यूनतायामप्यनयैव भङ्ग्या चतुर्विशति प्रकारतेति मिलित्वाष्ट-चत्वारिंशत्प्रकारो व्यतिरेकः।

यथा—राधिकेयं हरेः श्लाघ्यसद्गुणावलि-मण्डिता।
न सामान्यगुणान्यस्त्री यथैनां तं प्रसादय ॥

अत्र श्लाघ्यसद्गुण-सामान्यगुणयोरुक्तिः, तयो र्द्वयोः क्रमयुगपदनुक्तौ क्रमेण चानुक्तौ त्रयो भेदाः इति चत्वारो भेदाः। यथाशब्देन शाब्दमौपम्यमत्र। अत्रैव श्लोके अन्यस्त्रीतुल्यैनामिति पाठे आर्थमौपम्यं। अनुक्तित्रितयञ्च पूर्ववत्। इत्यष्टौ भेदाः!

'निर्मलं ते मुखं राधे जयतीन्दुं कलङ्किनं।'

सामर्थ्याक्षिप्तमौपम्यमत्रानुक्तित्रयञ्च पूर्व्ववत्। इति द्वादशभेदाः।

---

चार प्रकार होगा। उक्त रीति से सम्पन्न व्यतिरेक चतुर्विध, शब्दत साद्दश्य कथन से, आक्षेप व्यञ्जना से समान सद्दशादि का बोध होने से द्वादशविध होगा, चार का तीन से गुणित होने से द्वादश होगा।

श्लेष एवं अश्लेष से दो प्रकार होकर चतुर्विशति प्रकार होगा, उक्त रीति से उपमान से उपमेय न्यून होने पर भी व्यतिरेक चतुर्विशति प्रकार होगा। द्विगुणित होकर अष्टचत्वारिंशत् प्रकार होगा। उपमेय का उपमेय से आधिक्य होने से उपमेय गत उपमेय गत उत्कर्ष का कारण एवं उपमान गत अपकर्ष का कारण उल्लेख से ही होगा।

यथा—श्रीराधिका श्रीकृष्ण के प्रशंसित गुणों से मण्डित हैं-अन्य स्त्री इनके सामान्य गुणों से युक्त नहीं है॥ यहाँपर श्लाघ्य-सद्गुण–सामान्य गुण की उक्ति, उन दोनों की युगपदनुक्ति से क्रमसे अनुक्ति से तीन भेद हैं—इस प्रकार चार भेद हैं, यथा शब्द से शाब्दौपम्य है। इस श्लोक में अन्य स्त्री तुल्यैनामिति पाठ में आर्थीऔपम्य है। अनुक्त त्रितय भी पूर्ववत् है, इस प्रकार आठ भेदहैं।

हे राधे! तुम्हारा मुख निर्मल है, उसने कलङ्की चन्द्र को जीत लिया। सामर्थ्याक्षिप्त औपम्य अनुक्तित्रय भी पूर्ववत्। यह द्वादश

श्लेषे यथा—'न चन्द्रवत् कलाः क्षीणा हरेऽनन्तकलस्य ते'। अत्रेवार्थे 'वति' रिति शाब्दमौपम्यं। कलाशब्द श्लिष्टः। क्षीणतानन्त कलतालोपे पूर्व्ववदनुक्तयः।

नदीनदेशोऽपि हरे त्वच्चाब्धिश्च समः कुतः।

दोषाकरप्रियोऽसि त्वमसौ दोषाकरप्रियः।'

अत्र समशब्देनार्थमौपम्यं। नदीनदेशशब्दः श्लिष्टः। अन्त्य पादद्वयस्य क्रमाद्युगपद् वानुक्तित्रयं।

विभङ्गुरगुणं पद्मं विधूदय निमीलितं।

जिगायाभङ्गुरगुणं राधा-वक्त्रं विधुप्रियं॥

अत्र जिगायेत्युपमाक्षिप्ता। गुणविधुशब्दौ श्लिष्टौ। गुणविधुयोगा-भावेऽनुक्तित्रयं।

---

भेद है। श्लेष से यथा—हे हरे ! तुम अनन्तकलासम्पन्न हो चन्द्र की कला की भाँति यह क्षयिष्णु नहीं है, यहाँ इवार्थ में 'वति' का प्रयोग है, यह शाब्दौपम्य है। कला शब्द श्लिष्ट है। क्षीणतानन्त कलतालोप में पूर्ववदनुक्ति है। हे हरे ! नदीनदेश होकर भी तुम समुद्र के समान कैसे हो। तुम दोषाकर प्रिय हो, किन्तु वह दोषाकर प्रिय है, यहाँ समशब्द से आर्थी उपमा है। नदीनदेश शब्द श्लिष्ट है, अन्त्य पादद्वय का क्रमसे युगपत् अनुक्तित्रय हैं। अभङ्गुर गुण सम्पन्न विधुप्रिय राधावक्त्र विभङ्गुर गुण युक्त विधूदय निमीलित पद्म को पराजित किया है। यहाँ जिगाय-यह उपमा आपेक्ष लभ्या है, गुण विधु शब्द श्लिष्ट है, गुण विधु योग के अभाव से अनुक्तित्रय है।

कृष्ण चन्द्र के समान क्षीणकल नहीं है, और इन्द्र के समान पक्षभित् भी नहीं है, सूर्य्य के समान तापप्रद भी नहीं है, इस प्रकार यह अलङ्कार मालारूप भी है। इस प्रकार उपमेय की विलक्षणता से उदाहरण समूह हैं।

**न्यूनता का उदाहरण—**

क्षीण से क्षीण होते हुए भी चन्द्र पुनः पुनः बढ़ते रहते हैं। यह सत्य है। हे सुन्दरि ! प्रसन्न हो; रुको; यौवन चले जाने से

न चन्द्रवत् क्षीणकलो नेन्द्रबद्धोऽत्र पक्षभित् ।
नार्कवत्तापदकरः सोऽयं कृष्णो विराजते ।।

एवं प्रकारेण मालारूपोऽप्ययं भवेत् । इत्यादीन्युपमेयस्याधिक्ये उदाहरणानि । न्यूनत्वे दिङ्मात्रं यथा—

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी यो भूयो वर्द्धते सत्यं ।
विरम प्रसीद सुन्दरि ! यौवनमनिर्वात्ति यातं तु ।

अत्रोपमेयभूत-यौवनास्थैर्य्याधिक्यं । तेनात्रोपमानादुपमेयस्याधिक्ये 'विपर्य्यये वा व्यतिरेक' इति केषाञ्चिल्लक्षणे विपर्य्ययपदमनर्थकमिति यत् केचिदाहुः; तन्न, तथाह्यत्राधिक्यन्यूनत्वे सत्त्वासत्त्वे एव विवक्षिते; तत्र च चन्द्रापेक्षया यौवनस्यासत्त्वं स्फुटमेव; अस्तु वात्रोदाहरणे यथाकथञ्चिद् गतिः । 'हनूमदाद्यै र्यशसा मया पुन र्द्विषां हसैर्दूत पथः सितीकृत' इत्यादिषु का गति रिति सुष्ठूक्तं 'न्युनताथ वेति' ।। व्यतिरेकः ।।१६।।

## सहार्थस्यबलादेकं यत्र स्याद् वाचकं द्वयोः ।

---

लौटता नहीं है । यहाँ उपमेयभूत यौवन की अस्थिरता का आधिक्य है, इस से उपमान से उपमेय का आधिक्य से विपर्यय से व्यतिरेक है, इस प्रकार किसी का लक्षण में विपर्य्यय पद अनर्थक है, किसी का कथन उस प्रकार है ।

यह कहना ठीक नहीं है,क्योंकि आधिक्य न्यूनत्व का सत्त्वासत्त्व विवक्षित हैं, वहाँ पर चन्द्र की अपेक्षा यौवन का असत्त्व प्रकाशित है, किम्वा इस उदाहरण में यथाकथञ्चित् समाधान है । हनुमदादि की कीर्त्ति से मैंने दूत पथ को शुभ्र वनाया है, मैंने पुन दूत से द्विषां हंसैः शत्रुओं के हास्य से दूतपथ को शुभ्र वनाया है । लक्षण में व्यतिरेक पद प्रवेश करने बाले का समाधान क्या होगा ? उपमान भूत हनूमानादि की अपेक्षा से उपमेय भूत नलका अपकर्ष प्रतीति ही व्यतिरेक है, ऐसा कहो, वह "विपर्य्यये वा" कहने से ही होता है, इसलिये "न्यूनताथवा" इति सुष्ठु कहा है "विपर्यये वा" इस के अनुसार हुआ है । व्यतिरेक ।।१६।।

सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्ति र्यदा भवेत् ॥

अतिशयोक्ति रप्यत्राभेदाध्यवसायमूला कार्य्यकारणपौर्वापर्य्यविपर्य्ययमूला चेति । अभेदाध्यवसायमूलापि श्लेषभित्तिकान्यथा च । क्रमेणोदाहरणं यथा—

## ❀ तदेवं व्यतिरेकभेद सङ्कलनम् ❀



| | | |
|---|---|---|
| | उपमेयगतमुत्कर्षकारणम् उपमानगत<br>मपकर्ष कारणञ्च एतयोरुभयोरेवोक्तौ | १ |
| शाब्दौपम्ये | केवलोपमेय गतोत्कर्षकारणानुक्तौ | १ |
| | केवलोपमेय गतापकर्षकारणानुक्तौ | १ |
| श्लेषे १२ | तयोरुभयोरेवानुक्तौ ······ | १ |
| उपमानादुपमेयस्य | आर्थौपम्ये···उक्तक्रमेण ··············· | ४ |
| आधिक्ये—२४ | आक्षिप्तौपम्ये···उक्तक्रमेण ·············· | ४ |
| | शाब्दौपम्ये·· उक्तक्रमेण ··········· ··· | ४ |
| अश्लेषे—१२ | आर्थौपम्ये···उक्तक्रमेण ··············· | ४ |
| | आक्षिप्तौपम्ये····उक्तक्रमेण ······ ······· | ४ |
| | उपमानगतमुत्कर्षकारणम् उपमेयगत<br>मपकर्ष कारणञ्च एतयोरुभयोरेवोक्तौ | १ |
| शाब्दौपम्ये | केवलोपमान गतोत्कर्षकारणानुक्तौ | १ |
| | केवलोपमेयगतापकर्षकारणानुक्तौ | १ |
| श्लेषे—१२ | तयोरुभयोरेवानुक्तौ ······· | १ |
| उपमानादुपमेयस्य | आर्थौपम्ये ··उक्तक्रमेण··············· | ४ |
| न्यूनत्वे—२४ | आक्षिप्तौपम्ये···उक्तक्रमेण············ | ४ |
| ४८ | शाब्दौपम्ये···उक्तक्रमेण············· | ४ |
| | आर्थौपम्ये···उक्तक्रमेण················ | ४ |
| श्लेषे—१२ | आक्षिप्तौपम्ये···उक्तक्रमेण··· ········· | ४ |
| | | ४८ |



'सहाधरेण राधाया यौवने रागभाक् प्रियः ।'

अत्र 'राग' पदे श्लेषः ।

कृष्णस्य राधाप्रणयोच्चसम्पदा माधुर्य्य-सम्पत् सह वर्द्धतेऽनिशं ।
तयोश्च कुञ्जेषु विलास-सन्ततिः सार्द्धं सखीनां सुखसञ्चयाप्तिभिः ।

अत्र माधुर्य्यवर्द्धनादेः सम्बन्धिभेदादेव भेदो, न श्लेषः ।

कृष्णस्य कुञ्जे विजिहीर्षया समं समागता सा वृषभालिभिः ।।

इयञ्च मालयापि भवति; यथा—

---

सह सहार्थक शब्द की उक्ति सहोक्ति अलङ्कार है, यथाकथञ्चित् सादृश्यमूला सहोक्ति का निरूपण करते हैं। जब अतिशयोक्ति भेद में अभेदाध्यवसायमूला, कार्य्य कारण का पौर्वापर्य्य विपर्य्यय रूपा अतिशयोक्ति का मूलभूता प्रयोजिका हो, तब सहार्थस्य सह साकं-प्रभृति सहार्थ वाचक शब्द के बल से एक पदार्थ, दो पदार्थ का वाचक अन्वयी हो तो वह सहोक्ति अलङ्कार होगा, अर्थात् अति-शयोक्ति मूलक होकर सहार्थक शब्द प्रयोज्य एक पदार्थ का अनेक पदार्थ में अन्वय होने से सहोक्ति होगी। लक्षण में अतिशयोक्ति पद प्रदान का तात्पर्य यह है कि अतिशयोक्ति पद से अतिशयोक्ति सामान्य का ग्रहण नहीं होगा। विशेषातिशयोक्ति का ग्रहण होगा अर्थात् भेद में अभेदाध्यवसाय घटिता अतिशयोक्ति अभेदाध्यवसाय मूला है। श्लेष भित्तिका श्लेष-प्रयुक्तभेद मूला, अन्यथा अश्लेष प्रयुक्त भेद मूलाभी होगी। क्रमश उदाहरण—

यौवन काल में राधा का अधर राग के साथ प्रिय राग भी हुआ था। यहाँ रागपद श्लिष्ट है, अधरदल का रागलौहित्य, प्रिय का राग प्रेम है, लौहित्य-प्रेम भिन्न होने पर भी अभेदाध्यवसाय से अतिशयोक्तिहै, उस से सहार्थ से एक राग युक्त पदार्थ का अधर दल प्रिय के साथ अन्वय से श्लेष प्रयुक्ताभेदाध्यवसाय रूपातिशयोक्ति मूला सहोक्ति है।

राधा प्रणयोच्चसम्पद के साथ कृष्ण का माधुर्य्य सम्पत् निरन्तर बढ़ती रहती है, सखियों के सुख सम्पत्ति के साथ दोनों के

त्वद्वाम्येन समं समग्रमधुना तिग्मांशुरस्तं गत इत्यादि ।

'लक्ष्मणेन समं रामः काननं गहनं ययां' वित्यादौ अतिशयमूलत्वा-भावान्नायमलङ्कारः ।। सहोक्तिः ।।२०।।

## 'विनोक्ति र्यद् विनान्येन नासाध्वन्यदसाधु वा ।'

न असाधु अशोभनं न भवति । एवञ्च यद्यपि शोभन एव पर्य्यवसानं तथाप्यशोभनत्वाभावमुखेन शोभनत्ववचनस्यायमभिप्रायः—यत् कस्यचिद् वर्णनीयस्य अशोभनत्वं तत्परसन्निधेरेव दोषः। तस्य पुनः स्वभावतः। शोभनत्वमेवेति । यथा—शोभते नितरां राधा कृष्णस्यासङ्गमं विना।

विना सूर्य्य-प्रकाशे न द्योतते चन्द्र-दीधितिः ।।

असाध्वशोभनं यथा—

---

कुञ्जविलास प्रवाह भी वढ़ते रहते हैं, यहाँ माधुर्य वर्द्धनादि का सम्बन्धि भेद से भेद है, श्लेष नहीं है, कृष्ण की कुञ्ज में क्रीड़ा करने की इच्छा से श्रीवृषभानुजा सखीयों के साथ आ गई है। यह अलङ्कार मालारूप भी होता है। दृष्टान्त—तुम्हारे वाम्य के साथ सूर्य्य भी अस्तगत हुआ। लक्षण के साथ राम बन को गये, इस वाक्य में अतिशयोक्ति न होने से यह सहोक्ति अलङ्कार नहींहै,सहोक्ति ।।२०

विनोक्ति वह है,—जहाँ एक का अभाव से ही शोभनता होती है, अर्थात् अशोभनत्वाभाव, तथा शोभनत्वाभाव है, अतएव यह दो प्रकार है, एक का अभाव प्रतिपादन विना शब्द से ही होता है, अतएव विनार्थक शब्द-अन्तरेण ऋते निर् निस् रहित वर्जित शून्य नञ् प्रभृति के द्वारा अभाव प्रतिपादन से भी विनोक्ति अलङ्कार होगा, न असाधु-शब्द का अशोभन नहीं होगा, इस से शोभन में पर्यवसान होने पर भी अशोभनत्वाभाव मुख से शोभनत्व प्रतिपादन का अभिप्राय यह है, किसी का अशोभन होना अपर के सन्निधि से है,वह तो स्वभाव से शोभन है,उदाहरण कृष्ण का असङ्गम के विना राधा शोभिता होती है, सूर्य प्रकाश के विना चन्द्र दीधिति शोभिता नहीं होती है, राधा का मालिन्य कृष्ण विरह में स्वाभाविक है, अत: उस का अभाव ही शोभा का कारण है, इस प्रकार सूर्य प्रकाश से

विना राधां कृष्णो न सखि सुखदः सा न सुखदा
विना कृष्णं ताभ्यामपि सखि विनान्या न रसदाः ।
विना रात्रिं नेन्दु स्तमपि न विना सा च रुचिभाक्
विना ताभ्यां जृम्भां दधति कुमुदिन्योऽपि नितरां ।।
निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुविम्बं ।
उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव दृष्टा विनिद्रा नलिनी न येन ।।

अत्र परस्परविनोक्ति–भङ्ग्या चमत्कारातिशयः । विना शब्दाभावेऽप विनाभावविवक्षया विनोक्तिरेवेयं । एवं सहोक्तिरपि सह–शब्दप्रयोगाभावे सहार्थविवक्षया भवतीति बोद्धव्यं ।। विनोक्तिः ।।२१।।

**समासोक्तिः समै र्यत्र कार्य्यलिङ्ग-विशेषणैः ।**
**व्यवहार-समारोपः प्रकृतेनास्य वस्तुनः ।।**

तत्र कार्य्येण प्रस्तुते अप्रस्तुत–व्यवहार--समारोपो यथा—

गोपीगणादुत्तमवंशजाताद् वंश्येव धन्या लघुवंशजापि ।।

---

चन्द्र दीधिति की मलिनता है, उसका अभाव से चन्द्र दीधिति प्रकाशित होती है ।

**असाधु अशोभन का उदाहरण—**

हे सखि, राधा के विना कृष्ण सुखद नहीं है, न तो राधा भी कृष्ण के विना सुखदा है, उन दोनों को छोड़कर अपर रसदा नहीं है, रात्रि के विना चन्द्र शोभिता नहीं है, चन्द्र के विना रात्रि भी मनोहर नहीं होती है, दोनों को छोड़कर कुमुदिनी मुदिता हो जाती है ।

नलिनी का जन्म निरर्थक ही हुआ, जिसने चन्द्र विम्व को देखा ही नहीं,चन्द्र की उत्पत्ति भी विफला रही, उसने भी विकसित नलिनी को नहीं देखा है । यहाँ परस्पर विनोक्ति भङ्गिसे अतिशय चमत्कार होता है, विना शब्द का अप्रयोग से भी विनाभाव की विवक्षा से विनोक्ति ही होगी । इस प्रकार सहोक्ति भी सह शब्द का प्रयोग न होने पर भी सहार्थ की विवक्षा से सहोक्ति होगी ।। विनोक्ति ।।२१।।

कृष्णाधरं दुर्लभगन्धमासां पिबन्त्यलं या स्त्यनिवारितान्यैः ।।

अत्र वंश्यामधरपानकार्य्येण नायिका-व्यवहार-समारोपः ।

लिङ्गसामान्येन यथा—

विलस्य राधया कामं भजतेऽन्यां हरिः स्त्रियं ।
पद्मिनीं रमयित्वादौ सन्ध्यां मिलति भास्करः ।।

अत्र पुं स्त्रीलिङ्ग-साम्येन सूर्य्य-पद्मिन्यादीनां नायकनायिकाव्यववहारः ।

विशेषण-साम्यन्तु श्लिष्टतया साधारण्येनौपम्यगर्भत्वेन च त्रिधा, आद्या यथा—स्पृष्टां करेण रविणा प्रकटातिरागां

राधे विलोकय गलत्तिमिरावृर्तिं तां ।
ऐन्द्रीं विलोक्य हरितं कलुषान्तरोऽयं
प्राचेतसीं श्रयति हन्त ! दिशं हिमांशुः ।।

---

सादृश्य मूलक एवं उक्ति साम्य से प्राप्त विनोक्ति का वर्णन करके सम्प्रति समासोक्ति अलङ्कार का निरूपण, करते हैं, यहाँ पर भी य इस अर्थ में यत्र अव्यय का प्रयोग है, उस के साथ प्रस्तुत पदार्थ का वर्णन करते समय कार्य कर्म, लिङ्ग पुरुषोत्तम, लक्ष्मी ब्रह्मात्मक भेदक धर्म से अप्रस्तुत पदार्थका व्यवहार का आचरणारोप होता है, वह समासोक्ति है ।

कार्य का वर्णन प्राप्त होने पर अप्रस्तुत व्यवहार का समारोप का उदाहरण—उत्तम वंश से उत्पन्न गोपी गणों से लघु वंश से उत्पन्न होकर भी वंशी ही धन्या है, गोपी के लिए कृष्णाधर प्राप्ति का गन्ध भी दुर्ल्लभ है, और वंशी तो यथेष्ट उसका पान करती है, बाधक कोई नहीं है, यहाँ अधरपान कार्य्य के द्वारा वंशी में नायिका व्यवहार का आरोप हुआ है ।

**लिङ्ग सामान्य का दृष्टान्त—**

हरि श्रीराधा में यथेष्ट रमण करने के पश्चात् अन्य स्त्री में गमन करते हैं, भास्कर पद्मिनी में रमण करने के बाद सन्ध्या से मिलते हैं। यहाँ पुरुषोत्तम लिङ्ग साम्य से सूर्य पद्मिनी आदि का नायक नायिका व्यवहार होता है ।

अत्र रागावृत्ति-शब्दयोः श्लिष्टता। अत्रैव तिमिरावृतिमित्यत्र तिमिरांशुकामिति पाठे एकदेशस्य रूपणेऽपि समासोक्तिरेव, नत्वेकदेशविवर्त्ति-रूपकम्। अत्र हि तिमिरांशुकयो रूप्यरूपकभावो द्वयोरावरकत्वे स्फुट-सादृश्यतया पर-साचिव्यमनपेक्ष्यापि स्वमात्रविश्रान्त इति न समासोक्ति व्याहन्तुमीशः। यत्र तु रूप्यरूपकयोः सादृश्यमस्फुटं, तत्रैकदेशान्तररूपणं विना तदसङ्गतं स्यादित्यशाब्दमप्येकदेशरूपणमार्थमपेक्षत एवेति तत्रैकदेश-विवर्त्तिरूपकमेव। यथा—

संग्रामान्तः पुरे चक्रं स्वपादौ कुर्वतो हरेः।
संमुख्यपि हठाज्जाता रिपुसेना पराङ्मुखी॥

---

विशेषण पद का श्लेष से उभयार्थ होता है, विशेषण पदका श्लेष न होने पर उस का वाच्य प्रस्तुत अप्रस्तुत उभय पर होने पर औपम्य गर्भ होने पर विशेषण के मध्य में सादृश्य बोधक होने से समासोक्ति तीन प्रकार हैं। अपर मत में तीन प्रकार हैं, निजमत में दो प्रकार ही हैं, एक श्लेष युक्त अपर अश्लेष युक्त। प्रथम का उदाहरण—

राधे देखो! अनुराग युक्त तिमिरावरण रहित ऐन्द्रीदिक् को सूर्य के कर से युक्त देखकर हिमांशु ने दुःखित होकर पश्चिम दिक् का आश्रय ले लिया। यहाँ रागावृत्ति शब्द श्लिष्ट है; यहाँ तिमिरा वृत्ति के स्थान में तिमिराशुकां पाठ है, यहाँ एक देश रूपण से भी समासोक्ति ही है, एक देश विवर्त्ति रूपक नहीं है। यहाँ तिमिर अंशुक का रूप्य रूपक भाव है, और दोनों का आवरक स्वरूप में सादृश्य है, अपर का सान्निध्य की अपेक्षा नहीं है, अत समासोक्ति का विघटन नहीं होता है, यहाँ रूप्य रूपक का सादृश्य अस्फुट है, वहाँ एक देशान्तर रूपण के विना असङ्गत होगा, अतः शाब्दोपात्त होने पर भी एक देशरूपण के लिए अपेक्षा ही है, अत एकदेश विवर्त्तिरूपक ही होगा। उदाहरण—

श्रीहरि का चक्र चरण सग्राम एवं अन्तःपुर में गमन करने से सम्मुख होकर भी रिपुसेना पराम्मुखी हुई। यहाँ संभोगान्तः पुरका

अत्र संग्रामान्तः पुरयोः सादृश्यमस्फुटमेव ।

क्वचिच्च यत्र स्फुटसादृश्यानामपि बहूनां रूपणं शाब्दमेकदेशस्य चार्थं, तत्रैकदेशविवर्त्तिरूपकमेव । रूपक–प्रतीते र्व्यापकतया समासोक्ति प्रतीति–तिरोधापकत्वात् । नन्वस्ति संग्रामान्तःपुरयोः सुखसञ्चारतया स्फुटसादृश्यमिति चेत्; सत्यमुक्तमस्त्येव; किन्तु वाक्यार्थ -पर्य्यालोचनसापेक्षं न खलु निरपेक्षं, मुख--चन्द्रादे र्मनोहरत्वादिवत् संग्रामान्तः पुरयोः स्वतः सुखसञ्चारत्वाभावात् ।

साधारण्येन यथा—

निसर्गसौरभोद्भ्रान्त भृङ्ग-सङ्गीतशालिनी ।
राधे ! पश्योदिते सूर्य्ये स्मेराजनि सरोजिनी ।।

अत्र निसर्गादि--विशेषसाम्यात् सरोजिन्या नायिका--व्यवहारप्रतीतौ स्त्रीमात्रगामिनः स्मेरत्वधर्मस्य समारोपः कारणं, तेन विना विशेषण साम्य-

---

सादृश्य अस्फुट है । कहीं पर अनेक स्फुट सादृश्य का रूपण शाब्द एक देश का रूपण आर्थ है, वहाँ एकदेश विवर्त्ति रूपक ही है, रूपक की प्रतीति व्यापक होने से समासोक्ति लुप्त होगी, यदि ऐसा हो कि संग्राम–अन्तः पुरः में सुखसञ्चार के कारण सादृश स्फुट ही है, वेसा कहना सत्य है, किन्तु वाक्यार्थ पर्य्यालोचन सापेक्ष हैं, निरपेश नहीं है, मुख चन्द्रादि का मनोहरत्व स्वाभाविक है, किन्तु संग्राम-अन्तः पुर में गमन के समान स्वतः सुख कर नहीं है ।

साधारण का दृष्टान्त—

हे राधे ! देखो ! सुर्य उदित होने पर निसर्ग सौरभ से विभोर भृङ्ग सङ्गीत शालिनी सरोजिनी हस गई । यहाँ निसर्गादि विशेषण के साम्य से सरोजिनी में नायिका की प्रतीति होने पर स्मेर धर्म स्त्रीमात्र गामी है, उसका आरोप में भी वह कारण है, उस के विना साम्यमात्र से नायिका व्यवहार की प्रतीति नहीं हो सकती है ।।

औपम्य गर्भत्व भी तीन प्रकार हैं, उपमा रूपक सङ्कर हेतु । उपमा गर्भ का उदाहरण—राधिका, दन्तप्रभा पुष्पचिता पाणि पल्लव शालिनी केशबन्ध के द्वारा सुवेश युक्ता है, यहाँ सुवेशत्व के कारण प्रथमदन्तप्रभा पुष्प की भाँति उपमागर्भ समास है, अनन्तर

मात्रेण नायिकाव्यवहार–प्रतीतेरसम्भवात् ।

औपम्यगर्भत्वं पुन स्त्रिधा सम्भवति । उपमा रूपक-सङ्कर-गर्भत्वात् । अत्रोपमागर्भत्वे यथा—

दन्तप्रभा पुष्पचिता पाणिपल्लव-शालिनी ।
केशपाशालिवृन्देन सुवेशा भाति राधिका ॥

अत्र सुवेशत्वं--वशात् प्रथमं दन्तप्रभा पुष्पाणीवेत्युपमा-गर्भत्वेन समासः; अनन्तरञ्च दन्तप्रभा–सदृशैः पुष्पै श्चितेत्यादिसमासान्तराश्रयेण समान-विशेषण माहात्म्यात् राधिकाया लताव्यवहार-प्रतीतिः ॥

रूपक-गर्भत्वे यथा — लावण्यमधुभिः पूर्णमित्यादौ ।

सङ्कर-गर्भत्वे यथा - दन्तप्रभेत्यादौ सुवेशेत्यस्य स्थाने परीतेति पाठे अत्र उपमा-रूपक-साधकाभावात् सङ्करसमाश्रयेण समासान्तरं पूर्ववत् । समासान्तर–महिम्ना लताप्रतीतिः । एवमन्यत्र रूपके अप्रकृत-मात्मरूप-संनिवेशेन प्रकृतमाच्छादयति । इह तु स्वावस्थासमारोपेणावच्छादित–स्वरूपमेव पूर्वावस्थातो विशेषयति । अत्रएवात्र 'व्याहार-समारोपो' न तु स्वरूप-समारोप' इत्याहुः । उपमाध्वनौ श्लेषे च विशेष्यस्यापि साम्यमिह तु विशेषणमात्रस्य । अप्रस्तुत-प्रशंसायामप्रस्तुतस्य साम्यत्वमिह तु प्रस्तुतस्येति भेदः ॥ समासोक्तिः ॥२२॥

---

दन्तप्रभा सदृश पुष्पयुक्त है, इस प्रकार भिन्न समास के समान विशेषण से राधिका में लता का आरोप है। रूपक गर्भ होने से– लावण्य मधु से पूर्ण' यह उदाहरण होगा।

**सङ्कर गर्भका उदाहरण—**

दन्तप्रभा इत्यादि में सुवेश इसस्थान में परीत इस पाठ से होगा। यहाँ उपमा रूपक की सामग्री न होने से सङ्कर लेकर समासान्तर पूर्ववत होगा, समासान्तर की महिमा से लताकी प्रतीति होगी, इस प्रकार अन्यत्र रूपक में अप्रकृत आत्मरूप सन्निवेश से प्रकृत का आच्छादन होता है।

यहाँ निजावस्था का आरोपण से अनाच्छादित स्वरूप ही पूर्व अवस्था से विशेष है, अतएव यहाँ व्यवहार का समारोप है, स्वरूप

'उक्ति र्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः ।'

यथा गभीरोऽतिस्थिरमति रतिव्रीड़ितो निर्विकारी
यः कृष्ण स्ते सुवल ! सवयाः सांप्रतं पश्य सोऽयं ।
श्रीराधायाः समसवयसः श्रीमुखालोकजातं
भावैं र्लोलः स्मरविवशधीः संभ्रमाद् बंभ्रमीति ।

यथा वा — अङ्गराजसेनापते द्रोणोपहासिन् कर्णं रक्षैनं
भीमाद्दुःशासनं ।। परिकरः ।।२३।।

'शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थ-वाचनं ।'

स्वभावादेकार्थैरिति शब्दश्लेषस्य व्यवच्छेदः । वाचनमिति ध्वनेः ।

यथा— विलोल-संफुल्लकदम्ब-मालः समूल्लसन्मञ्जुल-वर्हिवर्हः ।

---

का समारोप नहीं है, उपमा ध्वनि श्लेष में विशेष कामी साम्य है, यहाँ विशेषण मात्र का है । अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत का साम्य है, यहाँ तो प्रस्तुत का साम्य है, यह भेद है । समासोक्तिः ।।२२।।

समासोक्ति अलङ्कार निरूपण में विशेषण की आकाङ्क्षा हुई, अतः विशेषण प्रयोजित परिकर नामक अलङ्कार का निरूपण करते हैं—विशेष अभिप्राय विशेषाभिप्राय से प्रयुक्त विशेषण के द्वारा उक्ति विषय विशेष का कथन–परिकर नामक अलङ्कार, है, भिन्न भिन्न अभिप्राय से अनेक विशेषण का प्रयोग से परिकर अलङ्कार होता है। यथा—गभीर अतिस्थिरमति अतिलज्जालु निर्विकारी कृष्ण, तुम्हारा सखा है, सुवल ! देखो ! वह कृष्ण श्रीराधा का मुख को देखकर कन्दर्प भाव से विभोर होकर चञ्चल हो गये हैं ।

और भी अङ्गराज सेनापति द्रोणापहास परायण कर्ण ! भीम से दुःशासन की रक्षा करो ।। परिकर—२३।।

समासोक्ति प्रयोजक विशेषण के मध्य में श्लेष का प्रसङ्ग आता है, शब्द श्लेष का निरूपण पहले ही हुआ है,–अवशिष्ट अर्थ श्लेष का लक्षण करते हैं, स्वभाव—स्वत एव प्रवृत्ति व्यापार, स्वाभाविकी अभिधाशक्ति को अवलम्वन कर होने से स्वभाव से

अशेषसन्तापहरो जनानां कृष्णश्च मेघश्च सहोज्जिहीते ॥

अत्र कदम्बादि-शब्दानां परिवृत्त्यापि न श्लेषत्व-हानिरिति अर्थश्लेष एव ॥ श्लेषः ॥२४॥

**क्वचिद् विशेषः सामान्यात् सामान्यं वा विशेषतः ।**
**कार्य्यान्निमित्तं कार्य्यञ्च हेतोरथ समात् समं ॥**
**अप्रस्तुतात्-प्रस्तुतञ्चेद् गम्यते पञ्चधा ततः ।**
**अप्रस्तुत-प्रशंसा स्यात्. . . ॥**

---

जिसका एक अर्थ है, इस प्रकार प्रतिपादक शब्द से अनेक अर्थ का प्रकाश होने से अर्थात् रूढ़ि से एक अर्थ परिभाषादि अन्य अर्थ का प्रतिपादन होने पर श्लेष अर्थालङ्कार प्रकरण में पाठ होने से अर्थ श्लेष नामक अलङ्कार होता है। अभिधा से एक मात्र अर्थ बोध होने पर वहाँ अनेकार्थ बोधन से अर्थ श्लेष अलङ्कार होता है।

अनेकार्थ वाचक शब्द से अनेकार्थ कथन से शब्द श्लेष होता है, एकार्थ शब्द से शक्ति वैचित्र्य से अनेकार्थ कथन से अर्थ श्लेष होता है, यह ही दोनों में भेदक है, वाचक शब्द से ध्वनि का ग्रहण नहीं हुआ, द्वितीय अर्थ भी अभिधा से ही प्रतिपादित होने से अर्थ श्लेष होता हैं, व्यञ्जना से प्रतिपादित होने से ध्वनि होती है।

उदाहरण—विलोलसंफुल्ल कदम्बमाल—समुल्लसत् मञ्जुल वर्हिवर्ह—अशेष जनों का सन्तापहर कृष्ण एवं मेघ एक साथ उदित है। यहाँपर कृष्ण एवं मेघ शब्द से ही उपात्त है।

यहाँ कदम्बादि शब्द का परिवर्त्तन होने पर भी श्लेष की हानि नहीं होती है. अतः अर्थ श्लेष ही है ॥ श्लेषः ॥२४॥

प्रस्तुत विशेष का अभिधान में अप्रस्तुत की प्रतीति होने पर समासोक्ति अलङ्कार होता है, किन्तु अप्रस्तुत का अभिधान से प्रस्तुत की प्रतीति होने से जो जो अलङ्कार होता है, उस को अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार कहते हैं, यह पाँच प्रकार है, सामान्य, कार्य से निमित्त कारण से कार्य, अथवा समान से ही समान का बोध होता

क्रमेण यथा—रमणी कमनीयाङ्गी रागिणी च विशेषतः ।

न त्यज्यते विदग्धेन तथ्यं कृष्ण वदामि ते ॥१॥

अत्र राधिका त्वया न त्याज्या इति विशेषप्रस्तुते सामान्यमभिहितं ॥१॥

अन्तर्लतागृहमनल्पतमं तमिस्र–

मालिङ्गच सा तव तनुभ्रमतो वसन्ती ।

दैवोदितेन्दु–किरणै विरतेऽथ तस्मिन्

मा गा 'प्रियः' त्वमिति सीदति 'कृष्ण' राधा ॥

अत्र त्वदाकार-सदृशे सा यत्र कुत्रापि रज्यतीति सामान्ये प्रस्तुते तमिस्रेति विशेषमभिहितं ॥२॥

अस्ताचलं चुम्वति भानुविम्वे गृहे गृहे गोकुल-सुन्दरीणां ।

दिव्यानुलेपाभरणाम्बराणि समाह्रियन्ते परितः सखीभिः ॥

अत्र कृष्णागमने कारणे प्रस्तुते कार्य्यमुक्तं ॥३॥

---

है, अर्थात् अप्रस्तुत वर्णन से प्रस्तुत का बोध होता तो उसे अप्रस्तुत प्रशंसा कहते हैं।

क्रमश उदाहरण—कृष्ण ! मैं यथार्थ बात कहता हूँ, विदग्ध व्यक्ति कमनीयाङ्गी विशेषकर रागिणी रमणी का त्याग नहीं करता है, यहाँ राधिका का त्याग तुम से नहीं होना चाहिए इस प्रकार विशेष प्रस्तुत में सामान्य को कहा है ॥१॥

हे कृष्ण ! लतागृह में गाढ़ अन्धकार है, उस अन्धकार को तुम्हारे तनुमानकर आलिङ्गन करके राधा कुञ्ज में रहती है, दैवात् चन्द्र किरण उदित होने से अन्धकार भी विरत हो जाता है, तब राधा "प्रिय तुम न जाओ" यह कहकर राधा क्लेश उठाती है, यहाँ तुम्हारे आकार सदृश में राधा अनुरक्त होतीहै, इस प्रकार सामान्य वर्णन का आरम्भ कर विशेष को कहा ॥२॥

भानुविम्ब अस्ताचल को गमन करने से घर घर में गोकुल–सुन्दरी गणों के दिव्यानुलेप आभरण समूह का एकत्री करण सखी गण करती रहती हैं,, यहाँ कृष्णागमण करण प्रस्तुत वर्णनीय विषय होने पर भी कार्य का वर्णन ही हुआ ॥३॥

मुषित्वा मन्मनोरत्नमुषित्वा मद्‌गृहे निशां ।
निर्दयोसौ नन्दसूनु र्न जाने स क्व निह्नुतः ।।

अत्र दुःखितासि किमितीति कार्य्ये प्रस्तुते कारणमुक्त ।

यथा वा —आनीतं घृत-पायसान्नमनया कृष्णाय किञ्चित्त्वया
तस्य तस्य मया च शीघ्रमनयो र्नाम्ना शुक स्वन्यतां ।
इत्थं प्रातरनूद्य नित्यमपि तां राधां मुहुः शारिका
वृन्दारण्यनिवासिनी मधुपुर-क्ष्मानाथ तोतुद्यते ।।

अत्र राधिका त्वद्‌विरहेण दुःखिन्यपि संप्रति अतिदुःखितेति कार्य्ये प्रस्तुते शारिकोक्तिरूपं कारणमुक्तं ।।४।।

तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने द्विधा । श्लेष-मूला सादृश्यमूला च ।

श्लेषमूलापि समासोक्तिवद् विशेषणमात्रा श्लेषवद्‌विशेष्यापीति द्विधा । क्रमेण यथा —

स्वसौरभामोदित-दिग्‌वितानां कौमल्य-सौन्दर्य्य-मरन्दपूर्णां ।
पङ्किजिनीं त्वां सखि चञ्चरीको हित्वा कथं धावति केतकीं तां ?

---

मेरे घर में नन्दनन्दन रात में रहकर मेरामन का अपहरण कर मैं नहीं जानती हूँ वह निर्दयी कहाँ छिपगया, यहाँ तुम दुःखी हो रही हो ? इस प्रकार कहने के लिए कारण को ही कहा ।

यथा वा— मैंने कृष्ण के लिए घृतपायसान्न लाई, शुक ! तुम नाम सत्वर सूचित करो, इस प्रकार शारिका प्रातः काल में प्रति दिन राधा को अनुवाद कर सुनाती रहती है, हे मथुरेन्द्र ! वृन्दाबन निवासिनी राधिका विरह से इस प्रकार दुःखी है । यहाँ तुम्हारे विरह से राधिका दुःखिनी होती हुई सम्प्रति अति दुःखिता है, इस प्रकार कार्य कथन में प्रवृत्त होकर शारिकोक्ति रूप कारण को कहा ।।४।।

तुल्य का अभिधान में तुल्य का कथन से दो प्रकार है । श्लेष मूला–सादृश्य । श्लेष मूला भी समासोक्तिवद् विशेषण मात्रा श्लेष वद् विशेष्या भी होता है, यह दो प्रकार हैं । हे सखि ! स्वसौरभामोदित दिग् विताना कौमल्य सौन्दर्य्य मरन्दपूर्णा पङ्किजिनी को

अत्र विशेषणमात्र श्लेषवशादप्रस्तुतात् चञ्चरीकात् कृष्णस्य राधां हित्वान्यत्र कदाचिद् गमनदोषाद्गार-प्रतीतिः ।।५।।

महेश्वरेण शिरसा धृत्वा संमानितोऽपि सन् ।
दोषाकरः किं कौटिल्यं राधिके ! क्वापि मुञ्चति ?

अत्र सम्माननेन कृष्णः कौटिल्यं न त्यजतीति मानिनीं राधिकां प्रति सख्युक्ति दोषाकर-शब्दश्लेषेण बोध्यति ।।६।।

सादृश्यमात्रमूला यथा—

तृष्यत् पान्थजनातिथ्य-वैमुख्यं दधतोऽम्बुधेः ।
राधिके ! जल-सम्पत्ति वैफल्यायैव कल्पते ।।

अत्र स्वस्य सद्गुणरूपवैदग्ध्यादिकं कृष्णायासमर्पयतो जनस्य तत् सर्वं विफलमिति राधिकां प्रति कस्याश्चिद्दूत्या उक्ति-सादृश्या प्रतीयते ।।७।।

इयं क्वचिद् वैधर्म्येणापि भवति, यथा—

धन्या स्ताः कानने मृग्यः पतिभिः सहिताः सदा ।

---

छोड़कर चञ्चरीक क्यों केतकी में आसक्त होगा ? यहाँ विशेषण मात्र श्लेष से अप्रस्तुत चञ्चरीक से राधा को छोड़कर कृष्ण का अन्यत्र गमन दोषावह है, यह प्रतीति हुआ ।।५।।

हे राधिके ! दोषाकर का धारण महेश्वर ने मस्तक में किया है, और उनको सम्मानित भी उन्होंने किया है, तथापि क्या वह कौटिल्य को छोड़ता है ? यहाँ सम्मानन से भी कृष्ण--कौटिल्य को नहीं छोड़ता है । इस प्रकार की उक्ति सखि ने मानिनी राधा के पास की, दोषाकर शब्द में श्लेष है । चन्द्र तथा दोषपूर्ण ।।६।।

**सादृश्य मात्रमूला का दृष्टान्त—**

तृषित पान्थ जन का आतिथ्य सत्कार में विमुख अम्बुधि की जलसम्पत्ति, हे राधिके ! विफल होती है । यहाँ अपना सद्गुण रूप वैदग्ध्यादि का समर्पण यदि कृष्ण को नहीं करता है, तो उस व्यक्ति के सबकुछ विफल होते हैं, इस प्रकार कथन राधिका के प्रति राधिका की सखी की है, उक्ति की प्रतीति सादृश्य से हुई है ।।७।।

कृष्णमिन्दीवरश्यामं याः पश्यन्त्यनिवारिताः ॥

अत्र 'ता धन्या वयमधन्या' इति गोपीनां वाक्यं वैधर्म्येण प्रतीयते । वाच्यस्य सम्भवासम्भवोभयरूपतया त्रिप्रकारेयं। तत्र सम्भवे उक्तोदाहरणान्येव। असम्भवे यथा—

शाल्मलि त्वं बृहत्पुष्पा क्षुद्रपुष्पास्मि पाटला ।
सौभाग्यभाग ते भृङ्ग ? सुव्यक्तं भविताबयोः ॥

अत्र कृष्णस्य सगर्व्ववचनं प्रस्तुताध्यारोपणं विनाऽसम्भवति ॥८॥

उभयरूपत्वे यथा—

रत्नाकरे सगाम्भीर्य्ये पद्मोत्पत्ति-भुवि स्थिते ।
अस्मिन्नधीशे रे हंस व्यर्था ते मानसे गतिः ॥

अत्र हंसस्य नदीश-सेवने रत्नाकरत्वं प्रस्तुतस्याध्यारोपणं विना न हेतुः, पद्मोत्पत्तिस्थानता तु हेतुः ॥९॥

अस्याः समासोक्तिवद् व्यवहारसमारोपण-प्रापणत्वात् शब्दशक्तिमूलत्वाद्

---

यह कहींपर वैधर्म्म से भी होती है,—यथा मृगीगण धन्य हैं, वे सब कानन में पतियों के साथ इन्दीवर श्याम कृष्ण को विना रोक ठोक से सदा निहारती रहती है। यह सब धन्य हैं, हमसब अधन्य हैं, इस प्रकार गोपी का वाक्य वैधर्म्य से प्रतीत होता है, वाच्य का सम्भव असम्भव उभय रूप से तीन प्रकार हैं। सम्भव का उदाहरण उपरोक्त सब हैं। असम्भव का उदाहरण यह है, हे शाल्मलि ! तुम तो वृहत्पुष्पा हो, और मैं क्षुद्र पुष्पा हूँ, किन्तु हम दोनों का सौभाग्य का परिचय सुस्पष्ट है। यहाँ कृष्ण का सगर्ववचन, प्रस्तुत अध्यारोपण के विना असम्मव है ॥८॥

उभय रूप का उदाहरण—गम्भीर पद्माकर नदीश रत्नाकर रहते हुए हंस ! तुम्हारा मानस के ओर जाना व्यर्थ है, यहाँ हंसका नदीश सेवन में रत्नाकरत्व का अध्यारोपण के विना हेतु नहीं है, पद्मोत्पत्ति स्थानता ही हेतु है ॥९॥

इसका भी समासोक्ति की भाँति व्यवहार समारोपण प्रापण से शब्द शक्ति मूल से वस्तु ध्वनि का भेद है। उपमाध्वनि में प्रस्तुत

वस्तुध्वनेः भेदः। उपमा-ध्वनौ अप्रस्तुतस्य व्यङ्गत्वं । एवं समासोक्तौ श्लेषेऽपि द्वयोरपि वाच्यत्वं ॥ अप्रस्तुत-प्रशंसा ॥२५॥

उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः ।
निन्दा-स्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुति-निन्दयोः ॥

निन्दया स्तुते र्गम्यत्वे व्याजेन स्तुतिरिति व्युत्पत्त्या व्याजस्तुतिः ।

---

का व्यङ्ग है, इस प्रकार समासोक्ति में श्लेष होने से दोनों का भी वाच्यत्व है, अप्रस्तुत प्रशंसा ॥२५॥

### * अथ अप्रस्तुत प्रशंसा भेदसङ्कलनम् *

| | |
|---|---|
| अप्रस्तुतात् सामान्यात् प्रस्तुत विशेष प्रतीतौ ········· | १ |
| अप्रस्तुताद्विशेषात् प्रस्तुत सामान्य प्रतीतौ··············· | १ |
| अप्रस्तुतात् कार्यात् प्रस्तुत कारण प्रतीतौ··············· | १ |
| उक्तेः सम्भवरूपत्वे— | |
| अप्रस्तुतात् कारणात् प्रस्तुतकार्यप्रतीतौ·········· | १ |
| सादृश्यमात्रमूलत्वे अप्रस्तुतात् समात् प्रस्तुतसमप्रतीतौ···· | १ |
| विशेषमात्रश्लेषे अप्रस्तुतात् समात् प्रस्तुतसमप्रतीतौ··· | १ |
| विशेष्य विशेषणोभयश्लेष अप्रस्तुतात् समात् प्रस्तुतसमप्रतीतौ | १ |
| | ७ |
| उक्तेरसम्भवरूपत्वे–उक्तविधाएवसप्त··········· | ७ |
| उक्तेः सम्भवासम्भवोभय रूपत्वे—उक्तविधाएवसप्त········· | ७ |
| | २१ |

वैधर्म्ये भेदस्तु क्वचिदेव सम्भवतीति साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां सर्व द्वैविध्यं नगणितम् । एवञ्च कारिकायां पञ्चधा इति पञ्चविधत्वोक्तिः प्रधानाभिप्रायेणेतिबोध्यम्

——***——

अप्रस्तुत का कथन से प्रस्तुत विषय का बोध होता है, यह अप्रस्तुत प्रशंसा है, इस प्रकार अन्य कथन से अन्य का बोध होने से और कोई अलङ्कार होगा या नहीं इस के उत्तर में कहते हैं—उक्ता

स्तुत्या निन्दाया गम्यत्वे तु व्याजरूपा स्तुतिः। क्रमेण यथा—

न दोषलेशोऽपि गुणै र्लसन्त्यां श्रीराधिकायामिति गी र्न सत्या।
केशेषु कौटिल्यमुरोजकुम्भे काठिन्यमक्ष्णोश्च यदस्ति लौल्यं॥
पद्मे यूयं पुण्यवत्यः शरज्जयोत्स्नासु याः स्फुटं।
निष्प्रत्यूहं हर्म्यपृष्ठे लभध्वे स्वापजं सुखं॥

व्याजस्तुतिः॥२६॥

## 'पर्य्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते।'

यथा—राधे! चकोरावलि-चातकाली-सरोजिनीनां हृदि योऽतिगर्व्वः।
सदैकतानत्वभवः स लुप्तः कृष्णैकतानत्वमवेक्ष्य तेऽभूत्॥

अत्र राधया ता स्तद्गुणातिशयेन जिता इति कारणं व्यङ्ग्यमपि भङ्ग्या गर्व्वेणोपकार्य्यद्वारेणाभिहितं।

यथा वा—स्पृष्टा स्ता नन्दने शच्याः केशसम्भोग-लालिताः।
सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्य्यो यस्य सैनिकैः॥

---

व्याजस्तुतिः पुनः" निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुति-निन्दयोः" शब्द से ही यदि निन्दास्तुति का बोध स्तुतिनिन्दा का होता है, तो वह व्याजस्तुति अलङ्कार होगा। स्पष्ट निन्दा से प्रशंसा का बोध होने से एवं सुस्पष्ट प्रशंसा से निन्दा का बोध होने से व्याज स्तुति अलङ्कार होता है, व्याज से छल से निन्दाछल से स्तुति वास्तविकी प्रशंसा है, व्याज रूपा छल रूपा अवास्तविकी है।

निन्दा प्रशंसा में पर्य्यवसित होने का उदाहरण—गुणपूर्ण-राधिका में दोषलेश, नहीं है, ऐसा कहना ठिक नहीं है, उनके केश में कुटिलता है उरोजकुम्भ में काठिन्य है, और नयनों में लोलता है।

पद्मे! आप सब पुण्यवती हो, कारण शरत् ज्योत्स्ना में प्रासाद के उपर विनारोक टोक से आप सब निद्रा सुख को प्राप्त करती हो।

व्याजस्तुति॥२६॥

जब भङ्गिविशेष पूर्वक कथन से प्रतीयमान वस्तु का बोध अभिधा की भाँति स्पष्ट रूप से होता है, तब वह पर्य्यायोक्त नामक

अत्र 'हयग्रीवेण स्वर्गो जित' इति प्रस्तुतमेव गम्यं कारणरूपं वैचित्र्य विशेष-प्रतिपत्तये सैन्यस्य पारिजातमञ्जरी-सावज्ञ-स्पर्श-रूपकार्य्यद्वारेणाभिहितं। नचेयं कार्य्यात् कारण-प्रतीतिरूपा अप्रस्तुत-प्रशंसा। तत्र कार्य्यस्याप्रस्तुतत्वात्, इह तु वर्णनीयस्य गुणातिशयबोधकत्वेन कार्य्यमपि कारणवत् प्रस्तुतं। पर्य्यायोक्त ॥२७॥

**सामान्यं वा विशेषेण विशेष स्तेन वा यदि।**
**कार्य्यञ्च कारणेनेदं कार्य्येण च समर्थ्यते।**
**साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः॥**

---

अलङ्कार होता है, अतएव विशेषानुसन्धान से प्रतीयमान अर्थ का उक्ति वैचित्र्य से सुस्पष्ट कथन को पर्य्यायोक्त कहते हैं। पर्य्यायेण प्रकार विशेषेणोक्तमुक्तिरिति पर्य्यायोक्तमिति व्युत्पत्तिः। तथा च विश्वः पर्य्यायस्तु प्रकारे स्यान्निर्माणे अवसरे क्रमे॥ उदाहरण—

हे राधे! चकोरावलि चातकाली-सरोजिनीयों का जो अतिगर्व है, क्या वे सब सदा एकतानता का प्रतीक हैं? किन्तु तुम्हारी कृष्णैकतानता को देखकर वह लुप्त हो गयी है।

यहाँ राधा ने कृष्णैकतानता गुण से उन सबों को जीतलिया है, कारण, व्यञ्जनावृत्ति लभ्य होने पर भी भङ्गि से अर्थात् गर्व को खर्व किया है, इस प्रकार कथन से व्यक्त हुआ है।

नन्दन काननस्थित पारिजातमञ्जरी इन्द्राणी के केश समूहों से लालित है, किन्तु हयग्रीव की सैनिकों ने उस का अवज्ञा से स्पर्श किया है। यहाँ हयग्रीव ने स्वर्ग को जीता है, यह व्यङ्ग्य होने पर भी कारण रूप वैचित्र्य विशेष बोध के लिए सैन्य का पारिजात मञ्जरी का स्पर्श रूप कार्य के द्वारा कहा गया है, यह कार्य से कारण प्रतीति रूपा अप्रस्तुत प्रशंसा नहीं है, वहाँ कार्य प्रकरण प्राप्त नहीं है, यहाँ तो वर्णनीय का गुणातिशय बोधक होने से कार्य भी कारण वत् प्रस्तुत हुआ है। पर्य्यायोक्तम्॥२७॥

कार्य कारणभाव प्रतीति स्थल में पर्य्यायोक्ति के समान कार्य

तत्र साधर्म्यात् सामान्यं विशेषेण यथा—

त्वां वच्मि सत्यं ललिते ! अङ्गनानां दुःखं हि नान्यत् प्रिय-विप्रयोगात् ।
सा पामरी हन्त-सुहृद् वियोगात् प्रागेव यस्या न समाप्तमायुः ॥

अत्र द्वितीयार्द्धग तेन विशेषार्थेन प्रथमार्थ-गतः सामान्योऽर्थः सोप-पत्तिकः क्रियते ।

सैवोत्तमा हन्त ! सुहृद्वियोगात्
प्रागेव यस्या हि समाप्तमायुः' इति पाठे वैधर्म्येप्ययं ।

साधर्म्याद् विशेषः सामान्येन यथा—

श्रीकृष्ण-नेत्रकुतुकोचित-वेशमङ्ग
राधा ऽवलोक्य मुकुरे प्रतिविम्वितं स्वं ।

---

कारण भाव से अर्थान्तर न्यास अलङ्कार भी होता है, अत उसका निरूपण करते हैं। उक्तार्थ का समर्थन ही अर्थान्तर न्यास है, उक्तार्थ का समर्थन सम्भवपर अर्थ से होता है, और असम्भवतादि का निरसन करके दृढ़ करने से होता है। उस को विभाग के द्वारा कहते हैं।

विशेष से सामान्य का, सामान्य से विशेष का, कारण से कार्य का, कार्य्य से कारण का समर्थन इस में होता है; यह साधर्म्य से तथा तदितर धर्म से होकर अर्थान्तर न्यास आठ प्रकार होगा।

समर्थ्यसमर्थकमयवृत्ति धर्मवत्व को सामान्य धर्म कहते हैं, समर्थ्य समर्थक का इतर वृत्ति धर्मवत्व को विशेष धर्म कहते हैं, किम्वा, व्यापकत्व सामान्य धर्म व्याप्यत्व विशेष धर्म है, समर्थ्य समर्थ का विवक्षित समान धर्मवत्व साधर्म्य है, उस से विपरीत धर्मवत्व वैधर्म्य है, कार्य कारण का उत्पत्त्युत्पादन योग्यत्व साधर्म्य है, उस से विपरीत वैधर्म्य है। उन दोनों का समर्थन प्रत्येक बार ही होगा, इस प्रकार यदि साधर्म्य से वैधर्म्य से विशेष से सामान्य का समर्थन होता है, कारण से कार्य का कार्य से कारण का समर्थन होता है, तो उन चारों समर्थनों के साधर्म्य से तथा चारों वैधर्म्य से मिलकर आठ प्रकार अर्थान्तर न्यास होगा।

कृष्णोपसत्ति-तरलास वराङ्गनानां
कान्तावलोकनफलो हि विशेष-वेशः ॥

वैधर्म्याद् यथा—

जगतां पावनं तृष्णाहरं तापादिनुत्ययः ।
नीचमार्गं सदा याति महतां तन्न साम्प्रतं ॥

साधर्म्यात् कार्य्यं कारणेन यथा—

प्रबलशिशिर-भीत्या भानु रौष्णां स्ववित्तं
स्तनयुगगिरिदुर्गे वल्लवीनां न्यधत्त ।
त्वरितमिदममूभिः कृष्णभोगाय कल्प्तं
प्रभवति नहि गाढ़प्रेम्नि धर्म्माद्यपेक्षा ॥

अत्र प्रेम्नो धर्माद्यनपेक्षणकारणेन वल्लवीनां परधनरूपौष्ण्यसमर्पणरूपं कार्य्यं सोपपत्तिकं क्रियते ।

---

साधर्म्य से–विशेष से सामान्य का समर्थन यथा—राधा कहती है—हे ललिते ! मैं तुम्हें सत्य कहती हूँ, अङ्गना का प्रिय विरह को छोड़कर अपर कोई दुःख नहीं है, हाय ! वह ही पामरी है, सुहृत् विप्रयोग के पहले जिस की आयु समाप्ति नहीं होतीहै, यहाँ द्वितीयार्द्ध गत विशेषार्थ के द्वारा प्रथमार्द्धगत सामान्यार्थ का समर्थन सकारण किया गया है ।

हाय ! वह ही उत्तमा है, सुहृद् वियोग के पहले ही जिस की आयु समाप्त हो गई । इस पाठ से वैधर्म्य से समर्थ है । साधर्म्य से सामान्य से विशेष का समर्थन यथा--राधा, मुकुर में प्रतिविम्बित श्रीकृष्ण कुतुकोचित निजाङ्ग वेश को देखकर श्रीकृष्ण सङ्ग प्राप्ति के लिए चञ्चला हो उठी, कारण·कान्तावलोकन फल ही वराङ्गना का विशेष वेश होता है ।

वैधर्म्य का उदाहरण—अभिमानी व्यक्ति की पवित्रता वितृष्णा तपस्या स्तुति शुभविधि सर्वदा संसार के लिए होती है, महान् व्यक्ति का वैसा नहीं होता है ।

साधर्म्य से कारण के द्वारा कार्य का समर्थन—प्रबलशीत के

वैधर्म्याद् यथा—

श्रीकृष्ण-रतिहीनस्य विफलं मम जीवनं ।।
सफलं जीवनं तेषां येषां कृष्णे दृढ़ा रतिः ।।

साधर्म्यात् कारणं कार्य्येण यथा—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदं ।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ।।

अत्र सम्पद्वरणं कार्य्यं सहसा विधानाभावस्य विमृश्यकारित्व-रूप कारणस्य समर्थकं ।

वैधर्म्याद् यथा—सहसेत्यत्रैव सहसा विधानाभावस्यापत्पदत्वं विरुद्धं कार्य्यं समर्थकं ।। अर्थान्तरन्यासः ।।२८।।

---

भय से भानु ने अपनी उष्णता को वल्लवीयों के वक्षोज गिरि दुर्ग में छिपा कर रखा है।

वित्त दुसरे का होने परभी उन्होंने अतिसत्वर उस को कृष्ण भोगार्थ लगा दिया; कारण प्रगाढ़ प्रेम के आगे धर्मादि विधिबन्धन प्रभु नहीं होते हैं।

यहाँ प्रेम, धर्मादि की अपेक्षा नहीं करता है, गोपाङ्गनागण उस कारण से ही परधन रूप उष्णतासमर्पण रूप कार्य करने में समर्थ हैं।

वैधर्म्य का दृष्टान्त—

श्रीकृष्ण प्रीति विहीन मेरा जीवन विफल है, उन सब का जीवन सफल है, जिनकी दृढ़ा प्रीति श्रीकृष्ण में है !

साधर्म्य से कार्यसे कारण का समर्थन-सहसा कोई कार्य्य न करे, अविवेक परमविपत्ति का स्थान है, सोच विचार कर कार्य करने बाले को गुण लुब्धा सम्पद स्वयं ही वरण करती है। यहाँ सम्पद् वरण रूप कार्य,–सहसा विधानाभावरूप विमृश्यकारित्व रूप कारण का समर्थक है। विधर्म से भी यह उदाहरण है, सहसा विधाना भावका समर्थक आपत् पदत्व विरुद्ध कार्य है ।।

अर्थान्तरन्यास ।।२८।।

**'हेतो र्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गो निगद्यते ।'**

**तत्र वाक्यार्थता यथा—**

**मुखनयननिभे ये पङ्कजेन्दीवरे ते**
**सलिलममुनिविष्टे यस्तु मध्योपमस्ते ।**
**मृगपतिरिह राधे ! काननेऽसौ प्रविष्ट**
**स्तव तनुसदृशेक्षा–भाग्यमप्यस्ति नो मे ।।**

**अत्र प्रथमपदत्रयवाक्यद्वयं चतुर्थपादे हेतुः ।**

**पदार्थता यथा—अनन्तगुण-सौन्दर्य्यकलावैदग्ध्य-राजिते ।**
**राधिकाया मनो मग्नं गोपेशतनये सखि ।।**

**अत्र द्वितीयार्धे प्रथमार्धमेकपदहेतुः ।**

---

कारण घटित काव्य लिङ्गालङ्कार का लक्षण करते हैं–अर्थ विशेष के प्रति यदि वाक्यार्थ अथवा पदार्थ कारण होता, है तो उसे काव्यलिङ्गालङ्कार कहते हैं, अतएव यह दो प्रकार हैं । काव्य का लिङ्ग अर्थात् वैचित्र्य विशेष भूत चिह्न है ।

**उदाहरण**—हे राधे ! तुम्हारे मुख एवं नयन का सादृश्य पङ्कज एवं इन्दीवर में है, किन्तु वे दोनों जल में प्रविष्ट हो चुके है । एक चन्द्र ही उपमा स्थल रह गया है, किन्तु वह भी कानन में प्रविष्ट हो चुका है, अर्थात् पृथिवी की छाया से ढक गया है, अतश्चन्द्र को देखकर भी तुम्हारे मुखदर्शन सुख नहीं होता हैं, अतः तुम्हारे तनु के सादृश को देखकर भी मैं विरह दुःख को दूर करूँ इस की सम्भावना भी नहीं है ।

यहाँ "स्तव तनुसदृशेक्षा भाग्यमप्यस्ति न मे" इस चतुर्थ पादात्मक वाक्यार्थ के प्रति पादत्रयात्मक वाक्यद्वयार्थ कारण है, प्रथम वाक्यद्वयार्थ के विना चतुर्थ वाक्यार्थ सार्थक नहीं हो सकता है । यह उक्ति कृष्ण की है, पदार्थ का उदाहरण—सखी कहती है, हे सखि ! अनन्तगुण सौन्दर्य्य कला वैदग्ध्य राजित गोपेशतनय में राधिका का मन मग्न हो गया है, यहाँ द्वितीयार्धार्थ मनोमग्न के

अनेकपदं यथा—निखिलगुणगभीरे क्ष्माधरोद्धार-धीरे
सकलसुखदशीले क्षालिताशेष-पीले।
सुभगनवकिशोरे विश्वचित्ताक्षिचौरे
मुरभिदि युवतीनां हृन्निमग्नं सतीनां ॥

इह केचिद् वाक्यार्थगतेन काव्यलिङ्गेनैव गतार्थतया कार्य्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासं नाद्रियन्ते। तदयुक्तं—तत्राप्यत्र हेतु स्त्रिधा भवति, ज्ञापको निष्पादकः समर्थकश्चेति। तत्र ज्ञापकोऽनुमानस्य विषयः। निष्पादकः काव्यलिङ्गस्य। समर्थकोऽर्थान्तरन्यासस्येति पृथगेव कार्य्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासः काव्यलिङ्गात्। तथाहि—मुख--नयनेत्यादौ चतुर्थपादवाक्यमन्यथा साकाङ्क्षतयाऽसमञ्जसमेव स्यादिति पादत्रयं निष्पादकत्वेनापेक्ष्यते।

---

प्रति प्रथमार्ध-अनन्तगुण सौन्दर्य्य कला वैदग्ध्य राजित पद हेतु है, यह समासवद्ध होने से एक पद है। अनेक पद का उदाहरण-निखिल गुण गभीर गिरिधरधीर, सकल सुखदशील अशेष बाधा निवारक सुभगनव किशोर विश्वचित्ताक्ष चौर कृष्ण में सतीयुवतीयों का हृदय निमग्न है. मम्मटभट्टादि के मत को निरास करने के लिए कहते हैं, अर्थालङ्कार में वे सब केवल सामान्य विशेष भाव से दो प्रकार ही अर्थान्तर न्यास मानते हैं, वाक्यार्थ के द्वारा काव्यलिङ्ग निष्पन्न होने से कार्य कारण भाव से अर्थान्तर न्यास को मानना ठीक नहीं है, उस के उत्तर में कहते हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं है, कारण हेतु तीन प्रकार हैं, ज्ञापक, निष्पादक, समर्थक, ज्ञापक— अनुमान का विषय होता है, निष्पादक, काव्य लिङ्गका, और समर्थक,–अर्थान्तर न्यास का है।

अत: काव्य लिङ्ग से अर्थान्तर न्यास पृथक् अलङ्कारहै। मुख नयन इत्यादि में चतुर्थ पाद वाक्य में हेतु की अपेक्षा है। वह अन्वय प्राप्त न होकर असंलग्न हो जायेगा, अत: पूर्वोक्त पादत्रय वाक्यार्थ-स्वसम्पादक रूप में है, "सहसा विदधीत न क्रियां" इस स्थल में मैं कहता हूँ। परापकार निरत दुर्जन के साथ कभी भी सङ्गति न करे, इस कथन की भाँति उपदेश मात्र ही होगा, और निराकाङ्क्ष भी

सहसेत्यादौ तु 'परापकारनिरतै दुर्जनैः सह सङ्गतिः। वदामि भवत स्तत्त्वं न विधेया कदाचन' इत्यादिवदुपदेशमात्रेणापि निराकाङ्क्षतयाऽर्थतोऽपि गतार्थत्वं सहसा विधानाभावं सम्पद्वरणं सोपपत्तिकमेव करोतीति पृथगेव कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासः काव्यलिङ्गात्।

'राधिकाया मनो मग्नं गोपेश तनये सखि !
अनन्तगुणसौन्दर्य्य — कलादि— राजितो हि सः ॥'

अत्र 'हि' शब्दोपादानेन गुणादिराजितत्वादितिवत् हेतुत्वस्य स्फुटतया नायमलङ्कारः। वैचित्र्यस्यैवालङ्कारत्वात् ॥ काव्यलिङ्गः ॥२६॥

**'अनुमानन्तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्।'**

यथा—दृशौ चकोर्य्यौ सखि राधिकाया कृष्णाननेन्दोः स्मित--कोमुदीनां।
पामान्मुखश्चाम्वुरुहं यदास्मिन् कृष्णाक्षि भृङ्गौ पततः सतृष्णौ ॥

---

होगा, किन्तु यहाँ सहसा विधानाभाव ही सम्पत्तिमान् बनाता है, इस अर्थ को देखकर निर्णय होता है कि अर्थान्तर न्यास, काव्यलिङ्ग से पृथक् अलङ्कार है।

हे सखि ! सखी बोली, गोपेशतनय में राधिका का मन लगही गया है, कारण वह अनन्त गुण सौन्दर्य कलादि रञ्जित ही है, यहाँ हि शब्द से गुणादि रञ्जित हेतु ही हो गया, हेतु प्रकाश हो जाने से यह अलङ्कार नहीं हुआ, वैचित्र्य ही अलङ्कार का मूल है। काव्य लिङ्गः ॥२६॥

वैचित्री विशेष से हेतुज्ञानजन्य साध्य का ज्ञान होनेपर अनुमान अलङ्कार होता है, काव्य लिङ्ग के साथ भेद दिखाने के लिए लक्षण में 'तु' शब्द दिया गया है। काव्य लिङ्ग में हेतु निष्पादक होता है, यहाँ ज्ञापक रूप हेतु होता है वैचित्री विशेष को वैचित्री कहते हैं। व्याप्ति विशिष्ट हेतु ज्ञान से अनुमिति विषय साध्य का ज्ञान पक्ष वृत्तित्व बोध होने से अनुमान नामक अलङ्कार होता है।

उदाहरण—सखी बोली, सखि ! श्रीकृष्ण मुख चन्द्र की स्मित कौमुदी को पान हेतु राधिका का नेत्र चकोरी है। कारण श्रीराधिका का मुखाम्वरुह है, कारण उस में सतृष्ण कृष्णाक्षि भृङ्ग गिरते रहते

अत्र रूपक-वशाद् विच्छित्तिः ।

यथा वा—यत्र पतति गोपीनां दृष्टि र्निशिताः पतन्ति तत्र शराः ।

तच्चापरोपितशरो धावत्यस्यां पुरः स्मरो मन्ये ॥

अत्र कविप्रौढ़ौक्ति-वशाद् विच्छित्तिः । उत्प्रेक्षायामनिश्चिततया प्रतीतिरिह तु निश्चिततयेत्यनयो र्भेदः ॥ अनुमानं ॥३०॥

'अभेदेनाभिधाहेतु र्हेतो र्हेतुमता सह ।'

यथा—तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्य-सम्पदो हासः ।

धरणितलस्याभरणं गिरिधर-मनसो वशीकरणं ॥

अत्र वशीकरणहेतुः श्रीराधिका वशीकरणत्वेनोक्ता, विलासहासयोस्त्वध्य-वसायमूलोऽयमलङ्कारः ।।हेतुः ॥३१॥

---

हैं । यहाँ रूपक होने से विच्छित्ति हुई है । यथा वा—गोपीयों की दृष्टि जहाँ गिरती है, वहाँ निशित शर ही गिरता है । मैं मानता हूँ इसीलिए कन्दर्प, काम्र्मुक में वाण चढ़ाकर इन सव के और दौड़ते रहते हैं । यहाँ कवि प्रौढ़ोक्ति से ही वाक्य में वैचित्री हुई है, अवलाओं के आगे आगे कन्दर्प दौड़ता रहना है, उनकी दृष्टि पतन स्थल में कन्दर्प का शरपतन होता है, इस प्रकार ज्ञान से अनुमान अलङ्कार हुआ है । यहाँ अग्रदेश सामान्य ही पक्ष है, अत साध्य साधन का व्यभिचार नहीं हुआ है ।

उत्प्रेक्षा के साथ इसका भेद क्या है ? उत्प्रेक्षा में सम्भावना है, वह संशय विशेष रूप होता है, अनुमिति निश्चय रूपा है, इस से उत्प्रेक्षा के साथ अनुमान की भिन्नता है । अनुमान ॥३०॥

हेतुमत् कार्य के साथ-हेतु कारण का अभेद कथन, अभिन्न रूपसे कथन को हेतु नामक अलङ्कार कहते हैं । उदाहरण–तारुण्य यौवन का विलास प्रकाश यौवन का अतिशय प्रकाशस्थान समधिक लावण्य सम्पद का हास विकाश अतिशय विकास स्थान, धरणितल का आभरण अतिशय अलङ्कार रूपा राधा श्रीकृष्ण का अतिशय वशी करण हेतु है, यहाँ वशीकरण हेतु राधिका को वशीकरण रूपसे कहा गया है, विलास हास का अध्यवसायमूलक यह अलङ्कार है । हेतु ।३१

'अनुकूलं प्रातिकूल्यमनुकूलविधायि चेत् ।'

यथा—प्राणापहारं हरिरप्रियद्विषां मखापहारञ्च बलाच्छचीपतेः ।
स्थानापहारं फणिनश्च कारयन्तेनैव तेषां विहितं सुमङ्गलं ।।

अस्य च विच्छित्ति-विशेषस्य सर्वालङ्कार-विलक्षणत्वेन स्फुरणात् पृथगलङ्कारत्वमेव न्याय्यं अनुकूलं ।।३२।।

'वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेष-प्रतिपत्तये ।
निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा ।।

तत्र वक्ष्यमाणस्य क्वचित् सर्व्वस्यापि सामान्यतः सूचितस्य निषेधः क्वचिदंशान्तरे निषेध इति द्वौ भेदौ । उक्तविषये च क्वचिद् वस्तुस्वरूपस्य

---

प्राकरणिक हेतु घटित अनुकूल नामक अलङ्कार का निरूपण करते हैं, प्रतिकूलताचरण भी यदि अनुकूलता में पर्यवसित हो, और यह व्यञ्जनावृत्ति लभ्य हो, तो यह अनुकूल नामक अलङ्कार होता है ।

उदाहरण—श्रीहरि ने विद्वेषीजनों का प्राण नाश किया, बल पूर्वक इन्द्रका यज्ञ भङ्ग किया, कालिय को निर्वासित किया, किन्तु उससे ही उनसबों का सुमङ्गल विधान हुआ है । अहिताचरण से हितोत्पत्ति की प्रतीति ही अनुकूल अलङ्कार है । विच्छित्ति बिशेष से सर्व अलङ्कार विलक्षण होने से पृथक् अलङ्कार मध्य में गणन होना इसका उचित है । अनुकूल ।।३२।।

कथनीय विषय के सम्बन्ध में अधिक बोध कराने के लिए जो निषेधाभास अपस्थित होता है, वस्तुत निषेध नहीं किन्तु निषेध के समान प्रतीति होती है, उसको आक्षेप नामक अलङ्कार कहते हैं । कथनारम्भ का असमाप्त अवस्था में रोकना आक्षेप है । यह अलङ्कार प्रथमत दो प्रकार हैं । वक्ष्यमाण विषयगत, उक्त विषयगत रूप से दो प्रकार है । कहींपर वक्ष्यमाण सब का सामान्य रूप से निषेध, कहींपर अंशान्तर में निषेध है, यह दो भेद हैं, उक्त विषय में कहीं वस्तु स्वरूपका निषेध है, कहीं पर वस्तु कथन का निषेध है,

निषेधः; क्वचिद्वस्तुकथनस्येति द्वौ भेदौ। एवमाक्षेपस्य चत्वारो भेदाः। क्रमेण यथा—कृष्ण तिष्ठ क्षणं वच्मि राधाया विरहाधिजां।

तद्दशामथवा गच्छ नाख्यामि निर्दये त्वयि ॥

अत्र राधाया विरहस्य सामान्यतः सूचितस्य वक्ष्यमाणविशेषे निषेधः।

सा माधव त्वद्विरहेण दूना रसाल–शाखां मुकुलाकुलाग्रां।

दृष्ट्वालिमाला–मिलितामिदानीमाः किं त्वदग्रे हृतजल्पितैः स्तैः ॥

अत्रान्तिमदशां प्राप्स्यतीत्यंशो नोक्तः।

माधव नाहं दूती प्रियोऽसि तस्या स्त्वमित्यपि न वेद्मि।

सा म्रियते तव कुयश स्तदिदं धर्माक्षरं वच्मि ॥

अत्र दूतीत्वस्योक्तस्य वस्तुनो निषेधः।

हरे गुणानां गणनातिगानां वाणीवचः सम्पदगोचराणां।

न वर्णनीयो महिमेति यूयं जानीथ तत्तत्कथनैरलं नः ॥

---

इस प्रकार दो भेद हैं, इस से आक्षेप का भेद चार प्रकार होते हैं। क्रमेश उदाहरण–हे कृष्ण ! क्षणभर रुको, राधा की विरह पीड़ा को कहूँगी, अथवा तुम्हारे वैसी दशा हो जाये, तुम निर्दय हो, तुम से नहीं कहूँगी, यहाँ राधा का विरह को सामान्य रूप से सूचित करके वक्ष्यमाण विशेष का निषेध हुआ है।

माधव ! राधा तुम्हारे विरह से दुःखी हैं, और रसालशाखा के अग्रभाग में स्थित भ्रमर युक्त मुकुल को देखकर उसने जो कही, उसको तुम्हारे पास क्या कहूँ। यहाँपर अन्तिम दशा में वह है, इस अंश को नहीं कहा है।

हे माधव ! मैं दूती नहीं हूँ, तुमतो उनका प्रिय हो, यह भी मैं नहीं जानती हूँ, वह मर जायेगी, यह तुम्हारा कुयश है, इसलिए में धर्म की बात कहती हूँ। यहाँ दूतीत्वका कथन का निषेध है।

श्रीहरि के गुण अगणित है, और सरस्वती वाणी का अगोचर है, अतः अवर्णनीय महिमा है केवल उन उन कथन से ही जानना यथेष्ट हैं, यहाँ उक्त कथन का ही निषेध है। यहाँपर प्रथम उदाहरण में उनका अवश्यम्भावि मरण सूचितहै,द्वितीयमें कहने में असमर्थ हूँ,

अत्र कथनस्योक्तस्यैव निषेधः। अत्र प्रथमोदाहरणे तस्या अवश्यम्भावि मरणमिति शेषः प्रतीयते। द्वितीयेऽशक्यवक्तव्यत्वादि, तृतीये दूतीत्वे ऽयथावादित्वं; चतुर्थे महिम्नामलौकिकत्वातिशयादि। न चायं विहित-निषेधः। अत्र निषेधस्याभासत्वात् ॥ आक्षेपः ॥३३॥

## 'अनिष्टस्य तथार्थस्य विध्याभासः परो मतः।'

तथेति पूर्ववद् विशेष–प्रतिपत्तये। यथा—

गच्छ गच्छसि चेत् कृष्ण ! पन्थानः सन्तु ते शुभाः।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद् यत्र गतो भवान् ॥

अत्रानिष्टत्वाद् गमनस्य विधिः प्रस्थानरूपो निषेधे पर्य्यवस्यति। विशेषश्च गमनस्यात्यन्तपरिहार्य्यत्वरूपः प्रतीयते ॥ विध्याभासः ॥३४॥

---

तृतीय में दूतीत्व में अयथावादित्व है, चतुर्थ में महिम्ना के द्वारा अलौकिकत्व अतिशयत्वादि है, यह विहित निषेध नहीं हैं, निषेधका आभास हैं। आक्षेप ॥३३॥

अन्यविध आक्षेप अलङ्कार का वर्णन करते हैं अनिष्ट विषय का विशेस ज्ञान के लिए विध्याभास है, वस्तुतविधि नहीं है, किन्तु विधिवत् प्रकाश है, पर कथन से अन्यविध आक्षेप है, इसपक्ष में आक्षेप–अभिप्रेत निषेधार्थ ग्रहण करना है। अथवा निषिद्ध विषय में विधिका प्रवर्त्तन ही आक्षेप है। तथा शब्द से पूर्ववत् विशेष ज्ञान के लिए है। उदाहरण हे कृष्ण ! यदि तुम जाते हो जाओ, तुम्हारे गमन पथ मङ्गलमय हो, किन्तु आप जहाँ जा रहे हो वहाँ पर मेरा जन्म हो। अर्थात् तुम चले जाने से विरह से मेरी मृत्यु होती, अज्ञानी व्यक्ति का मरण के वाद अवश्य जन्म होता है, अतः पुनर्वार विरह यातना नहीं इस लिए जन्म तुम्हारे पास ही हो, यह आत्मा के प्रति आशीर्वाद है, यहाँ अनिष्ट होने से गमन की विधि प्रस्थान रूप निषेध में पर्यवसित होता है विशषकर गमन परिहार करना आवश्यक है» यह प्रतीति होती है।

यहाँ विधि का आभास इस प्रकार है,—विधि गमनरूप है, बलवदनिष्टाननुबन्धीष्ट साधन नाम विधि है, उद्देश्य विषय में प्रवर्त्तन

**विभावना विना हेतुं कार्य्योत्पत्ति र्यदुच्यते ।**
**उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधा सा परिकीर्त्तिता ।।**

विना कारणमुपनिबध्यमानोऽपि कार्य्योदयः किञ्चिदन्यत् कारणमपेक्ष्यैव भवितुं युक्तः । तच्च कारणमनन्तरं क्वचिदुक्तं, क्वचिदनुक्तञ्चेति द्विधा । यथा -

अनायासकृशं मध्यमशङ्क--तरले दृशौ ।
श्रीराधाया वयस्यङ्गमभूषण-मनोहरं ।।

अत्र वयोरूपनिमित्तमुक्तं ।

अत्रैव 'अभूषणमनोहारि राधिकाया वपु बंभौ' इति पाठेऽनुक्तं । विभावना ।।३५।।

---

करना ही विधि है, उक्त उदाहरण में कृष्ण का गमन से निजमरण—अत्यन्त अनिष्ट कर है, अतः 'गच्छ' यह विधि नहीं है, वहाँ प्रवर्त्तना शक्ति नहीं है, अतः यह गच्छ विधि निषेध ही है । कृष्ण का गमन सर्वथा परित्याज्य है, आत्मजीवन सर्वथा इष्ट है । गमन का परिहार से ही जीवन रक्षा सम्भव है ।। विध्याभास ।।३४।।

हेतु घटित विभावनालङ्कार का निरूपण करते हैं—हेतु प्रसिद्ध कारण के विना कार्योत्पत्ति से विभावनालङ्कार होता है । अर्थात् प्रसिद्ध कारण का अभाव से कार्योत्पत्ति प्रतीति विभावना है ।

विभावना उक्ताप्रसिद्ध कारण से, अनुक्ताप्रसिद्ध कारण से दो प्रकारहैं, जहाँ कारणान्वयी नञ् है, वहाँ विभावना है, कार्यान्वयी नञ् से विशेषोक्ति है ।

कारण के अभाव से कार्योत्पत्ति कैसे होगी ? कारण के विना कार्योदय होगा, कहा गया है, वह अन्य कारण की अपेक्षा से ही होगा । कारणान्तर का कथन कहीं है, कहीं नहीं है ।।३४।।

उदाहरण—श्रीराधा का अङ्ग यौवन कालमें मध्य देश आयास के विना ही कृश है, शङ्काहीन होने पर भी नयनद्वय चञ्चल है । अलङ्कार रहित होकर भी मनोहर है, कृशत्व के प्रति आयास, तरलत्व के प्रति शङ्का, मनोहरत्व के प्रति भूषण प्रसिद्ध कारण है,

**सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्ति स्तथा द्विधा ।**

तथेत्युक्तानुक्तनिमित्तत्वात् । तत्रोक्तनिमित्ता यथा—

धनिनोऽपि निरुन्मादा युवानोऽपि न चञ्चला ।
प्रभवोऽप्यप्रमत्ता स्ते ये कृष्णचरणाश्रिताः ।।

अत्र कृष्णचरणाश्रितत्वं निमित्तमुक्तं ।

अनुक्तनिमित्ता यथा—

उदेतीन्दुः पूर्णो वहति पवन श्चन्दनवनात्
कुहूकण्ठः कण्ठात् कलमविकलं निर्गमयति ।
प्रियालीनां मूर्द्धनः शपथरचना दन्ततृणता
पदोपान्ते कृष्ण स्तदपि तव मानो न विरतः ।।

---

उस के अभाव से सी कार्योपत्ति विभावना । यहाँ वयोरूपनिमित्त का कथन है । यहाँ अभूषणमनोहारि राधिका वपुर्वभौ" इसपाठ से अनुक्त कारण का उदाहरण है । विभावना ।।३५।।

हेतु प्रकरण प्राप्त एवं विभावना का विपरीत होने से विभावना के अनन्तर हेतु घटित विशेषोक्ति अलङ्कार का निरूपण करते हैं, हेतु प्रसिद्ध कारण, रहने पर भी फलाभाव, कार्यानुत्पत्ति को विशेषोक्ति नामक अलङ्कार कहते हैं, प्रसिद्ध कारण होते हुए भी कार्यानुत्पत्ति प्रतीति,—विशेषोक्ति अलङ्कार है पूर्ववत् यह भी उक्त निमित्त अनुक्त निमित्त से दो प्रकार हैं । उक्त निमित्त का उदाहरण श्रीकृष्णचरणाश्रित व्यक्तिगण धनी होकर भी मत्तताविहीन युवक होकर भी अचञ्चल, प्रभुता सम्पन्न होकर भी प्रमाद शून्य होते हैं, यहाँ श्रीकृष्ण चरणाश्रितत्व को निमित्त कहा गया है ।

**अनुक्त निमित्त का उदाहरण—**

पूर्णचन्द्र का उदय, चन्दन बनका पवन, कोकिल की ध्वनि अविकल रूप निर्गत हो रही है, प्रियसखीयों की शपथ रचना दाँतो से तृण की दवाकर चरणों में कृष्ण पड़े हुए हैं, तो भी तुम्हारा मान विरत नहीं हुआ । तुम आग्रही हो, यह निमित्त नहीं कहा गया है,

अत्र ग्रहिलात्वं निमित्तं नोक्तं । अचिन्त्यनिमित्तत्वं चानुक्तमित्यस्यैव भेद्र इति पृथग् नोक्तं । तत्र यथा—

तृणीकृतत्यक्तकुलीननारी-धर्मापि दूरोज्झित-भर्त्तृकापि ।

सती च याभीप्सित सच्चरित्रा राधा विधात्रारचि चित्रशीला ॥

अत्र चित्रशीलत्वमचिन्त्यत्वं । इह च कार्य्याभावः कार्य्यविरुद्ध-सद्भाव मुखेनापि निवध्यते । विभावनायामपि कारणाभावः कारणविरुद्धसद्भावमुखेन । एवं च 'यः कौमारहर' इत्यादेरुत्कण्ठा-कारणविरुद्धस्य निबन्धाद्विभावना । 'यः कौमारहर' इत्यादेः कारणस्य च कार्य्य विरुद्धाया उत्कण्ठाया निबन्धाद्विशेषोक्तिः । एवं चात्र विभावनाविशेषोक्त्योः सङ्करः । शुद्धोदाहरणन्तु मृग्यं ॥ विशेषोक्तिः ॥३६॥

**जाति श्चतुर्भि र्जात्याद्यै र्गुणो गुणादिभि स्त्रिभिः ।**

**क्रिया च क्रियाद्रव्याभ्यां द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः ॥**

**विरुद्धमिव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः ।**

क्रमेण यथा—

हिमकर-किरणासारो घनसारो गन्धसारोऽपि ।

---

अचिन्त्य निमित्तत्व हो अनुक्त है, इस भेद का कथन नहीं हुआ है। उदाहरण—कुलनारीका धर्म का परित्याग तृण के समान किया है, भर्त्ता को भी छोड़ दियाहै, सती भी जिनका चरित्र की आकाङ्क्षा करती है, उस राधा की रचना विधाताने चित्र शीलारूप से की है। यहाँ चित्रशिलत्व ही अचिन्त्य है। यहाँ कार्याभाव कार्य विरुद्ध सद्भाव से दिखाया गया है। विभावना में भी कारणाभाव-कारण विरुद्ध सद्भाव मुख से होता है। इस प्रकार यः कौमारहर—यहाँ उत्कण्ठा कारण विरुद्ध का निबन्धन से विभावना है, यः कौमारहर "यहाँ कारण का काय विरुद्ध उत्कण्ठा का निबन्धन से विशेषोक्तिहै, इस प्रकार यहाँपर विभावना विशेषोक्ति के द्वारा सङ्कर है, उभय का असङ्कीर्ण उदाहरण अन्वेषणीय है। विशेषोक्ति ॥३६॥

कार्य का बन्धत्व की प्रतीति में विभावना होती है, कारण

त्वयि मनसोऽन्तर्वर्त्तिनि माधव दावानल स्तस्याः ।

हिमकरकिरणादीनां बहुत्वाज्जातित्वं । अत्र जाति र्जात्या विरहे विरोधः वस्तुतोऽविरोधः ॥१॥

'राधे त्वदङ्गसंस्पर्शे नलिन्यपि न कोमला ।'

अत्र जाति गु'णेन ॥२॥

'यदङ्गमासाद्य विधूसराश्च गोधूलयो भूषणतामुपेयुः ।
विभूषणानां मणयश्च जग्मु विधूरत्वं स उपैति कृष्णः ॥'

अत्र जातिः क्रियया ॥३॥

'यो विष्णुरपि कार्य्यार्थं सिंह स्तस्मै नमो नमः ।'

अत्र विष्णुरूपद्रव्येण सिंहत्वजाते विरोधः ॥४॥

---

की बाध्यत्व प्रतीति में विशेषोक्ति, एवं दोनों का परस्पर बाध्यत्व की प्रतीति में विरोधाभास अलङ्कार होता हैं। आपातत विरुद्धवत् प्रतीति होने से विरोधाभास होता है। अतस्मिन् तद्वुद्धि विरुद्धहै, जाति गुण क्रिया द्रव्य के साथ परस्पर जाति विरुद्ध की भाँति प्रतीति होती है, यह चार प्रकार हैं, गुणक्रिया द्रव्य के साथ परस्पर गुण विरुद्ध की भाँति प्रतीति होती है, ये तीन प्रकार हैं। क्रियाद्रव्य के साथ परस्पर क्रिया विरुद्ध की भाँति प्रतीति होती है, यह दो प्रकार हैं, द्रव्य के साथ परस्पर द्रव्य विरुद्ध के समान प्रतीति होता है। यह एक प्रकार है, यह दशविध हैं।

जात्यादि चारों के साथ जाति का विरोध का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। हे माधव ! तुम अदृश्य होने से ज्योत्स्ना तथा चन्दन पङ्क दावानल के समान होता है। यहाँ जाति के साथ जाति का विरोध है। विरह में विरोध, है वस्तुत अविरोध है ॥१॥

हे राधे ! तुमारे अङ्ग संस्पर्श में कमल में कोमल नहीं है, यहाँ गुण के साथ जाति का विरोध है ॥२॥

जिन के अङ्ग सङ्ग से गोधूलि प्रभृति भूषण हो जाते हैं, विभूषण रूप मणि समूह मलिनता को प्राप्त करते हैं, वह कृष्ण है। यहाँ क्रिया के साथ जाति का विरोध है ॥३॥

'वेणो निनादो मधुर-स्वभावात् मर्मव्यथायां कटुरङ्गनानां' ।।५।।

'यः शीतलोपीन्दुमयूखवृन्दाद्दहत्यमूषां हृदयं वियोगे ।'

अत्र पूर्वार्धे गुणो गुणेन, उत्तरार्धे गुणः क्रियया ।।६।।

कठिनः शिलामयत्वाद् गोवर्द्धन एष भूभृतां नाथः ।

कृष्णकरे कुसुममयः कन्दुक इव कोमलो भाति ।।

अत्र गुणो द्रव्येण गोवर्द्धनरूपेण ।।७।।

जीवयति च मूर्च्छयति च पीवरयति च सुक्ष्मयत्यपि च ।

हरिमुरलीरवखुरली नो जाने किं विजानाति ।।

अत्र क्रिया क्रियया ।।८।।

अनङ्गो यत्कटाक्षेण साङ्गीभवति तत्क्षणात् ।।

ईक्षण-क्षणदः कृष्णो वीक्षितः क्षणदामुखे ।।

अत्र क्रिया अनङ्गरूपेण द्रव्येण ।।९।।

---

जो विष्णु होकर भी सिंह हैं, उनको नमस्कार है। यहाँ विष्णुरूप द्रव्य के साथ सिंहत्व जाति का विरोध है ।।४।।

स्वभाव से मधुर स्वभाव होने पर भी वेणु निनाद-गोपाङ्गना के लिए मर्म व्यथा का कारण होकर कटु बनजाता है ।।५।।

इन्दु किरण शीतल होने पर भी वियोग में गोपाङ्गना के हृदय को ज्वलाते रहते हैं। यहाँ पूर्वार्द्ध में गुण के साथ गुण का, उत्तरार्द्ध में क्रिया के साथ गुण का विरोध है ।।६।।

पर्वत राज गोवर्धन शिलामय कठिन होने पर भी कृष्णकर में शोभित होकर कोमल कन्दुक के समान प्रकाशित हुए, यहाँ गोवर्धन रूप द्रव्य के साथ गुण का विरोध है ।।७।।

जीवित करती तथा मूर्छित करती है, स्थूल भी करती है, सूक्ष्म भी करती है, मैं नहीं जानती हूँ मुरलीध्वनि क्या जानती है। यहाँ क्रिया के साथ क्रिया का विरोध है ।।८।।

जिनकी कटाक्ष से तत्क्षणात् अनङ्ग पूर्णाङ्ग होता है। प्रदोष में कृष्णदर्शन आनन्दमय है। यहाँ अनङ्ग रूप द्रव्य के साथ क्रिया का विरोध है ।।९।।

त्वत्कीर्त्या सितिमाढ्ये जाते जगति माधव ।
ऐरावतो विलुप्तोऽभूद् यमुनापि च जाह्नवी ॥१०॥

अत्र गङ्गा-यमुनयो र्द्रव्ययो विरोधः ॥

विभावनायां कारणाभावेनोपनिबद्ध्यमानत्वात् कार्य्यमेव वाध्यत्वेन प्रतीयते । विशेषोक्तौ कार्य्याभावेन कारणमेव । इह त्वन्योन्यं द्वयोरपि वाध्यत्वमिति भेदः ॥

आयाता यमुनाकुञ्जं हारिण्यपि विहारिणी ।
नित्यं वलययुक्तापि राधा नवलयान्विता ॥*

एवमाद्युक्ति-वैचित्र्याद् विरोधः श्लेषतो मतः ॥ विरोधः ॥३७॥

'कार्य्य-कारणयो र्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः ।'

---

हे माधव, तुम्हारी कीर्त्ति शुभ्रता से जगत् शुभ्र हो गया है, और ऐराबत, तथा यमुना भी विलुप्त हो गये हैं ॥१०॥

यहाँ गङ्गा यमुना द्रव्य का विरोध है । विभावना में कारणाभाव से कार्य बाध्यरूप से प्रतीत होता है, विशेषोक्ति कार्य्याभाव से कारण बाध्य रूप से प्रतीत होता है, विरोधाभास में परस्पर कार्य कारण का एवं उस से भिन्न पदार्थ का बाध्यत्व होता है, अर्थात् विरोध के वश से असम्भव प्रतीत होता है । अतः विभावना विशेषोक्ति के साथ विरोधाभास का भेद है । हारयुक्ता विहारिणी राधा यमुना कुञ्ज में आयी है, वह वलययुक्ता होकर भी नव लय युक्ता है । हारिणी, हारवती, विहारिणी विहरण शीला, वलयानि कलाविकाभूषणानि नवेन लयेन गीतवाद्यादीनां मिथः साम्य रूपेणान्विता च । इस प्रकार उक्ति वैचित्र्य से विरोध श्लेषप्रयुक्त होता है । विरोधः ॥३७॥

### * तदियं विरोधाभासभेदसङ्कलनम् *

| प्रकारः | उदाहरणम् |
|---|---|
| १ जात्या सह जातेर्विरोधः | हिमकर किरणासारः |
| २ जात्या सह गुणस्यविरोधः | राधे त्वदङ्गसंस्पर्शो |

यथा—स्पृशति यदि मुकुन्दो राधिकां तत्सखीनां

भवति वपुषि कम्प-स्वेद-रोमाञ्चबाष्पं ।

अधरमधु मुदास्या श्चेत् पिवत्येष यत्नाद्

भवति वत तदासां मत्तता चित्रमेतत् ॥

अस्या श्चापवादत्वादेकदेशस्थयो विशेषे विरोधः ॥ असङ्गतिः ॥३८॥

**गुणौ क्रिये वा यत् स्यातां विरुद्धे हेतु-कार्य्ययोः ।**

**यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः ।**

**विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतं ॥**

---

| | |
|---|---|
| ३ जात्यासह क्रियायाविरोधः | यदङ्गमासाद्य |
| ४ जात्यासह द्रव्यस्य विरोधः | जो विष्णुरपि कार्यार्थि सिंहः |
| ५ गुणेनसह गुणस्य विरोधः | यः शीतलो |
| ६ गुणेनसह क्रियाया विरोधः | दहत्यमूषां हृदयं वियोगे |
| ७ गुणेनसह द्रव्यस्य विरोधः | कठिन शिलामयत्वाद् गोवर्धनः, |
| ८ क्रियया सह क्रियाया विरोधः | जीवयति च मूर्च्छयति |
| ९ क्रियया सह द्रव्यस्य विरोधः | अनङ्गो यत्कटाक्षेण |
| १० द्रव्येन सह दव्यस्य विरोधः | स्वत् कीर्त्या सितिमाद्वैते |

———***———

विरोध प्रस्ताव से विरोध विशेष घटित असङ्गति अलङ्कार का निरूपण करते हैं, कार्य कारण भिन्न अधिकरण में होने से असङ्गति नामक अलङ्कार होता है, कार्य का वैयधिकरण होने से ही असङ्गति है। कार्य कारण का सामानाधिकर होना ही नियम है।

**उदाहरण**—मुकुन्द राधिका को स्पर्श करने से सखियों के शरीर में कम्पस्वेद रोमाञ्च बाष्प होता है, यत्नपूर्वक अधरमधु का पान करने से उन सब की मत्तता होती है, केवल कार्यकारण वैयधिकरण होकर विशेषरूप से बाधक है। एकस्थ कार्यकारण का विरोध होने से विरोध अलङ्कार होता है। असङ्गति ॥३८॥

विषम अलङ्कार का वर्णन करते हैं। हेतु कार्य का गुण

क्रमेण यथा—

कृष्णाधर–पीयूषं पिबसि सदा वंशिकेति मधुरं त्वं ।
वमसि रुतं गरलात् कटु युवतीगण–विमोहनं किमिदं ॥

अत्र कारणरूप मधुराधर-पीयुष-पानस्य कारणगुणाः कार्य्यगुणमारभन्ते इति विरुद्ध गरलकटुरुत-वमनं ॥१॥

त्वदीक्षणेन हे राधे ! तत्तदानन्ददायिना ।
जनितोऽयं स्मरो मह्यं दत्ते दाहं कथं प्रिये ॥

अत्र ईक्षणरूपकारणस्यानन्ददानक्रियया तत्कार्य्यरूप-–स्मरस्य दाहदान-क्रियाया विरोधः ॥२॥

---

विरुद्ध होने से, अथवा क्रिया विरुद्ध होने से विरोध अलङ्कार होता है, कार्यगुण यदि कारण गुण से विरुद्ध होता है—यह एक प्रकार है, कार्यगत क्रिया–कारण गत क्रिया से विरुद्धा हो तो विरोधालङ्कार होता है, यह द्वितीय प्रकार है, अथवा आरब्ध कर्म का वैफल्य अनर्थ अनिष्ट की उत्पत्ति–यह तृतीय प्रकार है। विपरीत पदार्थ की संयोजना एकत्र सम्मेलन होने से यह चतुर्थ प्रकार है, यह विषम शब्द वाच्य लिङ्ग है, अलङ्कार शब्द का विशेषण होने से विषम–पुरुषोत्तम लिङ्ग होता है।

एकदेशस्थ का विरोध में विरोधाभास, कार्यवृत्ति कारणवृत्ति रूप से भिन्न देशस्थ का विरोध से विषम होता है। व्याख्या रूप से गुणादि का वैषम्य होने से ही रसकी विषम संज्ञा हुई है, क्रम से उदाहरण—

वंशिका तुम सदा मधुर कृष्णाधर पान कर रही हो, किन्तु गरल वमन कर रही हो, युवतीविमोहन कार्य अति कटु है। यहाँ कारण रूप मधुराधर पीयूषपान का कारण गुण कार्य गुण का उत्पादक है, किन्तु यहाँ विरुद्धकटुरुतवमन है ॥१॥

हे राधे ! प्रिये ! तुम्हारे आनन्ददायी ईक्षण से स्मर उत्पन्न होकर मुझे ज्वाला प्रदान क्यों कर रहा है, यहाँ ईक्षणरूप कारण की आनन्ददान क्रिया द्वारा उसका कार्यरूप स्मर का दाह दानक्रिया

दृष्ट्वा राधां निपुणविधिना सुष्ठु केनापि सृष्टां
धाता ह्रीणः सदृशमनया यौवतं निर्मिमित्सुः ।
सारं चिन्वनसृजदिह तत् स्वस्य सृष्टेः समास्या
नैकाप्यासीदपि तु समभूत् पूर्वसृष्टि निरर्था ।।

अत्र राधा समा यौवतेषु कापि न जाता, प्रत्युत पूर्वसृष्टि निःसारा-ऽभूत् ।।३।।

क्वेमौ नयन-पीयूष-निषेकौ मृदुलाङ्गकौ ।
मल्लाः क्वेमे मदोत्फुल्लाः संरब्धा वज्रविग्रहाः ।।

अत्र कोमल-रामकृष्णयोः कठिनमल्लैः संघटना विरुद्धा ।

'नायमेकाश्रयाभावाद् विरोधाभास इष्यते ।'

विषमः ।।३९।।

**'समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः ।'**

---

का विरोध है ।।२।।

निपुण विधि के द्वारा सृष्ट राधा को देखकर ब्रह्माजीने उनके सदृश सृजन करने की इच्छा की और समस्त वस्तुओं से सार लेकर सृजन करने पर भी उनके समान सृष्टि नहीं हुई, किन्तु पूर्व पूर्व सृष्टि सब विफला हो गई हैं ।

यहाँ राधा के समान कोई नहीं है, वस्तुत पुर्वसृष्टि निःसार हो गई ।।३।।

ये दोनों बालक रामकृष्ण मृदुल अङ्गके तो हैं ही प्रत्युत नयनानन्ददायक हैं । और यह मल्ल मदसे उत्फुल क्रोधी और कितने कठोर शरीर के हैं ।

यहाँ कोमल रामकृष्ण को कठिन मल्लके साथ भिड़ादेना विरुद्ध है ।

इसमें एकाश्रय का अभाव से विरोधाभास अलङ्कार नहीं होता है । विषम: ।।३९।।

विरुद्ध पदार्थद्वय का सङ्घटन से विषमालङ्कार जिस प्रकार होता है, उस प्रकार अनुरूप पदार्थद्वय का तङ्घटन से समालङ्कार

यथा—कृष्णो वरीयान् पुरुषेषु सद्गुणैः श्रीराधिका स्त्रीषु गुणै र्वरीयसी।
सङ्गं विधातु स्त्वनयोः परस्परं धातु र्नरीनर्त्ति गुणज्ञता यशः॥
समं ॥४०॥

'विचित्रं यद् विरुद्धस्य कृति रिष्टफलाप्तये।'

यथा—भोगेप्सवः सकलकामदमर्थलुब्धाः
सर्वार्थदं सुखतृषश्च सुखस्वरूपं।
लोकाधिपत्य-लसिता जगदीश्वरं तं
कृष्णं द्विषन्ति दनुजाः कुधियो वर्तते॥

विचित्रं ॥४१॥

'आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते।'

---

होता है, आनुरूप्य से अर्थात् परस्पर सदृश रूप से योग्य वस्तु का अनुरूप पदार्थ के साथ श्लाघा साधुवाद से सम नामक अलङ्कार होता है, अतएव समाना मा मानं ज्ञानं यस्मिन् तत् सममिति व्युत्पत्ति अयं समशब्दोऽपि पूर्ववद्वाच्यलिङ्गः।

उदाहरण—पुरुषों के मध्य में सद्गुणों से कृष्ण ही श्रेष्ठतम है। श्रीराधिका सकल स्त्रीयों में अधिक गुणवती है। दोनों का सङ्ग विधान हेतु विधाता में गुणज्ञता यश की वृद्धि हुई। समं ॥४०॥

विरोध घटित विचित्र अलङ्कार का लक्षण करते हैं। चेत् यदि विरुद्ध का इष्टविरुद्ध। इष्ट विपरीत की कृति, कारण-इष्ट फलाय-अभिलषित फल सिद्धि के लिए हो तो विचित्र अलङ्कार होता है। विरोधाभास, विषम में विरोध स्वत: सम्भवी है, यहाँ विरुद्धार्थ ही विरुद्ध का कारण है, विपरीत फल के लिए विपरीत का कारण से ही इस की विचित्र संज्ञा है, विचित्र शब्द का अर्थ आश्चर्य है। उदाहरण—जगदीश्वर कृष्ण सर्वार्थद सकलकामद सुख स्वरूप हैं, किन्तु आश्चर्य्य है कि सुखाभिलाषी भोगेच्छु, अर्थ लोलुप, लोकाधिपत्य कामी व्यक्तिगण बुद्धिहीन होते हैं, कारण वे सब कृष्ण के प्रति विद्वेष करते हैं। विचित्रं ॥४१॥

आश्रयाधिक्ये यथा—

किमधिकमस्य ब्रूमो महिमानं वारिधे र्हरि र्यत्र ।
अज्ञात एव शेते कुक्षौ निक्षिप्य भुवनानि ॥

आश्रिताधिक्ये यथा—

युगान्तकाल--प्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकाशमासत ।
तनौ ममु स्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागम-सम्भवा मुदः ॥

अधिकं ॥४२॥

**'अन्योन्यमुभयोरेकक्रियायाः कारणं मिथः ।'**

यथा—माधव्याः श्रीर्माधवेनैव रम्या माधव्यैवोत्फुल्ला या माधवश्रीः ।

---

सम्पूर्ण वैरूप्य में विचित्रालङ्कार होता है, किञ्चित् वैरूप्य में अधिक अलङ्कार होता है,आधार आधेय के मध्यमें एक का आधिक्य की विशालता होने पर अधिक नामक अलङ्कार होता है। आधार आधेय का न्यूनत्व अधिकत्व होकर वैरूप्य होने से अधिक होता है, दोनों के मध्य में एक का वैरूप्य होने से विषम होता है, सामान्य विशेष न्याय से जानना होगा।

आश्रयाधिक्य का उदाहरण—

वारिधि की महिमा अधिक रूप से क्या कहूँ, श्रीहरि निज कुक्षि में निखिल भुवन को रखकर जिस में शयन करते हैं।

आश्रित का आधिक्य का उदाहरण—

श्रीकृष्ण के शरीर में प्रलय काल में सकल ब्रह्माण्ड रहते हैं, और उन से उद्गत भी होते हैं, किन्तु ब्राह्मण दर्शन से जो उनका जो आनन्द होता है। उसका ठहने का स्थान का सङ्कुलान उस शरीर में नहीं होता है। यहाँ आधारभूत नारायण शरीर की, अपेक्षा से आधेय भूत आनन्द का आधिक्य से अधिक नामक अलङ्कार हुआ है, ।

अधिकं ॥२२॥

अधिकालङ्कार में उभय का कथन हेतु उभय घटित अन्योन्यालङ्कार का निरूपण करते हैं।

कर्त्तृ भूत पदार्थद्वय की एकक्रिया का परस्पर करण विधान

इत्यन्योन्यश्रीसमुल्लासहेतू एतौ यद्वद् यामिनी-यामिनीशौ ॥
अन्योन्यं ॥४३॥

**यदाधेयमनाधारमेकं चानेक-गोचरं।**
**किञ्चित् प्रकुर्व्वतः कार्य्यमशक्यस्येतरस्य वा।**
**कार्य्यस्य करणं दैवाद्विशेष स्त्रिविध स्ततः ॥**

क्रमेण यथा—

'वकीमुखानां हि हरेररीणां दौर्जन्यसंघा अमुना हतानां।
सहास्यकारुण्यमुखै गुणोघै स्तिष्ठन्ति विज्ञै रिह गीयमानाः ॥'

'राधाग्रतश्च परतोऽपि च पार्श्वतश्च
श्रोत्रे च चक्षुषि च वाचि च मानसे च।
केनाध्वनैष मदनो हृदि मे प्रविश्य
मां हन्ति हन्त ! किमियं न निराचकार ॥'

---

ही अन्योन्य नामक अलङ्कार है।

माधवी की श्रीमाधव से ही रम्या होती है, माधव श्रीउत्फुल्ला माधवी ही है, परस्पर का उल्लास का हेतु परस्पर ही है, जिस प्रकार यामिनी एवं यामिनीश है, चन्द्र रजनी के द्वारा शोभित होता है, रजनी भी चन्द्र से शोभिता होती है ॥ अन्योन्यं ॥४३॥

आधाराधेय घटित विशेषालङ्कार का वर्णन करते हैं। अनाधार आधार रहित आधेय की स्थिति होने से विशेष अलङ्कार होता है। यह एक प्रकार है, एकवस्तु युगपद् अनेक स्थानस्थित होने से द्वितीय प्रकार होता है। कार्य्य करने में असमर्थ होने पर दैव से वह सम्पन्न होने पर तृतीय प्रकार होता है, त्रिविध लक्षण से विशेष नामक अलङ्कार तीन प्रकार हैं, पर्याय अलङ्कार में एक की अनेक स्थान में स्थिति हैं, वह क्रम से होता है, प्रकृतस्थल में युगपद् होता है, द्वितीयविध विशेषण के साथ इस का भेद है। अलङ्कारान्तर से विलक्षण होने से इसका नाम विशेष हुआ है।

उदाहरण—श्रीहरि के द्वारा निहत वकासुरादि हैं, विज्ञगण

'नयनयुग-विधाने राधिकाया विधात्रा
जगति मधुरसाराः सञ्चिताः सद्गुणा ये।
भुवि पतिततदंशै स्तेन सृष्टान्यसारै
र्भ्रमर-मृग-चकोराम्भोज-मीन्योत्पलानि।

विशेषः ॥४४॥

**व्याघातः स तु केनापि वस्तु येन यथाकृतं।**
**तेनैव चेदुपायेन कुरुतेऽन्य स्तदन्यथा॥**

यथा—चन्द्रावली प्रणयरूपगुणैः प्रयत्न
व्यक्तीकृतै र्व्यरचयत् स्ववशं बकारिं।
श्रीराधिका तु सहजप्रकटै र्निजैस्तै
र्व्यस्मारयत्तमिह तामपि हा कुतोऽन्याः॥

---

श्रीहरि के कारुण्य गुणों का कीर्त्तन करते रहते हैं।

अग्र में राधा पृष्ठ के और राधा; पार्श्व में राधा, श्रवण में चक्षु में वाणी में मन में राधा है, किस मार्ग से मदन हृदय में प्रविष्ट हुआ है, मुझे हनन कर रहा है, इसका निराकरण नहीं हुआ है।

श्रीराधिका के नयन युगल का निर्म्माण करने में विधाता ने विशेष यत्न किया है, और जगत् के समस्त सार मधुर गुणों का संग्रह किया है, उस समय पृथ्वी में उसका जो अंश विशेष गिरा है, उस से ही आपने भ्रमर मृग चकोर अम्भोज मीन उत्पल की रचना की है। विशेषः ॥४४॥

तृतीय प्रकार विशेष अलङ्कार में अन्य करण प्रस्तावोत्थान से व्याघात अलङ्कार का निरूपण होता है, कर्त्ता जिस उपाय से जिसका स्थापन किया है, उस से ही यदि अन्य व्यक्ति उसका अन्य प्रकार कर देता है, तो उसको व्याघात नामक अलङ्कार कहते हैं।

अपर का करण के द्वारा पूर्व करण का व्याघात होने से व्याघात अलङ्कार होता है।

उदाहरण—चन्द्रावली प्रयत्न के द्वारा प्रणयरूप गुणों से श्रीकृष्ण को वश किया है, श्रीराधाने तो निज सहज प्रकट गुण से

**सौकर्य्येण च कार्य्यस्य विरुद्धं क्रियते यदि ।**
**सोऽपि व्याघातः । . . . . . .**

यथा — इहैव त्वं तिष्ठ द्रुतमहमहोभिः कतिपयैः
समागन्ता राधे मृदुरसि न चायास-सहना ।
मृदुत्वं मे हेतुः सुभग ! भवता गन्तुमधिकं
न मृद्वी सोढ़ा यद्विरह-कृतमायासमसमं ।।

अत्र कृष्णेन राधाया मृदुत्वं सहागमनहेतुत्वेनोक्तं । तथा च प्रत्युत सहगमने ततोऽपि सौकर्य्येण हेतुतयोपन्यस्तं ।। व्याघातः ।।४५।।

**परं परं प्रति यदि पूर्व्वपूर्व्वस्य हेतुता ।**
**तदा कारणमाला स्यात् ।।**

---

उस को अन्यथा करके श्रीकृष्ण को वशीभूत कियाहै, और चन्द्रावली को भी भूला दिया है ।

अन्य प्रकार व्याघात का लक्षण करते हैं—एक हेतु को लेकर प्रतिवक्ता यदि वक्ता के मत का विपरीत प्रतिपादन करता है, तब वह भी व्याघात अलङ्कार होता है, इस मत में वक्ता के मत का व्याघात होने से व्याघात नाम होता है ।

**श्रुतं कृत धियां सङ्गात् जायते विनयः श्रुतात् ।**
**लोकानुरागोविनयान्न किं लोकानुरागतः ।।**

राधे ! तुम यहाँ पर ही रहना मैं कोईएक दिनों में लौटकर आ रहा हूँ । तुम कमला हो क्लेश सहन तुम न कर सकोगी, राधा बोली हे सुभग ! मेरा कारण है, मृदुता, तुम चले जाने से विरह कृत क्लेश अत्यधिक होगा, उसे मृद्वी होकर सहन करना असम्भव ही होगा । प्रथम कृष्ण ने राधा को मृदु कह कर साथ चलने के लिए मना कर दिया, राधा ने उस मृदु हेतु को लेकर कहा, साथ चलने में क्लेश कम होगा, किन्तु विरह से क्लेश अधिक होगा । व्याघातः ।४५।

हेतु घटित कारण मालालङ्कार का निरूपण करते हैं । जब परपर पदार्थ के प्रति पूर्व पूर्व पदार्थ कारण हो जाता है, तब वह

यथा—वंशीस्वनै गोपवधूगणाहृतिर्गोपीहृते रासमहामहोत्सवः ।
रासोत्सवाद् वाञ्छित-पूर्त्तिरीशितु स्तत्पूर्त्तितोऽभूत् सुखसंभृतं जगत् ।

कारणमाला ॥४६॥

**तन्मालादीपकं पुनः ।**
**धर्मिणामेकधर्मेण संबद्धो यद्यथोत्तरं ॥**

यथा—त्वयि कृष्णरणप्राप्ते धनुषा सादिता शराः ।
शरैररि-शिर स्तेन भू स्तया त्वं त्वया यशः ॥

अत्रासादनक्रिया धर्म्मः । मालादीपकं ॥४७॥

**पूर्व्वं पूर्व्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परं ।**
**स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत् स्यात्तदेकावली द्विधा ॥**

---

कारणमाला अलङ्कार होता है। कारणों की माला श्रेणी, कारण माला है।

उदाहरण—वंशीनाद से गोपबधूयों का आहरण हुआ, गोपियों का आगमन से रास महामहोत्सव हुआ, रासोत्सव से श्रीकृष्ण का वाञ्छित की पूर्त्ति हुई उनकी पूर्त्ति से जगत् तृप्त हुआ ॥
कारणमाला ॥४६॥

माला दीपकालङ्कार का वर्णन करते हैं—अनेक धर्मिका एक धर्म गुण क्रिया रूप से उत्तरोत्तर सम्बन्ध होने से माला दीपक होता है। अप्रस्तुत प्रस्तुत का एकधर्म से सम्बन्ध होना दीपक है, वह श्रेणि रूप मालारूप होने से मालादीपक होता है, उदाहरण—

हे कृष्ण रण उपस्थित होने से तुमने धनुष में शरका संयोजन किया, उस शरों से शत्रुयों का मस्तक गृहीत हुआ, उससे भू व्याप्त हुआ और तुम्हारी कीर्त्ति व्याप्त हो गई, यहाँ आसादन धर्म है। वह शरादि के द्वारा उत्तरोत्तर कर्म रूप से सम्बन्ध होने से माला दीपक हुआ ॥४७॥

क्रमिक विशेषण घटित एकावली नामक अलङ्कार का वर्णन करते हैं। पूर्व पूर्व विशेष्य के प्रति पर पर विशेष्य का स्थापन

गुणा हि गोपीतति-हारिणो हरे र्गोपीततिः प्रेम-परिप्लुताशया
प्रेमा हरेरिन्द्रियचित्तहारको हरिश्च तस्या वशतामुपागतः ।।

यथा वा—'सरो विकसिताम्भोज मम्भोजं भृङ्गसङ्गतं ।
भृङ्गा यत्र ससङ्गीताः सङ्गीतं स-स्मरोदयं ।।'

'न तद्वनं यन्न विहारमङ्गलं नासौ विहारः शुभगीतभृन्न यः ।
गीतं न तद् यन्नहि वंशिकाकृतं वशी न सा कृष्णमुखानुगा न या ।।

क्वचिद् विशेष्यमपि यथोत्तरं विशेषणत्वे स्थापितमपोहितं च दृश्यते ।

यथा—कुञ्जं भाति न सन्तप्तं कुञ्जेऽस्मिन् राधिकाऽविशत् ।
राधायां मिलितः कृष्णः कृष्णेऽजनि रतिस्पृहा ।।

एवमपोहनेऽपि ।। एकावली ।।४८।।

## उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते ।'

---

विशेषण रूप में करते हैं, अथवा निषेध करतेहैं। तब स्थापन अपोहन भेद से दो प्रकार एकावली अलङ्कार होता है। विशेषण सामानधिकरण व्यधिकरण रूप से होता है। एक विशेषण का क्रमिक आवली घटित होने से एकावली होता है।

**क्रम से उदाहरण**—हरि का गुण गोपाङ्गना का हरण कारी है, गोपीगण प्रेम पूर्णान्तःकरणा हैं, प्रेम श्रीहरि का चित्त हरण कारी है, हरि श्रीराधा से वशीभूत हैं।

सरोवर में कमल विकसित है, अम्भोज में भृङ्ग सङ्गत है, भृङ्ग सङ्गीत युक्त है, उस सङ्गीत से स्मरोदय होता है। वह वन नहीं जहाँ मङ्गल विहार नहीं है, वह विहार विहार नहीं है, जहाँ शुभगीत समूह नहीं है, वह गीत नहीं है, जो वंशी से निर्गत नहीं है, वह वंशी वंशी नहीं है—जो कृष्ण मुख से निनादित नहीं हुई। कहीं पर विशेष्य भी यथोत्तर विशेषण रूपसे स्थापित तथा निषिद्धहोताहै।

कुञ्ज सन्तप्त नहीं है, कुञ्ज में राधिका का प्रवेश हुआ है। राधा के साथ कृष्ण का मिलन हुआ, कृष्ण में रति स्पृहा जगी, इस प्रकार अपोहनमें भी होता है। एकावली।। ४८।।

यथा—गीर्भू र्लीला युवतिषु वरैः सद्गुणैः सारभूता
स्ताभ्यः सा श्री स्तत इह महाप्रेम-गोपाङ्गना स्ताः ।
ताभ्य श्चन्द्रावलिमुखलसद्यूथनाथा अमूभ्यः
श्रीराधाऽस्यां वत हि नितरां सोऽपि कृष्णः सतृष्णः ॥

सारः ॥४९॥

'यथासंख्यमनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत्' ।

यथा—स्त्रीनामरीणां मित्राणां कृष्ण स्तै स्तै गुणै र्भवन् ।
स्मरो दण्डधरश्चन्द्र स्त्रिधैकोऽपि भवां स्थितः ॥

यथासंख्यम् ॥५०॥

---

क्रमिक उत्कर्ष घटित सार नामक अलङ्कार का वर्णन करते हैं, उत्तरोत्तर क्रमश ; विशेष्य पदार्थ का उत्तमत्व स्थापन से सार अलङ्कार होता है। सार शब्द का अर्थ श्रेष्ठ है। मालादीपक में जिस किसी का गुणरूप अथवा क्रिया धर्म का उत्तरोत्तर सम्बन्ध है, इस में केवल उत्कर्ष रूप गुणका है, अतः यह विशेष रूप है, और सामान्य का बाधक है उदाहरण—वाणी, भू, लीला, युवतियों में सद्गुणों के द्वारा सारभूत है, उन सबों से लक्ष्मी श्री, श्रेष्ठा है, उनसे गोपाङ्गना गण श्रेष्ठ हैं। उन गोपाङ्गनाओं में चन्द्रावली श्रेष्ठ हैं, उनसे श्रीराधा श्रेष्ठा है, उन में श्रीकृष्ण सतृष्ण हैं। इस में उत्तरोत्तर विशेष्यों का उत्कर्ष प्रतिपादित हुआ है। सारः ॥४९॥

क्रमिक पदार्थ निर्वचन सन्दर्भ में क्रमिकाभिधान घटित यथा संख्य अलङ्कार का वर्णन करते हैं। "शास्त्रे वृक्षवद्व्यवहार" इस रीति से उर्द्ध दिष्टा उद्दिष्टा प्रथमाभिहित पदार्थ का पौर्वापर्य क्रम से अनूद्देश—पश्चादुक्ति को यथासंख्य अलङ्कार है, संख्यानतिक्रम्य स्थितमिति यथा संख्यं नित्य ब्रह्मलिङ्गोऽयं शब्दः।

उदाहरण—कृष्ण ललना अरि-मित्रों के निकट उस के अनुरूप गुण से विराजित होकर एक होकर भी आप स्त्रीयों के लिए कामदेव शत्रु के लिए दण्डधर मित्रों के लिए प्रसन्नता कारक पूर्णचन्द्र बने थे। पूर्वोक्त त्रिविध के साथ उत्तरोक्त त्रिविध का क्रम से अन्वय

**क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकशः क्रमात् ।**
**भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्य्याय इष्यते ।।**

यथा—पक्ष्माणि हित्वा पतिताधरेऽस्मात् पयोधरेऽतोपि बलित्रयऽस्मात् ।
नाभिं प्रपेदे हरिसङ्गजाता श्रीराधिकायाः प्रणयाश्रुधारा ।।
कौटिल्यमासीत् सहजं कचेषु यत्
तत् सांप्रतं वाचि विलोकनेऽर्पितं ।
कठोरता या कुचयोः स्वभावजा
राधेऽर्पिता सापि कुत स्त्वया हृदि ।।

अनेकमेकत्र भवति यथा—
एकस्मिंस्तव हृदये व्रजेन्द्रसूनो
भूयस्यो नलिनदृशः कृतप्रवेशाः ।
नास्त्यस्मिन्नवसर एव गाढ़पूर्णे
सख्यो मे गुणबहुलाः कथं विशन्तु ?

---

होने से यथा संख्यालङ्कार हुआ है । यथासंख्यम् ।।५०।।

क्रमिक के प्रकरण में क्रमप्रयुक्त पर्याय अलङ्कार का वर्णन करते हैं, एक वस्तु क्रम से अनेक स्थान में स्वयं यदि अवस्थित होती है, अथवा अन्य के द्वारा अवस्थित होती है, कभी अनेक वस्तु क्रमश एकस्थान स्थित यदि होती हैं, किम्वा अन्य से होती है, तब पर्य्याय नामक अलङ्कार होता है, पर्य्याय—क्रम है, उस से युक्त पर्य्याय संज्ञा है । एक वस्तु का अनेक स्थान में स्वयं अवस्थित होने का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं, श्रीराधिका की प्रणयाश्रुधारा क्रमश नयन पलक को छोड़कर अधर में उससे पयोधर में उस से बलित्रय में, उस से नाभि में गिरी, यह श्रीकृष्ण के सङ्ग से बनी है ।

केश पाश में जो स्वाभाविक कुटिलता रही, वह वाणी में पश्चात् विलोकन में आगई, किन्तु हे राधे, तुम्हारे कुचों में जो कठोरता रही, उस स्वभावजा कठोरता का आधान हृदय में तुमने कैसे किया ?

क्रियते यथा—यथो न्यंस्तः पुरा हारी हारः श्रीराधया हरे ।
तद्वियोगेऽधुनाप्यंन्ते हा तयोरश्रु विन्दवः ।।

एषु च क्वचिदाधारः संहतरूपोऽसंहतरूपश्च । आधेयमपि ।

यथा—पक्ष्माणीत्यादौ पक्ष्मादावसंहतरूप आधारे अश्रु विन्दवः क्रमेणाभवन् । एकस्मिन्नित्यादौ आधेयरूपा नलिनदृशः संहतरूपा हृदये क्रमेणाभवत् । एवमन्यत् । अत्र चैकस्यानेकत्र क्रमेणैव वृत्तं विशेषालङ्काराद्भेदः । विनिमयाभावात् परिवृत्तेश्च ।।पर्य्यायः ।।५१।।

**'परिवृत्ति विनिमयः समन्यूनाधिकं र्भवेत्' ।**

यथा—इयं कृष्णादङ्कस्रजमुरुमुपादाय रुचिरां
वदान्यास्मै राधा सपदि मणिमालामिह ददौ ।

---

**अनेक का एकत्र संस्थान का उदाहरण—**

हे व्रजराजनन्दन ! तुम्हारे हृदय तो एक ही है, उस में भी अनेक कमल नयनी का प्रवेश हुआ है, उस गाढ़ पूर्ण हृदय में गुण बहुला सखी का प्रवेश कैसे होगा ? अन्य के द्वारा होने से,हे हरे, श्रीराधाने पहले हार का अर्पण किया, वहाँ तुम्हारे वियोग से अधुना अश्रुविन्दु का अर्पण वह कर रही है । इस में संहतरूप संयुक्त स्वरूप, अनेक होकर भी संयुक्त रूप से एकरूप है, असंहत रूप–विश्लिष्ट रूप एक अवयवि होकर भी विश्लिष्ट रूप से अनेकरूप आधार है, आधेय भी पूर्ववत् संहतरूप असंहत रूप है । इसरीति से ही सर्वत्र लक्षणों की सङ्गति होती पक्ष्माणी यहाँपर असंहत रूप आधार में अश्रुविन्दुयों का क्रमश होना, 'एकस्मिन्' इत्यादि में आधेय रूप नलिन नयनी का संहतरूप से हृदय में होना है, इसरीति से अन्यत्र भी जानना होगा। यहाँ एक का क्रमश अनेकत्र अवस्थान से विशेष अलङ्कार से यह भिन्न हुआ, विनिमय का अभाव के कारण परिवृत्ति से भी यह भिन्न है । पर्य्यायः ।।५१।।

सम्प्रति परिवृत्ति अलङ्कार का निर्णय करते हैं, कुछ देकर कुछ लेने का नाम विनिमय है, सम—समान, न्यून,—हीन, अधिक उत्तम, सम देकर समग्रहण, अधिक देकर न्यून ग्रहण, न्यून स्वल्प

निपीयास्याः कृष्ण स्त्वधर–मधु दन्तक्षतमदाद्
गृहीत्वाभ्यामाल्यो दर तदवलोकं तनुमदुः ।।

अत्र प्रथमार्द्धे समेन, तृतीयचरणे न्यूनेन, चतुर्थचरणे अधिकेन परिवृत्तिः ।।५२।।

**प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिताद्वस्तुनो भवेत् ।**
**तादृगन्यव्यपोह श्चेच्छाब्द आर्थोथवा तदा ।।**
**परिसंख्या ।।**

क्रमेणोदाहरणानि—'का कृष्णस्य प्रणयजनिभू राधिकैका न चान्या
कास्य प्रेयस्यनुपमगुणा राधिकैका परा न ।
का चक्रे तं स्ववशमनिशं राधिका नेतरा तद्-
वाञ्छापूर्त्यै प्रभवति हि का राधिका नापरेह ।।'

---

देकर अधिक ग्रहण रूप विनिमय से परिवृत्ति नामक अलङ्कार होता है। परिवर्त्तन–परिवृत्तिरिति व्युत्पत्तिः स्पष्टा। उदाहरण— श्रीराधा ने श्रीकृष्ण के अङ्ग से स्रज को लेकर मणिमाला अर्पण कर दिया, कृष्ण ने अधर मधु पान कर दन्तक्षत प्रदान किया। राधा ने दोनों को लेकर अवलोकन एवं तनु प्रदान कर अनेक दिया यहाँ प्रथमार्द्ध में समान समान है, तृतीय चरण में न्यून के साथ परिवृत्ति है, चतुर्थ चरण में अधिक के साथ परिवृत्ति है। परिवृत्तिः ।।५२।।

सम्प्रति एक उक्ति से अन्य प्रतीति पर परिसंख्या अलङ्कार का वर्णन करते हैं।

प्रश्न से अथवा अप्रश्न से वैचित्री पूर्ण पदार्थ का वर्णन होने से परिसंख्या अलङ्कार होता है, इस में यहाँ शब्द से अर्थ से वस्तु की प्रतीति होती है, कथित सदृश वस्तु का व्यपोह प्रतिषेध होता है। प्रश्न पूर्वक कथन से अप्रश्न पूर्वक कथन से यह दो प्रकार है, प्रत्येक शब्द–अर्थ गत भेद से दो प्रकार हैं, समष्टि से यह अलङ्कार चार प्रकार हैं, क्रमश उदाहरण—

कृष्ण का प्रणय पात्र कौन है? राधिका ही है,—अन्य नहीं,

अत्र व्यवच्छेद्य नान्यादि शाब्दं ।

'किं गेयं कृष्णचरितं क्व स्थेयं कृष्णकानने ।
किं ध्येयं कृष्णपादाब्जं किं मृग्यं कृष्णसेवनं ॥'

अत्र व्यवच्छेद्य नान्यदादि आर्थम् । अनयोः प्रश्नपूर्व्वत्वं ।

अप्रश्नपूर्व्वत्वं यथा—

'भक्तिः कृष्णे नान्यदेवे वाञ्छास्मिन् विषये नहि ।
दृश्यते कृत-पुण्यानां सङ्गः सत्सु न रागिषु ॥"

'केशेषु कौटिल्यमुरोजयुग्मे काठिन्यमक्ष्णो स्तरलत्वमुच्चैः ।
पाणिद्वये पादयुगेऽधरौष्ठे रागः सदा दीव्यति राधिके ते ॥'

---

कृष्ण की अनुपम गुणा प्रेयसी कौन है ? श्रीराधिका ही है, अपर नहीं, कृष्ण को निजवश में निरन्तर कौन रखती है ? राधिका, अन्या नहीं : कृष्ण की वाञ्छा पूर्त्ति में समर्था कौन है ? राधिका अपरा नहीं । यहाँ निषेध पर नान्यादि शब्द से उपात्त है ।

गेय क्या है ? कृष्ण चरित, अवस्थान कहाँ करना है ? कृष्ण कानन में, ध्येय क्या है ? कृष्ण पादाब्ज । अन्वेषणीय क्या है, कृष्ण सेवन ।

यहाँ व्यवच्छेद्य नान्यदादि अर्थ से लभ्य है, दोनों उदाहरण प्रश्न पूर्वक का उदाहरण है । अप्रश्न पूर्वक का उदाहरण—पुण्यवान् जनों की कृष्ण में भक्ति होती है, अन्यदेव में नहीं, विषय में वाञ्छा नहीं होती है, सङ्ग, सज्जनों के साथ होता है, विषय लोलुपों के साथ नहीं । हे राधिके तुम्हारे केश में कुटिलता, उरोज युग्म में काठिन्य, नयनों में तरलता, पाणिद्वय में पद द्वय में अधर औष्ठ में लालिमा सदा विराजित हैं ।

श्लेष मूलक होकर वाच्य वैचित्री विशेष होता है, उदाहरण श्रीहरि मथुरा में विराजित होने से युद्ध क्षेत्र में शत्रुओं के धनुर्गुण का छेदन होता था, किन्तु दया दाक्षिण्यादि गुणों का विलोप नहीं होता था विभिन्न वर्णो का संमिश्रण चित्रकार्य में होता किन्तु था, मानव में वर्ण सङ्कर की सृष्टि नहीं होती थी, एवं नीच गामिता जल

श्लेषमूलत्वे वाच्यवैचित्र्यविशेषो यथा—

चापेषु गुणविच्छेद श्चित्रेषु वर्ण-सङ्करः ।
मथुरायां हरौ राजत्ययां नीचोऽपसर्पणं ॥

परिसंख्या ॥५३॥

**उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादुन्नयो यदि ।**
**यच्चासकृदसम्भाव्यं सत्यपि प्रश्न उत्तरं ॥**

यथा—वीक्षितुं न क्षमा श्वश्रूः स्वामी गोष्ठान्तरं गतः ।
एकैवाहं निशा याता पाल्यतेऽत्र स्थितिः कुतः ?

अनेन पथिकरूपेण कृष्णस्य वसति याचनं प्रतीयते ।

---

प्रवाह का ही होती, मनुष्यों की नहीं, यहाँ गुण विच्छेद, वर्णसङ्कर—नीचोऽपसर्पण श्लेष है । परिसंख्या ॥५३॥

एक की उक्ति से अन्य की प्रतीति होती है, उस गोष्ठी में उत्तर नामक अलङ्कार आता है, उसका वर्णन करते हैं । उत्तरार्द्ध में प्रश्न बोधक शब्द हो, अथवा पूर्वार्ध में प्रश्न नहीं, उत्तरार्ध में एक प्रश्न से वैचित्री सम्भव न होने पर बहुतर प्रश्न होने से, प्रश्न वाचक शब्द न होने पर, उत्तर वचन से यदि प्रश्न का ज्ञान अनुमान से होता हो, तब उत्तर नामक अलङ्कार होता है, यह तो एकविध उत्तर का है, जहाँ अनेक प्रश्न होने पर भी असम्भाव्य असम्भावनीय, लोकातीत होने से अचिन्तनीय है, अथवा अनेकबार उत्तर प्रतिवचन होता रहता है, वह भी उत्तर नामक अलङ्कार होता है, इस से यह अलङ्कार दो प्रकार होगा । उत्तर घटित होने से इसका नाम उत्तर अलङ्कार हुआ । दृष्टान्त । सास आखों से नहीं दिखती है, पति भी गोष्ठ को गया है, मैं अकेली हूँ, रात भी हो चुकी है, यहाँ कैसे मेरी स्थिति हो, इस वाक्य से पथिक रूप से श्रीकृष्ण की स्थिति के लिए प्रार्थना प्रतीति होती है । प्रश्न होने भी वह बारम्बार होता है, यथा—दुर्लभ क्या है ? जो मनका गोचर नहीं है, प्रार्थनीय क्या है ? कहींपर जिस का लाभ नहीं होता है । आह्लादक क्या है ? जिसका स्मरण

प्रश्ने सत्यप्यसकृद् यथा—

किं दुर्लभं यन्मनसो न गोचरं किं प्रार्थनीयं क्व च यन्न लभ्यते ।
किं ह्लादकं यत् स्मरणेऽपि स स्यात् यत्तच्च तत् किं व्रजराजनन्दनः ॥

अत्र वाच्य एव विश्रान्ति रतोऽन्यव्यपोहे तात्पर्य्याभावात् परिसंख्यातो भेदः। नचेदमनुमानं, साध्यसाधनयो र्द्वयो र्निर्द्देश एव तदङ्गीकारात् । न च काव्यलिङ्गं, उत्तरस्य प्रश्नं प्रत्यजनकत्वात् ।। उत्तरं ।।५४।।

'दण्डापूपिकयान्यार्थागमोर्थापत्ति रिष्यते'।

'मुषिकेण दण्डो भक्षित' इत्यनेन तत्सहचरितं अपूपभक्षणमायातं भवतीति नियतसमानन्यायादर्थान्तरमापततीत्येष न्यायो दण्डापूपिका। अत्र क्वचित् प्राकरणिकादप्राकरणिकार्थस्य पतनं, क्वचिदप्राकरणिकात् प्राकरणिकस्येति द्वौ भेदौ। क्रमेणोदाहरणं —

---

से भी वह होता है, वह वह क्या है ? व्रजराज नन्दन श्रीकृष्ण है। यहाँ कथन से ही अर्थ प्रतीति होती है, अपर का निषेध में तात्पर्य नहीं है। अतः परिसख्या से इस का भेद हुआ। अनुमान में इस का अन्तर्भाव नहीं है, साध्यसाधन दोनों का निर्देश से ही अनुमान होता है, काव्यलिङ्ग में भी अन्तर्भाव नहीं होगा, प्रश्न के प्रति उत्तर जनक नहीं है। उत्तरम् ।।५४।।

एक की उक्ति से अन्य की प्रतीति से अर्थापत्ति नामक अलङ्कार का वर्णन करतेहैं, दण्डापूपिका नामक न्याय से अन्य अर्थ का आगम प्रतीति से अर्थापति अलङ्कार होता है,-अर्थ का अन्यार्थ की आपत्ति आपतन, अर्थापत्ति है। मूषिक ने दण्ड भक्षण किया" यह न्याय नीति है, दण्ड के उपरिभाग में पिष्टक रखा हुआ था, उस को मूषने खाया, पुछने पर उत्तर में कहा गया मूषिक ने दण्ड को खाया, समझ ने वाले ने समझा, दण्ड को जब खाया तब पिष्टक को अवश्य खायेगा, पिष्टक खाना सहज है, दण्ड को खाना कठिन है, इस की सिद्धि बुद्धि से उस के सदृश अन्य की सिद्धि बुद्धि हो दण्डापूपिका नीतिहै। यहाँपर प्राकरणिक से अप्राकरणिक का ज्ञान, अप्राकरणिक से प्राकरणिक का ज्ञान होने से दो प्रकार अर्थापत्ति अलङ्कार होतेहैं।

'गोष्ठाधीशसुतस्य सा नव नव प्रेष्ठस्य यावद्दृशोः
पन्थानं वृषभानुजा सखि वशीकारौषधिज्ञा ययौ ।
तावत्त्वय्यपि रुक्षमस्य बलवद्दाक्षिण्य मेवेक्ष्यते
का चन्द्रावलि देवि दुर्भगतया दूनात्मानं नः कथा ?'

'रसादिकानां धृतिधर्मबद्धं मनो हृतं कृष्णगुणैः सुदूरात् ।
दशेयमासामपि चेत्तदैता व्रजाङ्गनाः काः प्रणयार्द्र चित्ताः ॥'

श्लेषमूलत्वे वैचित्रीविशेषो यथा—

'मुक्ता अपि प्रजायन्ते यत्र कृष्णप्रभावतः ।
देहिनां तत्र जन्मेति न चित्रं कृष्णकानने ।

अत्र मुक्ता शब्दः श्लिष्टः । न चेयमनुमानं, समानन्यायस्य सम्बन्धाभावात् ॥ अर्थापत्तिः ॥५५॥

---

नव नव प्रेष्ठ नन्दनन्दन के नेत्रगोचर वशीकारौषधिज्ञा वृषभानुजा जब होती है, तब तो तुम्हारे प्रति भी उनका बलवद् दाक्षिण्य रुक्ष मालुम होता है,हे चन्द्रावलि ! देवि ! दुर्भाग्य के कारण व्यथित होना क्या है,यही दशा जब तुम्हारी है, तब हमारी बात ही क्या है ?

कृष्ण के गुणों से दूर से भी रसादि धृति धर्मबद्ध मनका हरण होता है, यह दशा तो हम सब की है, और व्रजाङ्गना तो प्रणयार्द्र चित्ता है ।

**श्लेष मूलक वैचित्री विशेष का उदाहरण**—जहाँ कृष्ण के प्रभाव से कृष्ण कानन में मुक्तों का भी जन्म होता है, देही का वहाँ जन्म होगा, इस में आश्चर्य किया है ? यहाँ मुक्तशब्द में श्लेष है, अनुमान से ही उक्त ज्ञान सम्भव है, अर्थापत्ति मानने की आवश्यकता क्या है ? अनुमान से अर्थापत्ति ज्ञान होना सम्भव नहीं है, सम्बन्ध रूप नहीं है, व्याप्ति ज्ञान नहीं है, एक की सिद्धि से उसके सदृश अपर की सिद्धि बुद्धि समान न्याय है, व्याप्ति—साध्य साधन का सामानाधिकरण्य विशेष है । नियत धर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः । अतः व्याप्तियुक्त अनुमान से समान न्याय प्रयुक्त अर्थापत्ति का भेद है । अर्थापत्तिः ॥५५॥

**'विकल्प स्तुल्यबलयो र्विरोध श्चान्तरा यतः ।'**

**यथा—नादव्याजात् क्षिपसि कठिने गारली मामृतीं वा**

**धारा वंशि प्रणय सखि नो जीवनं वा मृतिं वा ।**

**ताभ्यां नान्यां वितरविषमां हा दशामत्यसह्यां**

**गोप्यः कृष्णप्रणयविकला वंशिकामित्थमाहुः ॥**

**अत्र श्लिष्टता जीवन-मरणयोश्चैकदा कर्त्तुमशक्यत्वाद् विरोधः । स्वतन्त्रत्वात् तुल्यबलत्वञ्च । एवं—**

---

प्रकरण प्राप्त क्रम से विरोध नामक अलङ्कार का वर्णन करते हैं। तुल्यबल-समकक्ष पदार्थ का विरोध विप्रतिपत्ति अन्तराय से होने पर विकल्प अलङ्कार होता है, विरोधाभास में विरोध को अवास्तव रूप से प्रतीति होतीहै, एक पक्ष का अवलम्बन से समाधान होता है, यहाँपर भी विकल्प संज्ञा है, अतः विरुद्ध कल्प पक्ष जहाँ है, उसे विकल्प कहते हैं। दृष्टान्त—हे वंशि ! प्रणयसखि ! निनाद के छल से कठिन अवस्था में डाल देती हो, गरल अथवा मृत्यु को देती हो, अथवा मृत्यु अथवा जीवन देती हो, अपर को इस प्रकार अति असहनीय विषम अवस्था प्रदान न करो, गोपीगण कृष्णप्रणय विह्वल होकर वंशिका को इस प्रकार कह रही थी। यहाँ श्लिष्टता यह है कि—जीवन मरण का संघटन एक साथ करना असम्भव है, अतः विरोध है, स्वतन्त्र होने से तुल्यबल भी है, इस प्रकार श्लेष घटित वैचित्री का उदाहरण—

**भक्ति प्रह्व विलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी**

**ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये ।**

**लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वती**

**युष्माकं कुरुतां भवार्त्तिशमनं नेत्रेतनु र्वा हरेः ॥**

यहाँ श्लेष होने से चारुता है, हरे विष्णु के नयन युगल, तनु शरीर भक्तों का सांसारिक दुःख शमन करें। एक का भवार्त्ति शमन करने से अन्य का करना असम्भव के कारण विरोध है, एकतर का अवलम्बन से समाधान होता है, उभय का भवार्त्ति शमन में सामर्थ्य

'युष्माकं कुरुतां भवार्त्तिशमनं नेत्रे तनु र्वा हरेः ।
अत्र श्लेषावष्टम्भेन चारुत्वं ।

'दीयतामर्जितं वित्तं देवाय ब्राह्मणाय वा'—इत्यादौ चारुत्वाभावा-न्नायमलङ्कारः ।। विकल्पः ।।५६।।

**समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्य्यस्य साधके ।**
**खलेकपोतिका-न्यायात्तत्कर स्तत्परोऽपि चेत् ।।**
**गुणौ क्रिये वा युगपत् स्यातां यद्वा गुणक्रिये ।**

यथा—'प्रेमा प्रमाणरहितोऽनुपमा गुण-श्रीः
सौन्दर्य्य-सम्पदसमा रुचिरं च शीलं ।
तारुण्यमद्भुततमं सखि ! राधिकायाः
कृष्णः कथं न भविता वशगो गुणज्ञः ।।'

---

होने के कारण तुल्यबलत्व है । दीयतामर्जितं वित्तं देवाय ब्राह्मणाय वा " अर्जित वित्त देवता को, अथवा ब्राह्मण को दो, । इस कथन में चारुता का अभाव से विरोधालङ्कार नहीं हुआ है । विकल्पः।५६।

अविरुद्ध पदार्थों का युगपद् वर्णन से कारण समुच्चय का निरूपण करते हुये सब प्रकार समुच्चय अलङ्कार का वर्णन करते हैं, धान्यादि मर्दन का स्थान खल है, (खोला खामार) उस में एक साथ सब कबूतर जिस प्रकार आते रहते हैं, उस प्रकार सकल पदार्थ का बोध युगपत् होने से खले कपोतनीति होती है ।

**वृद्धा युवानः शिशवः कपोताः खले यथामी युगपत् पतन्ति ।**
**तथैव सर्वे युगपत् पदार्था परस्परेणान्वयिनो भवन्ति ।**

कार्य का एक साधक से यदि कार्य सिद्ध होता है, तब यह समुच्चय अलङ्कार होगा । यह एक प्रकार है । जहाँ गुणद्वय क्रियाद्वय अथवा एक गुण, एक क्रिया हो वहं भी समुच्चय अलङ्कार होगा । यह तीन प्रकार है, इस प्रकार समुदाय से चतुष्प्रकार हैं, उक्त कारणों का परस्पर अन्वय से समुच्चय होता है । उदाहरण—

हे सखि ! राधिका में प्रमाण रहित प्रेम, अनुपमगुण श्री,

सोऽयं सद्योगेऽसद्योगे सदसद्योगे च—तत्र सद्योगे उक्तोदाहरणं

"संसार–मार्गो ह्यधमः स्वभावात् कर्माणि तस्मिन् कटुकण्टकानि ।
गतागताभ्यामिह खेद एव तथापि नास्मिन् कुजनो विरज्येत् ।।"

सदसद्योगे यथा—

'नृपो न हरिसेविता व्ययकृती न हर्य्यर्पकः
कवि र्न हरिवर्णकः श्रुतगुरु हर्य्यात्मकः ।
गुणी न हरितत्परः सरसधी र्न हर्य्याश्रयः
स न व्रजरसानुगो मनसि सप्त शल्यानि मे ।।'

'अरुणे राधे ! नयने तव मलिनं च प्रियस्य मुखं ।
मुखमानतञ्च सखि ते ज्वलितश्चास्यान्तरे स्मरज्वलनः ।।
अत्राद्यार्द्धे गुणयो र्यौगपद्यं, द्वितीयार्द्धे क्रिययोः ।

---

लक्ष्मी के समान सौन्दर्य, मनोहर चरित्र, अद्भुततम तारुण्य है, अतः गुणज्ञ कृष्ण क्यों नहीं उन से वशीभूत होंगे ? यह सद्योग से असद् योग से सदसद् योग से होता है, उक्त उदाहरण सद् योग का है ।

**असद् योग का उदाहरण—**

संसार मार्ग सर्वथा अधम है, उस में स्वभाव से ही कर्म समूह कटु कण्टक के समान है, बारम्बार जन्म मरण से अनेक क्लेश हैं, तथापि कुजन उस से विरत नहीं होता है ।

**सदसद् योग का उदाहरण—**

राजा होकर भी कृष्ण का सेवक नहीं बना, दानी होकर भी हरि को अर्पण नहीं किया, कवि है—किन्तु हरि की वर्णना नहीं की, गुरु से पढ़ा किन्तु हरि को आत्म समर्पण नहीं किया, गुणी है, किन्तु हरितत्पर नहीं है । सरस बुद्धि है किन्तु श्रीहरि के आश्रित नहीं हैं । वह भी व्रज रसानुग नहीं है, यह सात् मेरे मन के शल्य के समान हैं । हे राधे ! तुम्हारे नयन युगल अरुण हैं, तुम्हारे प्रिय का मुख मलिन है, तुम्हारे मुख नत है, तुम्हारे प्रियका अन्तर स्मर की ज्वाला से ग्रस्त है । इस में प्रथमार्ध में गुणद्वय का यौगपद्य है, द्वितीयार्ध में क्रियाद्वय का यौगपद्य है । उभय यौगपद्य का उदाहरण-

उभय-यौगपद्ये यथा—

'शोणञ्च राधे चक्षु स्ते मयि मिथ्यापराधिनि ।

पतन्ति च प्रसूनेषो रेते ज्वरतराः शराः ॥'

'धूनोति चासिं तनुते च कीर्त्ति' मित्यादावेकाधिकरणेप्येष दृश्यते । न चात्र दीपकं । एते हि गुणक्रिया-योगपद्ये समुच्चय--प्रकाशाः नियमेन कार्य्यकारण कालनियम---विपर्य्ययरूपातिशयोक्ति---मूलाः । दीपकस्य चातिशयोक्तिमूलाभावः ।। समुच्चयः ।।५७।।

'समाधिः सुकरे कार्य्ये दैवाद्वस्त्वन्तरागमात् ।'

यथा—राधिकाया मानशान्त्यै पादयो र्मे पतिष्यतः ।

उपकाराय दिष्टेचदमुदीर्णं घन-र्गजितम् ॥

समाधिः ।।५८।।

---

हे राधे ! तुम्हारे नयन शोण वर्ण के हैं, मं तो मिथ्यापराधी हूँ, मेरे ऊपर कन्दर्प का शाणित शर गिर रहा है ।" असि कम्पित होता है, और कीर्त्ति का विस्तार होता है, यहाँ एकाधिकरण में भी समुच्चय होता है । यहाँ दीपक अलङ्कार नहों है, यह गुणक्रिया का यौगपद्य से समुच्चय प्रकाश है, नियम स कार्य कारण कालनियम विपर्ययरूप अतिशयाक्तिमूला है,दीपक अतिशयोक्ति मूलक नहीं होता है । समुच्चयः ।।५७।।

एक कारण घटित समाधि नामक अलङ्कार का वर्णन करते हैं, ईश्वरेच्छा से कारणान्तर उपस्थित होकर कार्य सिद्धि होने से समाधि नामक अलङ्कार होता है ।

प्रारब्ध कारण से दुष्कर कार्य्य निष्पन्न न होने से यदि ईश्वरेच्छा से प्राप्त कारण से वह होता है तो उसे समाधि अलङ्कार कहते हैं । अतएव काव्य लिङ्ग से यह भिन्न है । दैव प्राप्त कारण से कार्य्य समाधान से समाधि संज्ञा होती है । उदाहरण—
मान शान्ति के लिए राधिका के चरणों में गिरने वाले का उपकार करने केलिए भाग्यसे घन गर्जन ही मान प्रशमन का कारण बनगया ।

**प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतीकारे रिपो र्यदि ।**

**तदीयस्य तिरस्कार स्तस्योत्कर्षस्य साधकः ।**

तस्य रिपोरेव । यथा—

कृष्णस्य सौन्दर्य्यभरै विनिर्जितः कामोऽस्य किञ्चित् प्रतिकर्तुमक्षमः ।

राधामिह प्रीतिमतीं विनिर्णयं स्तां बाधतेऽद्धा तदगोचरेऽबलाम् ॥

प्रत्यनीकम् ॥५९॥

**'प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्व-प्रकल्पनं ।**

**निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥'**

क्रमेणोदाहरणं—'मुरहर कविलोकः सुष्ठुवैदग्धमुग्धः
शिव शिव भुवि भद्राभद्रभावेऽनभिज्ञः ।
तव विगतकलङ्केनाननेनैव योऽयं
शशिनमुपमिमीते नैव लज्जां करोति ॥

---

गया । समाधिः ॥५८॥

अभीष्ट कार्य दुष्कर होने से प्रत्यनीक अलङ्कार होता है । रिपु का दमन करने में असमर्थ होकर रिपु पक्ष का तिरस्कार करना और उस से रिपु का उत्कर्ष होने पर प्रत्यनीक अलङ्कार होता है, उससे रिपु का ही उत्कर्ष साधक होने से, उदाहरण—कृष्ण सौन्दर्य से पराजित होकर कामदेव उनका कुछ भी कर न सका, किन्तु राधा को प्रीति मती अबला जानकर कृष्ण के विरह में कामदेव उनको दुःख देता है । प्रत्यनीकम् ॥५९॥

प्रत्यनीक का उदाहरण के द्वितीयार्ध में प्रतीपालंकार का प्रसङ्ग होने से प्रतीपालङ्कार का वर्णन करते हैं । लोक में विख्यात उपमान की कल्पना उपमेय रूप से अथवा उपमान को निष्फल कहने से प्रतीप नामक अलङ्कार होता है । यह दो प्रकार हैं । प्रसिद्ध उपमान का उपमेय रूप से वर्णन से प्रतीप प्रतिकूल होता है, यह प्रथम प्रकार है । द्वितीय प्रकार में उपमान को निष्फल सूचित करने से प्रतीप, प्रतिकूल होता है ।

'निर्माय राधा-वदनं विधात्रा दृष्ट्वाम्बुजेन्दू बहुदोषपूर्णौ ।
अशुद्धतां व्यञ्जयता तयो स्तौ कृतौ द्विरेफाङ्कमसीविलिप्तौ ।।'

अत्र राधा-वदनस्यैव तत्तच्छोभातिशयाश्रयणात् तयो निष्कलङ्कत्वं ।

उक्त्वा चात्यन्तमुत्कर्षमत्युत्कृष्टस्य वस्तुनः ।
कल्पितेऽप्युपमानत्वे प्रतीपं केचिदूचिरे ।।

यथा—मम वदनमेव नयनानन्दकमिति मा कृथाः सुतनु गर्वं ।
अपरोऽपि कश्चिदेवं राकायां शरदि शीतांशुः ।।

अत्र नयनानन्दमुत्कर्ष उक्त स्तदनुक्तं नायमलङ्कारः । यथा—ब्रह्मेव ब्राह्मणो वदतीत्यादि ।। प्रतीपं ।।६०।।

'मोलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित्तुल्यलक्षणा ।'

अत्र समान-लक्षणं वस्तु क्वचित् सहजं,'क्वचिदागन्तुकं । क्रमेणोदाहरणं-

---

क्रमश उदाहरण—हे मुरहर ! कविलोक मुण्ठुवैदग्धमुग्ध है, शिव शिव पृथिवी में भद्र अभद्र के विषय में वह अनभिज्ञ है, तुम्हारे कलङ्क हीन आनन के साथ शशी का उदाहरण देते हैं, इस से वे लज्जित नहीं होते हैं ।

विधाता ने राधा वदन को रचकर अम्बुज और चन्द्र को अनेक दोष पूर्ण देखा, उन दोनों को अशुद्ध घोषित करने के लिए कमल को भ्रमर से चन्द्र को कलङ्क से चिह्नित कर दिया ।

यहाँ राधा वदन ही अत्यधिक शोभा मण्डित है, उत्तम रहते हुए अधम की आवश्यकता नहीं है । अतः चन्द्र कमल निष्फल है । अत्युत्कृष्ट वस्तु का अत्यन्त उत्कृष्टत्व की कल्पना करके अथवा उपमान रूपसे कल्पना करके प्रतीप अलङ्कार होता है,यह मत, किसी का है । मेरा वदन ही नयनानन्ददायक है, इस प्रकार गर्व न करो दूसरा भी कोई है, शारदीय पूर्णिमा का चन्द्र को देखो । यहाँ नयनानन्द का ही उत्कर्ष है, उस के बिना अलङ्कार नहीं होगा । जिस प्रकार ब्रह्मा के समान ब्राह्मण को कहते हैं । प्रतीपः ।।६०।।

मोलित-मुद्रित, यत् किञ्चित् वस्तु भिन्नवस्तु के द्वारा तिरोहित

वक्षस्युरोजमदलक्षणमम्बुदाभे लाक्षाङ्कपालिरलिके गिरिधातुचित्रे ।
राधालयादुपगतस्य हरेः प्रभाते कश्चिन्न नीति-निपुणैरपि पर्य्यचायि ॥

अत्र प्रथमपादे वक्षस अम्बुदाभा सहजा, द्वितीयपादे गिरिधातुचित्र-मागन्तुकं ॥ मीलितं ॥६१॥

**'सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशै र्गुणैः ।'**

यथा—द्विरद-रदन-क्लृप्ते चारु पर्य्यङ्कराजे
रचित मृदुलतल्पे मल्लिकापत्रिकाभिः ।
शशि-किरणविधौते प्राङ्गणे निर्विताने
जयति निरवलम्बस्वापशालीव कृष्णः ॥

---

होने से मीलित संज्ञा होती है, वस्तु का प्रतिरूप होने से जिस प्रकार प्रतीप अलङ्कार होता है, उस प्रकार वस्तु का अनुरूप होने से मीलित अलङ्कार होता है, उस का लक्षण—तुल्य लक्ष्म चिह्न है जिस का ऐसी अनुपम वस्तु के द्वारा तुल्य रूप वस्त्वन्तर की गुप्ति-गोपन तिरस्कार से मिलित नामक अलङ्कार होता है, उत्कृष्ट गुण के द्वारा निकृष्ट गुणका आच्छादन से मिलित अलङ्कार होता है, व्याजोक्ति में प्रकशित वस्तु का व्याज से गोपन की चेष्टा होती है, किन्तु गोपन नहीं होता है, यहाँ अव्याज से ही चेष्टा के विना ही गोपन होता है, यह ही दोनों में भेद का हेतु है । उदाहरण—

यहाँ समान लक्षण वस्तु कहीं पर स्वाभाविक है, कहीं पर आगन्तुक है । क्रमेण उदाहरण—श्रीराधा के आलय से प्रभात के समय कृष्ण का आगमन होने से कोई नीतिज्ञ व्यक्ति भी उन को पहचान नहीं पाया, नील वक्षःस्थल में वक्षोज स्थित कुङ्कुम का चिह्न, चरण स्थित यावक का चिह्न कपाल में गिरिधातु चिह्न के समान दिखाई देता था ।

यहाँ प्रथम पाद में वक्षःस्थल का मेघ वर्ण होना स्वाभाविक है, द्वितीय पाद में गिरिधातु चित्र आगन्तुक है । मीलित ॥६१॥

सदृश गुणी के द्वारा प्रस्तुत विषय का अन्य के साथ तादात्म्य

यथा वा—'मधुलोभागतान् भृङ्गान् राधा कर्णासितोत्पले।
अज्ञास्यत् क स्तदा तेषां नास्थास्यद् यदि गुञ्जितम् ?

मीलिते उत्कृष्टगुणेन निकृष्ट--गुणस्य तिरोधानमिति, इह तूभयो स्तुल्यगुणतया भेदाग्रहः ।। सामान्यं ।।६२।।

'तद्गुणं स्वगुणत्यागात्युत्कृष्ट-गुणग्रहः ।'

यथा—राधायाः करपङ्कजे विनिहिता कौन्दी मुदा वृन्दया ।'
या माला लघुलोहितोत्पल--कुलस्रक् दीप्तिमेषा दधे ।
सूक्ष्मेन्दीवरमालरोचिरनया कृष्णस्य कण्ठेऽर्पिता
तेनास्या हृदि योजिता स पुलके चाम्पेयमाल्य-द्युतिम् ।।

मीलिते प्रकृते तस्य वस्तुनो वस्त्वन्तरेणाच्छादनं, इह तु वस्त्वन्तर-गुणेनाक्रान्तता प्रतीयते इति भेदः । तद्गुणः ।।६३।।

---

होना सामान्य अलङ्कार है।

हस्तिदन्त के मनोहर पालङ्कस्थ मल्लिका कुसुम पत्र की शय्या में चन्द्रातप विहीन चन्द्र किरण विधौत प्राङ्गण में कृष्ण निद्रासुख विभोर हैं। यथा वा—

राधाके नीलोत्पल रचित कर्णभूषण में मधु लोभ से भृङ्ग आगया था, वह गुञ्जन न करने से उसे कोई नहीं जान सकता ? मीलित अलङ्कार में उत्कृष्ट गुण के द्वारा निकृष्ट गुणों को ढाकना, सामान्य में दोनों का समानगुण होने से भेद प्रत्यय दोनों में नहीं होता है ।।६२।। सामान्यम् ।।

निज गुण का त्यागकर अत्युत्कृष्ट गुणका ग्रहण से तद्गुण अलङ्कार होता है।

उदाहरण—वृन्दाने श्रीराधा के हस्त में कुन्द की माला दी, किन्तु वह माला लघु लोहितोत्पल के समान हो गई, और कृष्ण कण्ठार्पिता सूक्ष्मेन्दीवर कान्ति की माला श्रीराधाको पहनाने से वह माला चम्पक पुष्प की द्युति की माला हो गई।

मीलित अलङ्कार में अन्यवस्तु के द्वारा वस्तुका आच्छादन;

'तद्गुणाननुकारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः ।'

यथा—नानृतं तव गोविन्द सस्नेहोऽस्मीति यद्वचः ।
यन्मे रागवति स्वान्ते निहितोऽपि न रज्यसि ।।

यथा वा—गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः ।
राजहंसं तव सैव शुभ्रता चीयते न च नचापचीयते ।।

पूर्वत्र रागयुक्तहृदय--निहितत्वात् प्राप्तवदपि गोविन्दस्य रक्तत्वं न निष्पन्नम् । उत्तरत्राप्रस्तुतप्रशंसायां विद्यमानायामपि गङ्गायमुनापेक्षया प्रकृतस्य हंसस्य गङ्गायमुनयोः सम्पर्केऽपि न तद्रूपता । अत्र च गुणाग्रहणरूपविच्छित्ति-विशेषाश्रयाद् विशेषोक्ते र्भेदः । वर्णान्तरोत्पत्त्यभावाच्च विषमात् । अतद्गुणः ।।६४।।

* संलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थः आकारेणेङ्गितेन वा ।

---

तद् गुण में अन्य वस्तु के गुण के द्वारा मण्डित होना है । तद्गुणः ।६३

तद्गुण का वैपरीत्य से अतद्गुण अलङ्कार होता है, हेतु होने पर भी परगुण ग्रहण करने की योग्यता सन्निधानादि होने पर भी पर गुण का अननुहार अग्रहण से अतद्गुण अलङ्कार होता है, उसमें अपर का गुण नहीं है, इस लिए अतद्गुण अलङ्कार होता है । उदाहरण—हे गोविन्द ! तुम्हारे कहना सत्य है, तुम कहते हो मैं स्नेहवान् हूँ । कारण अनुरागपूर्ण हृदय में निहित होकर भी तुम उसमें अनुरक्त हो । अपर उदाहरण–गङ्गाजल शुभ्र, और यमुनाजल कृष्ण, राजहंस तुम तो दोनों में मज्जन करते रहते हो, किन्तु तुम्हारी शुभ्रता दिनों दिन बढ़ती रहती है, घटती नहीं ।

पूर्वत्र रागयुक्त हृदय में निहित होकर भी गोविन्द अनुरक्त नहीं हुए, उत्तर दृष्टान्त में अप्रस्तुत प्रशंसा विद्यमान होने पर भी गङ्गायमुना की अपेक्षा से प्रकृत हंसका गङ्गायमुना सम्पर्क से भी गुण ग्रहण नहीं हुआ । यहाँ गुणाग्रहण रूप विच्छित्ति विशेष का आश्रय से विशेषोक्ति यह भिन्न हुआ । वर्णान्तर की उत्पत्ति न होने से विषय से भी भिन्न हुआ । अतद् गुण ।।६४।।

**कयापि सूच्यते भङ्ग्या यत्र सूक्ष्मं तदुच्यते ।।**

सूक्ष्मः स्थूलमतिभिरसंलक्ष्यः । अत्राकारेण यथा—

राधायाः करकमले शिखण्डदलपक्ष्म लग्नमालोक्य ।
प्रातः सखी विदग्धा लिलेख तत्रैव कार्म्मुकं सशरं ।।

अत्र करलग्नाच्चन्द्रकात् सख्याः पुरुषायितं ज्ञात्वा तत्र पुरुषधार्य्ययोः धनुर्वाणयो र्लिखनेन तां प्रति तत् प्रकाशितं ।

इङ्गितेन यथा—

भवनप्राङ्गण सङ्गतमनङ्गरसमङ्गलं कृष्णं ।
सकृदवलोक्य सलीलं राधा पिदधेऽवगुण्ठनेन मुखं ।।

अत्र कृष्णेन पृष्टं सङ्केत समयमिङ्गितादेव विज्ञाय चन्द्रास्तमनशंसिना मुख-पिधानेन तं प्रति प्रकाशयामास ।

**'व्याजोक्ति र्गोपनं व्याजादुद्भिन्नस्य तु वस्तुनः ।,**

यथा—कात्यायनी कुसुमकामनया कथम्वा
कान्तार—कुक्षिकुहरं कुतुकाद् गतासि ।

---

आकार—चित्रादि आकृति विशेष के द्वारा, इङ्गित-भ्रूनेत्रादि भङ्गी से सूचित सूक्ष्म बुद्धि वेद्य विषय परिवेषण प्रक्रिया को सूक्ष्मालङ्कार कहते हैं ।

सूक्ष्म—स्थूलमति वाले इस को समझने में असमर्थ है, सूक्ष्म बुद्धि वेद्य होने से इस की सूक्ष्म संज्ञा हुई है । उदाहरण-अत्राकारेण-राधा के कर कमल में मयूर पुच्छ को देखकर विदग्धा सखीने वहाँ पर सशर कार्म्मुक का अङ्कन किया है । यहाँ कर लग्न चन्द्रिका को देखकर सखी को पुरुषायित जानकर वहाँ पुरुषधार्य धनुर्वाण के लिख उनको वह प्रसङ्ग अवगत कर दिया ।

इङ्गित का उदाहरण—अनङ्ग रसमङ्गल कृष्ण को भवन प्राङ्गण में एकबार देखकर राधाने लीला से घूँघट से मुख को ढाक लिया । जब कृष्णने इङ्गित से सङ्केत समय जानना चाहा तो चन्द्रास्त काल को सूचित करने के लिए राधा ने निज मुखाच्छादन कर उसे सूचित कर दिया । सूक्ष्मम् ।।६५।।

सद्यस्तनं स्तनयुगे तव कण्टकाङ्कं
पत्युः स्वसा सखि ! सशङ्कमुदीक्षतेऽसौ ।।

यथा वा—अलमलमभिलाषेणामुना ते विशाखे
कुतुकिनि कमलानामाहृतेः कौतुकस्य ।
कलय कलितमङ्गं कण्टकं र्नाललग्नैः
शिव शिव परिदष्टं षट्पदेनाधरौष्ठं ।।

नेयं प्रथमापह्नुतिः । अपह्नवकारिणो विषयस्यानभिधानात् । द्वितीयापह्नवभेदस्तु तत् प्रस्तावे दर्शितः ।। व्याजोक्तिः ।।६५।।

## 'स्वभावोक्ति र्दुरूहार्थः स्वक्रिया रूपवर्णनम्'

दुरूहयोः कविमात्रवेद्ययोरर्थस्य डिम्भादेः स्वयो स्तदेकाश्रययोश्चेष्टारूपयोः ।

---

सूक्ष्म अलङ्कार में भङ्गी का उल्लेख होने से व्याज घटित व्याजोक्ति नामक अलङ्कार का वर्णन करते हैं, अयथार्थ कारण दिखाकर यथार्थ कारण का गोपन करना व्याजोक्ति है,उद्भिन्नस्यापि वस्तुन: कार्यद्वारा प्रकाशित पदार्थ का प्रकाश योग्य कारणाभिधान रूप छल से गोपन करना व्याजोक्ति नामक अलङ्कार है । उदाहरण-

कात्यायनी पूजन हेतु पुष्पलेने के लिए तुम कुतुक से बन को गई होगी, बन कण्ठक ने वक्षोज में व्रण कर दिया है । हे सखि ! पति की बहन शङ्का से देखती रहती है ।

**द्वितीय उदाहरण—**

हे विशाखे ! यथेष्ट हुआ है, ऐसा अभिलाष न करो, कमलों का आहरण कौतुक छोड़ो, देखो, कमलनाल से अङ्ग में व्रण हो गया है, शिवशिव ! भ्रमर ने भी अधर ओष्ठ में दंशन कर दिया है । यह प्रथमा अपह्नुति नहीं है । अपह्नव कारी विषय का अभिधान नहीं है । द्वितीयापह्नव भेद का कथन वहाँपर कहा गया है । प्रकृत का कथन न कर उसका प्रतिषेध सूचन पूर्वक अप्रकृत का स्थापन से व्याजोक्ति है । प्रकृत को कहकर उसका प्रतिषेध पूर्वक अप्रकृत का स्थापन से प्रथमा अपह्नुति होती है । व्याजोक्तिः ।।६६।।

यथा—आराज्जानुकरोपसर्पणपरो जातस्मितं सत्वर-
अङ्कारोहमनाप्लुवन् रुरुदिषा विम्लान-दीनाननम् ।
अभ्यासार्थमुपेक्षयापसरण-प्रक्रान्तया सत्वरं
कण्ठे न्यस्य यशोदया न न न नेत्याश्लेषि बालो हरिः ॥

यथा वा—जृम्भस्व तात मुखमाकलयामि दन्ताः
कत्युद्गता स्तव त इत्युदिते जनन्या ।
स्मित्वा विकाशितमुखस्य हरे र्जयन्ति
द्रोण-प्रसून--कलिका इव केऽपि दन्ताः ॥

स्वभावोक्तिः ॥६६॥

**प्रस्तुतस्य पदार्थस्य भूतस्यार्थं भविष्यतः ।**
**यत् प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम् ॥**

---

दुरूहार्थ घटित स्वभावोक्ति नामक अलङ्कार को कहते हैं। स्थूलबुद्धि वाले के लिए अगम्य, विज्ञजन गम्य अर्थ का केवल तत्तदगत स्वाभाविक चेष्टाओं का वर्णन से स्वभावोक्ति अलङ्कार होता है। स्वभावस्योक्तिर्यस्मिन्निति व्युत्पत्तिः। अथवा स्वभावोक्ति घटित त्वादेवास्य स्वभावोक्ति रिति संज्ञा। उदाहरण—यशोदा कृष्ण को चलने का अभ्यास करा रही थी, समीप में जानु एवं हाथ को चलाने के लिए यत्न परायण, मृदुमन्द मुसकराहट, यशोदाके अङ्कारोहण में व्यग्र, रोदन की इच्छासे विषण्ण एवं दीन आनन कृष्ण होगये थे, मा अभ्यास के लिए कुछ दूर हटकर खड़ी थी, किन्तु कृष्ण की वैसी अवस्था को देखकर मा ने सत्वर कृष्ण को उठाकर कण्ठ में लगा लिया और न न न न कहकर बालकको सान्त्वना देने लगी। यथा,—मा बोली, तात ! जिम्भाई लो, मैं मुख देखूँगी, कितने दाँत उगे हैं, मा के ऐसा कहने से बालक कृष्ण मुसकराकर मुख विकाश किया, और मा ने मुख विवर में द्रोण प्रसून कलिका की भाँति कुछ दन्तों को देखा। स्वभावोक्तिः ॥६६॥

प्राकरणिक दुरूहार्थ घटित भाविक नामक अलङ्कार का

क्रमेण यथा—त्यक्तालङ्करणांकालङ्कृतमङ्गं विलोक्य राधायाः ।
चिरमिव भेजु स्तम्भं तां नानालंचिकीर्षवः सख्यः ॥'

इदानीमेव राधाया भ्रू र्यथा गुणवत्यभूत् ।
तथा मन्ये स्मरस्येयं स्वं धनु स्त्याजयिष्यति ॥

---

वर्णन करते हैं, पाठ दो प्रकार है—रसामृत शेषमें—

प्रस्तुतस्य पदार्थस्य भूतस्यार्थभविष्यतः
यत् प्रत्यक्षाय माणत्वं तद् भाविकमुदाहृतम् ।

साहित्यदर्पण में—अद्भूतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः
यत् प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविक मुदाहृतम् ॥

प्रकरणप्राप्त भूत भविष्यत् पदार्थ का वर्णनाकौशल से प्रत्यक्षवत् प्रकाशमान होने से भाविक नामक अलङ्कार होता है। पदार्थ त्रिविध होने से अलङ्कार भी त्रिविध होते हैं।

भावेन कवेरभिप्रायविशेषेण संसृष्टमिति व्युत्पत्तिः। काव्य प्रकाश कृता तु भावः कवेरभिप्रायोऽस्तीति भाविकम् इत्युक्तम्। अत्रार्थे अयमपि नित्य ब्रह्मलिङ्गः शब्दः ॥'

**क्रमेण उदाहरण**—सखीगण राधा को अलङ्कारों से अलङ्कृत करने के लिए प्रयत्न शील थीं, किन्तु विना अलङ्कार से श्रीराधा के अङ्ग समूहको अलङ्कृत देखकर बहुत देरतक स्तम्भित हो कर रहीं। राधिका की भ्रू अभीतक जिस प्रकार गुणवती होकर है; इस से मानता हूँ कि—कामदेव की धनुष को छोड़वायेगी, यह प्रसादगुण नहीं है, भूतभविष्यत् पदार्थोंका प्रत्यक्षायमाण होने से ही वह गुण होता है, रसादिपुष्ट के प्रति प्रसादगुण हेतु है। यह अद्भुत रस भी नहीं है, अद्भुत रस विस्मय के प्रति हेतु होता है, श्रोताओं को विस्मित करता है, यह अतिशय अलङ्कार में अन्तर्भूत क्यों नहीं होगा, अप्रत्यक्ष अद्भुत का प्रत्यक्ष होने से, भूत भविष्यत् पदार्थ का प्रत्यक्ष होने से भी सम्भव का अतिक्रम से अयथार्थ की अप्रतीति से अतिशयोक्ति अलङ्कार होता है? इसप्रकार कहना सम्भव नहीं है। अध्यवसाय अभेद प्रतिपत्ति यहाँ नहीं है, अतिशय उक्ति उसका होना अनिवार्य्य है। अप्रत्यक्ष की प्रतीति प्रत्यक्षवत् होनेसे भ्रान्ति होती

न चायं प्रसादाख्यो गुणः, भूतभाविनोः प्रत्यक्षायमाणत्वे तस्या हेतुत्वात्। नचाद्भुतो रसः, विस्मयं प्रत्यस्य हेतुत्वात्। न चातिशयोक्ति रध्यवसायाभावात्। न च भ्रान्तिमान्, भूतभाविनो र्भूतभावितयैव प्रकाशनात्। न च स्वभावोक्ति स्तस्यालौकिक—वस्तुगत सूक्ष्मधर्म्मभावस्यैव यथास्वरूप-वर्णनं। अस्य तु वस्तुनः प्रत्यक्षायमाणत्वरूपो विच्छित्तिविशेषोऽस्तीति। यदि पुनः क्वचित् स्वभावोक्तावपि अस्याविच्छित्तेः सम्भव स्तदोभयोः सङ्करः।

अनातपत्रोऽयमत्र लक्ष्यते' सितातपत्रै रिव सर्वतोवृतः।
अचामरोऽप्येष सदैव वीज्यते' विलास-बालव्यजनेन कोप्ययं।

अत्र प्रत्यक्षायमाणस्यैव वर्णनान्नायमलङ्कारः। वर्णनावशेन प्रत्यक्षायमाणस्यैवास्य स्वरूपत्वात्। यत्र पुनरप्रत्यक्षायमाण-वर्णने प्रत्यक्षायमाणत्वं,

---

है, अतः भ्रान्तिमद् अलङ्कार इसको क्यों न कहा जाय ? अतस्मिन्स्तद्बुद्धि, भ्रान्तिका लक्षण है, यहाँ भ्रान्ति नहीं है, प्रत्यक्षायमाणत्व कहकर वास्तविक प्रत्यक्षभाव को सूचित किया गया है।

स्वभावोक्ति अलङ्कार इसे क्यों न कहा जाय ? स्वभावोक्ति अलङ्कार—लौकिक वस्तुगत सूक्ष्मबुद्धि वाले के लिए गम्य धर्मरूप स्वभाव का वर्णनसे होता है, किन्तु प्रत्यक्षायमाणत्व रूपसे नहीं। स्वरूप अवस्था को कहते हैं। भाविक अलङ्कार अद्भुत,भूतभविष्यत् पदार्थका विच्छित्तिविशेषको प्रकट करता है, स्वभावोक्ति अलङ्कार से यह भिन्न वैचित्र्य का प्रकाशक है, अतः स्वभावोक्ति अलङ्कार से यह भिन्न अलङ्कार होता है, वैचित्र्य भेदसे ही नामभेद होता है। यदि एकत्र स्वभावोक्ति विच्छित्ति एवं भाविक घटक विच्छित्ति हो तो वहाँपर अङ्गाङ्गि भाव से सङ्कर होगा।

आतपत्र न होने परभी सवत्र शुभ्र आतपत्रसे आवृत है, ऐसा प्रतीत होता है, चामर न होने परभी सदा विलास बाल व्यजन से वीजित होते हैं, यह कोई पुरुष हैं, यहाँ प्रत्यक्षायमाणका ही वर्णनसे अलङ्कार नहीं हुआ है, वर्णनके आवेशसे प्रत्यक्षायमाण स्वरूपका ही वर्णन हुआ, जहाँ अप्रत्यक्षायमाण का वर्णन में प्रत्यक्षायमाण होने

तत्रायमलङ्कारो भवितुं युक्तः। यथा 'स्वक्तालङ्कारेत्यादौ'। भाविकं ।६८।

**लोकातिशय सम्प्रत्ति वंस्तुनोदात्तमुच्यते।**
**यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महताञ्चरितं भवेत् ॥**

क्रमेण यथा—'कामं कामगवीषु नतरां कल्पद्रुमेष्वादरो
लोष्ट्राणीव लुठन्ति हन्त परित श्चिन्तामणीनां गणाः।
शम्बुका इव वापिका-परिसरे मुक्ताकिरः शुक्तयो
वीक्ष्यन्ते न जनै स्त्वमेव नगरि श्रीद्वारके निष्पृहा ॥'
'सेयं मथुरानगरी सुरगुरुभि र्याचितो भगवान्।
यत्रावतीर्य्य शतशः सुरद्विषो हेलया हतवान् ॥'

---

लगेगा, वहाँपर यह अलङ्कार होना स्वाभाविक है, जिस प्रकार प्रथमोदाहरण त्यक्तालङ्कार में है ॥( भाविकं ) ६८॥

सर्वथा यथावद् वस्तुका वर्णन से स्वभावोक्ति अलङ्कार होता है, यथा कथञ्चिद् यथावद् वस्तुका वर्णन से भाविक अलङ्कार होता है, किन्तु अयथावद् वस्तु वर्णन से उदात्त अलङ्कार होता है, उसका वर्णन करते हैं, लोकको अतिक्रम कर—अर्थात् लोकमें असम्भव जो सम्पत्ति धन रत्नादि समृद्धिका वर्णन उदात्त नामक अलङ्कार से होता है। यद्यपि महत् का चरित वर्णन प्रस्तुत वर्णन का अङ्ग सम्पादक हो तो उसेभी उदात्त अलङ्कार कहा जायेगा, अतएव यह भी द्विविध है। अतिशयोक्ति—अध्यवसाय मूला होती है, यह उस-प्रकार नहीं है। लक्षण में "महतां" बहुवचन, अविवक्षित है।

**क्रमेणोदाहरणम्—**

श्रीद्वारका नगरी में, कामधेनुके प्रति न तो आदर, और कल्पद्रुम का समादर भी नहीं है, डेल की भाँति चिन्तामणि लुड़कती रहती है, उसकी वात ही क्या कहें। शम्बुक के समान मुक्तायुक्त शुक्तिगण जलाशय में हैं, लोक उनसबों के प्रति कुछभी ध्यान नहीं देते हैं, केवल आपको ही देखते हैं।

उस मथुरा पुरी है, जहाँ सुरगुरुओं की प्रार्थनासे भगवान् अवतीर्ण होकर अनायास ही सुरविद्वेषीओं को मार डाले थे, यहाँ प्रस्तुत

अत्र प्रस्तुत-नगरानगर-वर्णनभगवच्चरित्रं अङ्गतां प्राप्तं ।। उदात्तं ।६६।

——***——

**रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशम स्तथा ।**
**गुणीभूतत्वमायान्ति यदालङ्कृतय स्तदा ।।**
**रसवत् प्रेय उर्जस्वि समाहितमिति क्रमात् ।**

तदाभासौ रसाभासो भावाभासश्च । तत्र रसयोगाद् रसवद् अलङ्कारो यथा—

सख्यं विचित्रं सुबलादिकां कृष्णस्य विज्ञाय निगूढ़तृष्णां ।
शय्यां निकुञ्जे विरचय्य यत्नादानीय कान्तां रमयन्त्यमुं ये ।।

अत्र सख्य-रसस्याङ्गं भृङ्गारः । यथा वा—

धन्यं वृन्दारण्यं यस्मिन् विलसति स वर-रमणीभिः ।
प्रतिकुञ्जं प्रतिपुलिनं प्रतिगिरिकन्दरमसौ कृष्णः ।।

---

नगरानगर वर्णन का भगवत् चरित्र अङ्ग हुआ है । उदात्त—।।६६।।

रसवदादि अलङ्कार चतुष्टय का वर्णन करते हैं । रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम, भावशान्त, ये जब गुणीभूत होते हैं, अर्थात् अपर रसकी अपेक्षा अप्रधानत्व होते हैं,तो रसवत् प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित नामक चार अलङ्कार क्रमश होगा । यहाँ आभास रूपसे रसाभास भावाभास का एकरूपसे ही उल्लेख हुआ है, जिससमय एकरस अपर रस भावादि का अङ्ग होता है, तब प्रेयो रसवन्नामालङ्कार होगा । जब एक भाव अपर भाव-रसादि का अङ्ग होगा, तब प्रेयो नामालङ्कार होगा, जब रसाभास, भावाभास, रस भावादि का अङ्ग होगा, तब ऊर्जस्वि नामालङ्कार होगा, जब भावका प्रशम, रस भावादिका अङ्ग होगा, तब समाहित नामक अलङ्कार होगा, उक्त चतुष्टय अलङ्कारों के मध्यमें रसके योगसे रसवदलङ्कार का उदाहरण—। रसोऽस्यास्तीति रसवत् प्रशस्तार्थे मत्वर्थीय वतु प्रत्यय, रसान्तरसे पुष्ट होनेसे रसका प्राशस्त्य होता है ।

सुबल प्रभृतियों का विचित्र सख्य है, कृष्ण की निगूढ़ तृष्णाको जानकर—निकुञ्जमें शय्या रचनाकर यत्नपूर्वक कान्ताको लाकर

अत्र बनवर्णनभावस्याङ्गं शृङ्गारः ॥ रसवत् ॥७०॥



'प्रकृष्टप्रियत्वात् प्रेयः।

यथा—कान्ताङ्गसङ्गम-विलग्न-विलेपनानि
शष्पेषु भान्ति पतितानि हरेः पदाब्जात्।
आलिप्य यानि हृदये विजहुः पुलिन्द्य
स्तद्वेणुगीत-मुखदर्शन-कामजाधि॥

अत्र शुचे रङ्गं पुलिन्दीनां भावः।

यथा वा—वृन्दावनमतिपुण्यं यस्मिन् कुसुमस्मितैः फलोरोजैः।
पल्लवकुलाधरैरपि सुखयति कृष्णं लतापालिः॥

अत्र बनवर्णने भावस्यङ्गं लतानां भावः॥ प्रेयः ॥७१॥



'ऊर्जो बलमनौचित्यप्रवृत्तौ तदत्रास्तीति ऊर्जस्वि।'

---

रमण कराते हैं। यहाँ सख्य रसका अङ्ग है शृङ्गार। यथा वा—वृन्दाबन ही धन्य है, जिसमें वर रमणीओं के साथ कृष्ण प्रतिकुञ्ज, प्रतिपुलिन, प्रतिगिरिकन्दर में विलास करते हैं। यहाँ बन वर्णन भावका अङ्ग शृङ्गार है॥ रसवत् ॥७०॥

भाव अपरका अङ्ग होनेसे प्रेय होता है, उसकी व्युत्पत्ति कहते हैं।

प्रकृष्ट प्रियत्वात् प्रेयः। उदाहरण—

श्रीहरिके चरणों से प्राप्त विलेपन घासों में गिरा हुआ था, जो विलेपन कान्ताङ्ग सङ्गमविलग्न था, पुलिन्द्य रमणीगण जिसका विलेपन कर वेणुगीत मुखदर्शन कामजाधि को प्राप्त किये थे। यहाँ शृङ्गार रसका अङ्ग पुलिन्द रमणीओं का भाव है। यथा वा—वृन्दाबन, अति पवित्र है, जिसमें लता समूह कुसुमित-फल-उरोज-पल्लवकुलाधर के द्वारा कृष्ण को सुखी करतीं हैं। यहाँ बन वर्णनमें भाव का अङ्ग है, लताओं का भाव। प्रेयः ॥७१॥

अनौचित्य प्रवृत्तिमें ऊर्ज बलवत् होता है। यथा—गिरिकन्दरा

यथा—शुशुभु रचलदर्य्यो यासु लीनं रमण्यो
हरिहत-दनुजानां चण्डरण्डाः पुलिन्दैः ।
अशनसुरतसत्रैः पोषिता स्तोषिता स्तैः
सहकृतगुणगानैः श्रीहरिं ता स्तुवन्ति ॥

अत्र गिरि-वर्णनभावस्याङ्गं परस्त्रीरतिरूप-रसाभास स्तदङ्गं शत्रुकृत-शत्रुस्तुतिरूपभावाभासः ऊर्जस्वि ॥७२॥



## 'समाहितं परिहारो', यथा—

देवेन्द्रजित्सु पृथुकात् पृथुकोपमाङ्गी रस्मासु सत्सु न तवेति गिरा सुराणां ।
कंसस्य यो हृदि मदः स तु तेषु सर्व्वे-ष्वाप्तेषु तत्पृथुकतां क्व गतो न जाने ॥

अत्र वीररसे मदाख्यव्यभिचारि भावस्य प्रशमोऽङ्गं । समाहितं ॥७४॥



गुणीभूताश्चेत् तदा भावोदय-भावसन्धि-भावशबलत्व-नामानोऽलङ्काराः क्रमेण यथा—

---

हरिहत दनुजों की स्त्रीयों से पूर्ण है, पुलिन्दगण उन सबके साथ विहार करते हैं, एवं सह गान स्तुति के द्वारा श्रीहरि की स्तुति करते हैं, यहाँ गिरिवर्णन भाव का अङ्ग परस्त्रीरतिरूप रसाभास है, उसका अङ्ग शत्रुके द्वारा अनुष्ठित शत्रुस्तुतिरूप भावाभास है, ऊर्ज्जस्वि ॥७२॥

परिहार समाहित है— इन्द्रविजयी बालक से बालकोपमा दी जाती है, हम सब रहते ऐसी नहीं हो सकती है, यह कथन देवताओं की वाणी से जानना होगा । कंस के हृदय में जो मद था वह कहाँ गया नहीं जानता हूँ । उसके आप्तवर्गको अनुभव हुआ होगा । यहाँ वीररस में मदाख्य व्यभिचारि भावका प्रशम अङ्ग है ।
समाहितम् ॥७४॥

गुणीभूत होनेसे भावोदय, भावसन्धि, भावशबलत्व नामक अलङ्कार होता है,क्रमेण उदाहरण—हे धर्मराज ! आपका भाई भीम,

धर्मराज तव भ्रातुर्गान्धारीतनया शतं ।
भीमेति नाम श्रवणाल्लेभिरे विषमां दशां ।।

अत्र त्रासोदयो राजविषयरति-भावस्यांगं ।। भावोदयः ।।७५।।

जन्मान्तरीण-रमणस्याङ्ग-सङ्गसमुत्सुका: ।
सलज्जा चान्तिके सख्या: पातु नः पार्व्वती सदा ।।

अत्रौत्सुक्य-लज्जयोः सन्धिः देवताविषयरत्यङ्गं । भावसन्धिः ।।७६।।

पश्येत् क्वश्चिच्चल चपल रे का त्वराहं कुमारी
हस्तालम्बं वितर ह ह हा व्युत्क्रमः क्वासि यासि ।
इत्थं धर्मात्मज नृपभवद्विद्विषो वन्यवृत्तेः
कन्या कश्चित् फलकिशलयान्याददानाऽभिधत्ते ।।

अत्र शङ्कासूयाधृति-स्मृति-श्रम-दैन्य-विरोधौत्सुक्यानां शवलता राज-विषयरतिभावस्याङ्गं ।

इह केचिदाहुः—'वाच्यवाचकरूपालङ्करणमुखेन रसाद्युपकारका एवालङ्काराः। रसादयस्तु वाच्यवाचकाभ्यामुपकार्य्या एवेति न तेषामलङ्कारता भवितुं युक्तेति। अन्ये तु रसाद्युपकारत्वमात्रेणालङ्कार-व्यपदेशो भाक्त

---

यह नाम सुनकर ही गान्धारी के शतपुत्र विषम दशाको प्राप्त करते हैं। यहाँ त्रासादि राजविषय रति भावका अङ्ग है, भावोदयः ।७५।।

जन्मान्तरीण रमण का अङ्ग सङ्गके लिए समुत्सुका पार्वती सखीके समीप में सदा लज्जाशीला रहती है।

यहाँ औत्सुक्य लज्जा की सन्धि, देवता विषय रतिका अङ्ग है। भावसन्धिः ।।७६।।

हे नृप धर्मात्मज ! आपके शत्रुपक्ष आपके प्रभावसे वन्यवृत्ति को अवलम्बन करचुके हैं। शत्रुपक्ष की कन्या फल किशलय दल संग्रह परायणा होकर इस प्रकार कहरही थी। कोई देख लेगा, चपल जल्दी से क्या प्रयोजन है ? मैं तो कुमारी हूँ। हात पकड़ने दो, हा हा हा, व्युत्क्रम से कहाँ जारहे हो। तुम कहाँ हो। यहाँ शङ्का असूया, धृति, स्मृति, श्रम, दैन्य, विरोध, औत्सुक्य प्रभृतियों को

श्चिरन्तन-प्रसिद्ध्याङ्गीकार्य्य एव इति। अपरे तु रसाद्युपकारमात्रेणालङ्कारत्वं मुख्यतः रूपकादौ वाच्याद्युपधानमजागलस्तनन्यायेनेति'। अभियुक्ता स्तु "स्वव्यञ्जक-वाचकवाच्याद्युपकृतं रङ्गभूतं रसादिभि रङ्गिनो रसादे र्वाच्य-वाचकोपस्कार-द्वारेणोपकुर्वद्भिरलंकृतिव्यपदेशो लभ्यते। समासोक्तौ तु नायकादि-व्यवहारमात्रस्येवालंकृतिता,नत्वास्वादस्य तस्योक्तरीति-विरहादिति" मन्यन्ते। अतएव ध्वनिकारेणोक्तं—

**प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गानि रसादयः।**
**काव्ये तस्मिन्नलङ्कारा रसादिरिति मे मतिः॥**

---

शवलता राजविषयरतिभाव का अङ्ग है।

कुछ लोक रसवत् प्रभृति को अलङ्कार नहीं मानते हैं, उस मतका खण्डन करके स्वमत स्थापनके लिए कहते हैं।

अलङ्क्रियते अनेनेति अलङ्करणम्॥ तथाच वाच्य अर्थ,—वाचक शब्द, उभय रूप यदि अलङ्करण अलङ्कार का हेतु हो, उससे रसादि का उपकारक पुष्टिजनक शब्दार्थ मात्र वृत्ति वैचित्र्य रूप धर्म है। अतएव रसवदादि अलङ्कार नहीं हो सकते हैं। आदि शब्दसे भाव रसाभास भावाभास सन्धि शवल को भी जानना होगा।

अन्य मतमें अङ्गिभूत रसादि का उपकार मात्रसे यथाकथञ्चिद् सामान्य रूपसे पुष्टि मात्रसे रसवदादि में अलङ्कार का प्रयोग होता है। यह गौण है, प्राचीन परम्परा से अलङ्कार ख्याति है, किन्तु शब्दार्थान्यतर घटित वैचित्र्य विशेषके समान वास्तविक अलङ्कार नहीं है।

अपर का मत है--मुख्य रूपसे सन्देहादि अलङ्कारमें अर्थ शब्द की शोभा सम्पादन होताहै, अजागलस्तन नीतिसे। जो पदार्थ रसादि का मुख्य पोषक है, वह मुख्य अलङ्कार है। रूपकसन्देहादि में रसादिका उपकारको छोड़कर शब्दार्थ को शोभा सम्पादकत्व है,वह स्वभाव प्राप्त अजागलस्तन की भाँति है। निरर्थक है, उससे दूध नहीं निकलता है, इस मतमें रसवदादि का गौण अलङ्कारत्व है।

यदि रसाद्युपकारमात्रेणालङ्कृतित्वं तदा वाचकादिष्वपि तथा प्रसज्येत एवञ्च यत् कैश्चिदुक्तं—'रसादीनामङ्गित्वे रसवदाद्यलङ्कारः ; अङ्गत्वे तु द्वितीयोदात्तालङ्कारः। तदपि परास्तं।

**यद्येत एवालङ्कारा: परस्पर-विमिश्रिताः।**
**तदा पृथगलङ्कारौ संसृष्टिः सङ्कर स्तथा ॥७८॥**

---

स्वमत समर्थक मत को कहते हैं—सर्वमान्य व्यक्तिगण कहते हैं—वाच्य-वाचक अर्थ—शब्द का उपकरण के लिए अध्याहार से 'अयं च रसनोत्कर्षी'—यहाँ शृङ्गाररस व्यञ्जक शब्दार्थ युक्त पद्य में करुणव्यञ्जक शब्दार्थाध्याहार से, अङ्गी रसादिका पोषक होता है, अत: अलङ्कार नाम होता है। शब्दार्थ की भाँति अङ्गभूत रसादि का भी रसादि उपकारकत्व है।

एक रसादिक स्थलमें उसका निर्वाह किस प्रकार होगा ? उत्तर में कहते हैं,—एकमात्र रसादि उपकारक समासोक्ति अलङ्कार में आस्वाद्यान्तर के अभावसे उपकारकत्व नहीं होगा।

नायकादि व्यवहार मात्र की ही अलङ्कृतिता है। किन्तु आस्वाद का नहीं। उसकी उक्तरीति नहीं है।

अतएव ध्वनिकार ने कहा है—अङ्गिभूत रसादि का उपकारक होने से अङ्गभूत रसादिकी अलङ्कार संज्ञा होती है। जिस काव्य में अन्यत्र रसादि वाक्यार्थ में प्रधान होने से रसादि अङ्ग होता है, उसका उपकारक होता है, उस काव्य में रसादि अङ्गभूत है। यह अलङ्कार होगा। उसमें मेरी सम्मति है। इससे प्रतीति होती है कि—ध्वनिकार के मतमें भी रसवदादि का अलङ्कारत्व है।

कुछ व्यक्ति कहते हैं—रसादि का उपकारक होने से यदि अलङ्कार होता है, तब वाचकादि का भी अलङ्कारत्व होना चाहिए, इससे रसादिका अङ्गित्व-प्रधानत्व, होने से रसवदादि अलङ्कार होगा, अङ्गत्व-उपकारकत्व होने से द्वितीयोदात्तादि अलङ्कार होता है। यह कथन भी परास्त हुआ।

अङ्गिरसादि का केवल उपकार्य्य होने से उपकारकत्व का

यथा लौकिकालङ्काराणां परस्परं विमिश्रतः पृथक् चारुत्वेन पृथगलङ्कारत्वं, तथोक्तरूपाणां काव्यालङ्काराणामपि परस्परमिश्रत्वे संसृष्टि-सङ्कराख्यौ पृथगलङ्कारौ ।

तत्र—'मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते ।'७८॥

एतेषां शब्दार्थालङ्काराणां । यथा—

देवः पायादपायान्नः स्मेरेन्दीवरलोचनः । संसार-ध्वान्तविध्वंस-हंसः कंसनिसूदनः ॥

अत्र पायादपायादिति यमकं, संसारे सादौ चानुप्रासः । इति शब्दालङ्कारयोः संसृष्टिः । द्वितीयपादे उपमा, द्वितीयार्द्धे च रूपकमित्यर्थालङ्कारसंसृष्टिः ।

---

अभाव से अलङ्कार ही नहीं होगा । अङ्ग होने से उपकारक होकर रसवदादि अलङ्कार होगा । वस्तुत अङ्गाङ्गि नियत परस्पर सापेक्ष होते हैं, इस मत में रसवदादि के साथ द्वितीयोदात्तालङ्कार का नियत साङ्कर्य्य होगा ।

पृथक् पृथक् रूपसे सब अलङ्कारों का वर्णन करने के बाद एकत्र अनेक अलङ्कार का वर्णन करते हैं । एक पद्य एवं गद्य में शब्दालङ्कार अर्थालङ्कार पृथक् पृथक् रूपसे होना सम्भव है, तथापि संसृष्टि नामक पृथक् भिन्न अलङ्कार जानना होगा, अनेक वैचित्र्य एकत्र होने से उसका पृथक् नाम होना आवश्यक है । जिस प्रकार लौकिक अलङ्कार कटक कुण्डल पृथक् पृथक् होने परभी मिश्रित रूप अलङ्कार विशेष मनोहर होता है, उस प्रकार काव्यालङ्कार परस्पर मिश्रित होकर संसृष्टि सङ्कर नामक पृथक् अलङ्कार होते हैं । उसमें परस्पर अपेक्षाशून्य रूपमें शब्दार्थालङ्कार की स्थिति होने से संसृष्टि संज्ञा होती है ।

उदाहरण—एक उदाहरण से त्रिविध संसृष्टि को दिखाते हैं—देव कंसनिसूदन कृष्ण ! आप सबको विपत्ति से रक्षा करें, आपके नयनयुगल प्रस्फुटित नीलकमल के समान है, संसारान्धकार विनाश के लिए सूर्य्य स्वरूप हैं, एवं कंसनिहन्ता हैं । यहाँ पायात् अपायात्—यमक संसार—अनुप्रास है । शब्दालङ्कार की संसृष्टि है, द्वितीय पादमें उपमा है, द्वितीयार्द्ध में रूपक होकर

एवं शब्दालङ्कार-संसृष्टेरर्थालंकारसंसृष्टेश्च स्थितत्वात् संसृष्टिः ।

यथा वा—सुरतरुरेव नतानां सुरतरुचि गोपरमणीनां ।
त्रिभुवन-जन-कमनीयो जयति व्रजराजयुवराजः ।।

अत्र शब्दालङ्कारयो यमकानुप्रासयोःसंसृष्टिः ।

आलुम्पतीव परितो मनसः प्रसाद-मालुञ्चतीव पदवीं नयन-द्वयस्य ।
उद्वेल-कज्ज्वल महोदधिवद्गभीरो मोहान्धकार इव मोह इवान्धकारः ।।

अत्रालङ्कारयोः समासगोत्प्रेक्षान्योन्योपमयोः संसृष्टिः ।

मेघे माघवने मणावपि घृणानिर्व्वाहको नीलिमा ।
सामानाधिकरण्यमत्र किमहो चित्रं तमस्तेजसोः ।।

---

अर्थालङ्कार की संसृष्टि हुई है। इस प्रकार दोनों की स्थिति से शब्दार्थालङ्कार की संसृष्टि हुई।

ध्वान्त विध्वंस—धकार का अनेक धा सकृत् साम्य से छेकानुप्रास है, विध्वंस-कंस-पदगत अन्त्यानुप्रास, संसार, हंस, निसूदन, सकार का असकृत् साम्य से वृत्त्यनुप्रास है,परस्पर निरपेक्ष रूपसे स्थिति होने से संसृष्टि होती है। क्विप् समासगता द्वेधा धर्मवादि विलोपने-समासगता लुप्तोपमा है। संसार में ध्वान्तत्वारोप, श्रीकृष्ण में हंसत्वारोप का निमित्त है, अश्लिष्ट शब्द निबन्धन केवल परम्परित रूपक है। यमकानुप्रास रूप शब्दालङ्कार—उपमा रूपक रूपार्थालङ्कार है। यह सब परस्पर अपेक्षा रहित होकर है।

उदाहरण—प्रणत व्यक्तियों के लिए सुरतरु हैं, गोपरमणीयों की सुरतरुचि है, त्रिभुवन जनकमनीय हैं, व्रजराज युवराज जययुक्त हो, यहाँ शब्दालङ्कार यमकानुप्रास की संसृष्टि है।

मनको, सब विषय ग्रहण प्रसन्नता से हटाकर, नयनद्वय के विषय को हटा देते हैं, उद्वेल कज्ज्वल महोदधि की भाँति गभीर, मोहान्धकार मोह के समान अन्धकार है।

यहाँ समासगोत्प्रेक्षा अन्योन्य उपमा की संसृष्टि है। मेघमाघवन मणि में घृणानिर्वाहक नीलिमा है, किन्तु आश्चर्य का विषय है कि—यहाँ तम एवं तेज का सामानाधिकरण्य है। यहाँ शब्दार्थालङ्कार

तत्र शब्दार्थालंकारयोः अनुप्रास-विरोधयोः संसृष्टिः ॥

अङ्गाङ्गित्वेऽलङ्कृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ ।
सन्दिग्धत्वे च भवति सङ्कर स्त्रिविधः पुनः ॥८०॥

तत्राङ्गाङ्गिभावो यथा—

कपोलयोः कुण्डलपद्मराग–मयूखविम्वं व्रजराजसूनोः ।
स्वचुम्व-लग्नाधररागबुद्धया स्ववाससा लुम्पति कापि मुग्धा ॥

अत्र तद्गुणोऽङ्गी, भ्रान्तिमानङ्गं । उभयोरनुग्राह्यानुग्राहकभावेन संकरः ।

यथा वा— निरस्य करलीलया तिमिरनीलचेलाञ्चलीं
रथाङ्गमिथुनस्तनावपि निपीडय पश्याच्युतः ।
ह्रियेव निमिषत् कुशेशयदृशं सरागां प्रियः
प्रियामिव सुधाकरो हरिहरिद्वधूं चुम्वति ॥

---

अनुप्रास विरोध की संसृष्टि है।

सम्प्रति अवशिष्ट संङ्करालङ्कार का निरूपण करते हैं। अनेक अलङ्कार अङ्गाङ्गित्व होने से अर्थात् सम्पादक सम्पाद्यत्व होने से सापेक्ष भावसे गुण प्रधान भाव से—तथा अनेक अलङ्कार एकस्थान में पादरूपस्थान में स्थित होने से, तथा अनेक अलङ्कार संदिग्ध होने से अर्थात् अनेक लक्षण प्राप्त होकर यह अलङ्कार है या नहीं इस प्रकार संशय विषय होकर सङ्कर होता है, अतएव यह भी संकर संसृष्टि की भाँति त्रिविध होगा।

अङ्गाङ्गि भाव का उदाहरण—व्रजराजनन्दन के कपोलद्वय कुण्डलस्थित पद्मरागमणि की ज्योति से उद्भासित है, मुग्धा गोपी राधा उसे चुम्वनकर भ्रममें पड़ गई, और निज चुम्वन से अधरराग कपोल में लग गया है, इस बुद्धि से निज वसन से पोंछने लगी। यहाँ तद्गुण अङ्गी है, भ्रान्तिमान् अङ्ग है, दोनों अनुग्राह्य अनुग्राहक भावसे सङ्कर है। यथा वा—

देखो कृष्ण, कर लीला से तिमिर नील चेलाञ्चल को हटाकर रथाङ्ग मिथुन स्तनद्वय को निपीड़न कर लज्जा से ईषत् नम्र नयनी

अत्र रूपकमुत्प्रेक्षा श्लेष उपमासमुच्चयश्चेति परस्परमङ्गाङ्गित्वयैव पञ्चालङ्काराः। तथाहि, तिमिरादीनां नीलनिचोलादित्वाद्यरोपात् रूपकं, ह्रियेवेत्युत्प्रेक्षा, करलीलयेति श्लेषः, प्रियः प्रियामिवेत्युपमानिरस्य, निपीड्य चेति समुच्चयः। एषु रूपकमङ्गी, अन्येऽङ्गानि।

सन्देह-सङ्करो यथा—इदमाभाति गगने भिन्दानं सन्ततं तमः।
राधिके नयनानन्दकरं मण्डलमैन्दवत्॥

अत्र किं मुखस्य चन्द्रतयाध्यवसानादतिशयोक्तिः, उत इदमिति मुखं निर्दिश्य चन्द्रत्वारोपाद् रूपकं। अथवा इदमिति मुखस्य चन्द्रमण्डलस्य च द्वयोः प्रकृतयो रेकधर्म्माभिसम्बन्धात्तुल्ययोगिता ; आहोस्वित् चन्द्रस्य प्रकृतत्वाद्दीपकं, किम्वा विशेषणस्य साम्यादप्रस्तुतस्य मुखस्य गम्यत्वात् समासोक्तिः? यद्वा—अप्रस्तुतचन्द्रवर्णनया प्रस्तुतमुखस्यावगम इत्यप्रस्तुत-प्रशंसा। यद्वा—मन्मथोद्दीपनः कालः कार्य्यभूतचन्द्रवर्णनामुखेन वर्णित इति पर्य्यायोक्तमिति

---

प्रिया रागवती को प्रिय सुधाकर जिस प्रकार दिग्वधू को चुम्वन करता है, उस प्रकार चुम्वन किया है।

यहाँ रूपक उत्प्रेक्षा श्लेष, उपमा, समुच्चय परस्पर अङ्गाङ्गि न होकर पञ्च अलङ्कार है। तथाहि—तिमिरादिका नीलनिचेलादित्वादि आरोप से रूपक है, ह्रियेव—उत्प्रेक्षा है, करलीलयेति श्लेष है। प्रिय प्रियामिव—यह उपमा है। निरस्य-निपीड्य-यह समुच्चय है। इसमें रूपक अङ्गी है, अन्य सब—अङ्ग है।

सन्देह सङ्करका उदाहरण—हे राधिके! गगनमें नयनानन्दकर इन्दुमण्डल तमोराशिको विनष्ट करके विराजित है। यहाँपर क्या मुखका चन्द्र रूपसे अध्यवसानसे अतिशयोक्ति है, अथवा यह मुख है, इह प्रकार निर्देशकर चन्द्रत्वारोप के द्वारा रूपक है, अथवा इदमिति मुख एवं चन्द्रमण्डल दोनों प्रकृतियों का एक धर्माभिसम्बन्धसे तुल्ययोगिता है। अथवा चन्द्रस्य प्रकरण प्राप्त होनेसे दीपक है, किम्वा विशेषण साम्यसे अप्रस्तुत मुख गम्य होने से समासोक्ति है?

अथवा—अप्रस्तुत चन्द्रवर्णनके द्वारा प्रस्तुत मुखका बोध होने से, अप्रस्तुत प्रशंसा है। यद्वा मन्मथोद्दीपन कालका कार्य्यभूत चन्द्रवर्णन

बहूनामलङ्काराणां सन्देहात् सङ्करः ।

यथा वा—मुखचन्द्रं पश्यामीति किं मुखचन्द्रमिवेत्युपमा, उत चन्द्र एवेति रूपकमिति सन्देहः ।

**'साधक-बाधकयोरेकतरस्य सद्भावे पुन र्न सन्देहः ।'८१॥**

यथा—मुखचन्द्रं चुम्वतीत्यत्र चुम्वनं मुखस्यानुकूलमित्युपमायाः साधकं, चन्द्रस्य प्रतिकूलमिति रूपकस्य बाधकं । मुखचन्द्रः प्रकाशते इत्यत्र प्रकाशाख्ये धर्मो रूपकस्य साधकः ; मुखे उपचरितत्वेन सम्भवतीत्युपमाबाधकः ।

'शास्त्रज्ञभास्करं संज्ञा त्वामालिङ्गति सर्वदा'

इत्यत्र पतिव्रतायोषितः पतिसदृशो आलिङ्गनमयुक्तमिति उपमाया बाधकं अतो रूपकस्यैव साधकता । एवं—

'वदनाम्बुजमेणाक्ष्या भाति चञ्चललोचनं'।

अत्र लोचनस्य वदने सम्भवादुपमायाः साधकता । अम्बुजेचासम्भवाद्रूपक-

---

के द्वारा वर्णन हुआ है, इससे पर्य्यायोक्ति होती है, इस प्रकार अनेक अलङ्कारोंका सन्देह से सङ्कर हुआ है । यथा राधामुखचन्द्रं पश्यामीति किं मुख चन्द्रमिव इसप्रकार उपमा है ? अथवा चन्द्र एव इससे रूपक है, यह सन्देह है ।

साधक बाधक के मध्यमें एक का अभाव होने से सन्देह नहीं होगा, यथा—मुखचन्द्रं "चुम्वति" यहाँपर चुम्वन मुखका अनुकूल है, इस प्रकार उपमा का साधक है, चन्द्रका प्रतिकूल है, इससे रूपक का बाधक होता है, "मुखचन्द्रः प्रकाशते"यहाँ प्रकाशाख्य धर्म रूपक का साधक है । मुखमें उपचरित रूपसे सम्भव होगा, इससे उपमा का बाधक होता है ।

तुम शास्त्रज्ञ भास्कर हो तुम्हे संज्ञा सर्वदा आलिङ्गन करेगी । यहाँ पतिव्रता योषित के लिए पति के सदृश आलिङ्गन करना शोभन नहीं है । इससे उपमा का बाधक होता है । अतः रूपक का ही साधक है ।

हरिणनयनी चञ्चललोचन युक्त वदनाम्बुज शोभित है । यहाँ लोचन का वदनमें होना सम्भव है, अत उपमा का साधक है । अम्बुज

बाधकता। एवं 'सुन्दरं वदनाम्बुज'मित्यादौ साधारणधर्म्मसंयोगः। उपमितं व्याघ्रचादिभिः सामान्याप्रयोग' इति वचनादुपमासमासे न सम्भवीति उपमाया बाधकः। एवञ्चात्र 'मयूरव्यंसकादित्वा'द्रूपक-समास एव।

एकाश्रयोऽनुप्रवेशोयथा—कटाक्षैः श्रीराधा क्षणमपि निरीक्षेत यदि मां
तदानन्दः सान्द्रः स्फुरति पिहिताशेष-विषयः।
सरोमाञ्चोद्यत् कुचकलस-निर्भिन्नवसनः
परीरम्भारम्भः क इव भविताम्भोरुहदृशः॥

अत्र कटाक्षैः श्रीराधा क्षणमपीत्यत्र छेकानुप्रासस्य निरीक्षेतेत्यत्र-क्षकारमादाय वृत्त्यनुप्रासस्य चैकाश्रयानुप्रवेशः। एवञ्चात्रैवार्थापत्त्यनुप्रासयोः। यथा वा—'संसार-ध्वान्त-विध्वंस-हंस' इति रूपकानुप्रासयोः। यथा वा 'कुरवका ववकारणतां ययु'रित्यत्र 'रवका ववका इत्येवं, रकार वकारमित्य-परमिति यमकयोः।

केषाञ्चिन्मते एकपद-प्रवेशे एव एकाश्रयः सङ्करो नान्यत्र, यथात्र 'संसार-ध्वान्तविध्वंसहंसः'। यथा वा—

---

में सम्भव होने से रूपक की बाधकता है। एवं सुन्दरं वदनाम्बुज यहाँ साधारण धर्म का प्रयोग है। उपमितं व्याघ्रयादिभिः सामान्याप्रयोगः इस वचनसे उपमा समास नहीं होगा। इससे उपमा का बाधक हुआ, इस प्रकार मयूर व्यंसकादि सूत्रसे रूपक समास ही है।

एकाश्रयका अनुप्रवेश का उदाहरण—श्रीराधा कटाक्ष के द्वारा मुझको एकक्षण के लिए भी यदि देखती है, तब अशेष विषयशून्य निविड़ आनन्द की स्फूर्ति होती है, कमलनयनी यदि वसन पिहित कुचकलसके द्वारा आलिङ्गन करती है, तब तो आनन्दका वर्णन ही नहीं हो सकता है। यहाँ कटाक्षैः श्रीराधा मपि' छेकानुप्रास है, निरीक्षेत यहाँ 'क्ष' को लेकर वृत्त्यनुप्रास का प्रवेश है, इस प्रकार यहाँ अर्थापत्ति अनुप्रास भी है। यथा वा—"संसार ध्वान्तविध्वंसहंस" यहाँ रूपक अनुप्रास है। अथवा कुरवका रवकारणतां ययु" यहाँ रवका ववका, रकार वकार है, यह यमक है। किसी के मत में एक पदका प्रवेश होने से एकाश्रय सङ्कर होता है, अन्यत्र नहीं जिस

शैवाललक्षणविलक्षणलक्ष्मलक्ष्मी रुद्दण्डरश्मिविशमण्डलमण्डयमानः ।
मग्न श्चिरं हरिहरित् सरसीरसेभ्यः प्रत्युन्ममज्ज शनकैरमृतांशुहंसः ॥
अत्र रूपकानुप्रासावेकपदविषयौ, नतु संसृष्टिवत् पृथग्विषयौ ।
यथा वा—'वासराम्भोरुहं भाति भानुविस्तीर्णकर्णिकं ।'
अत्रापि रूपकानुप्रासौ एकपद-प्रविष्टौ ।

इति रसामृतशेषे अलङ्कार-प्रकाशः ।४।



# पञ्चमः प्रकाशः

## [दोष-निर्णयः]

इह हि प्रथमतः काव्ये दोषगुणालङ्काराणामवस्थितिक्रमो दर्शितः । सम्प्रति के ते इत्यपेक्षयामुद्देशक्रमप्राप्तानां दोषाणां लक्षणमाह—

'रसापकर्षका दोषाः ।'

---

प्रकार—संसार ध्वान्तविध्वंसहंसः यथा वा—चन्द्र मार्त्तण्ड किरणों से अभिभूत होकर शैवादि विलक्षण शोभायुक्त सरोवर में चिरकाल मग्न हो गया था, सम्प्रति अमृतांशु हंस सरसी रससे पूर्वदिक्में धीरे धीरे उदित हो रहा है, यहाँ रूपक अनुप्रास एकपद विषय है, संसृष्टिकी भाँति भिन्न विषय नहीं है । यथावा—भानु विस्तीर्ण कर्णिकवासरा-म्भोरुह शोभित है, यहाँ रूपक अनुप्रास एकपद प्रविष्ट है ॥४॥

# पञ्चमः प्रकाशः

## [दोष-निर्णयः]

इस निरूप्यमाण काव्य में प्रथम दोषगुण अलङ्कार की स्थिति क्रमका वर्णन हुआ है, सम्प्रति दोषसमूह किस प्रकार है ? इस जिज्ञासा से नामसङ्कीर्त्तन क्रम से उपस्थित दोषों का स्वरूप निर्णय करते हैं ।

रसापकर्षक दोष है । रस पद रसाभासभावाभास को एवं नीरस स्थल में मुख्य भूत अर्थ को उपलक्षण से जानना होगा । रस,

अस्यार्थः— प्रागेव स्पष्टीकृतः (पृः ६)। तद्विशेषानाह—

**ते पुनः पञ्चधा मताः।**

**पदे तदंशे वाक्येऽर्थे सम्भवन्ति रसेऽपि यत्॥**

**तत्र— दुःश्रव त्रिविधाश्लीलाऽनुचितार्थाप्रयुक्तताः।**

**ग्राम्योऽप्रतीत-सन्दिग्ध-नेयार्थ-निहतार्थताः।**

**अवाचकत्वं क्लिष्टत्वं विरुद्धमतिकारिता।**

**अविमृष्टविधेयांशभावश्च पदवाक्ययोः।**

**केचिद्दोषा भवन्त्येषु पदांशेऽपि पदेऽपरं।**

**निरर्थकासमर्थत्वे च्युतसंस्कारता तथा।**

परुषवर्णतया श्रुतिदुःखावहत्वं दुःश्रवत्वं यथा—

"कार्त्तार्थ्यं प्राप कंसारिः कंसे मरणमापिते" ॥१॥

---

रसाभास-भाव-भावाभास सन्धि-शबलतादि मुख्यार्थ का अपकर्ष-सूचक होनेसे दोष होते हैं, यह साक्षात् परम्परासे प्रतीति प्रतिबन्धक के द्वारा अपकर्षक होता है, यह काव्यगत धर्मविशेष है। दोष सामान्य का लक्षण यह है—साक्षात् परम्परासे रसादि की प्रतीति प्रतिबन्धक काव्य धर्म दोष है। रसादि की सम्यक् प्रतीति यथा समय में चमत्कारि रूप से होती है। उस का प्रतिबन्धक, कालविलम्व से चमत्कारिता न होने से, सर्वथा वाधा से होता है।

प्रथम इसका अर्थ कहा गया है, उसका विशेष कहते हैं। वह पाँच प्रकार हैं। प्रधान रूपसे तीन प्रकार हैं, शब्दगत, अर्थगत, रसगत। शब्दगत तीन प्रकार—पदगत, पदांशगत, वाक्यगत। पद, पदांश, वाक्य, अर्थ रस में होता है। यहाँ रस पद विभाव भावादिका संग्राहक है। दुःश्रवता अश्लीलता, अनुचितार्था, अप्रयुक्तता, ग्राम्यता, अप्रतीतता, सन्दिग्धता, नेयार्थता, निहतार्थता अवाचकत्व, क्लिष्टत्व, विरुद्धमतिकारिता, अविमृष्ट अप्राधान्य से निर्दिष्ट विधेयांश। यह त्रयोदश दोष, पद एवं वाक्य में होते हैं।

अश्लीलं व्रीड़ा-जुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जकत्वात्त्रिधा— क्रमेण यथा—

"दैत्यस्त्रीगर्भनाशाय तदिदं साधनं महत्।
प्रससार शनै र्वायुः सभायां कंसभूपतेः॥"

"रात्रौ रात्रौ विनष्टे त्वयि कंसे सुहृदि नष्टदृष्टि स्यात्।" एषु साधन-वायु-विनष्टशब्दा अश्लीलाः ॥२॥

"कुरुवीरा दिव्यं याताः पशुभूता रणाध्वरे।"

अत्र पशुपदं कातर्य्यमभिव्यनक्तीति अनुचितार्थत्वं ॥३॥

अप्रयुक्तत्वं प्रसिद्धावपि कविभिरनादृतत्वं, तद् यथा —

"भाति पद्मः सूर्य्यपुत्रयां"

अत्र पुंलिङ्गः पद्मशब्दोऽप्रयुक्तः। एवं दुश्चयवनशब्दः स्वत एवाप्रयुक्तो ज्ञेयः ॥४॥

---

दुःश्रवता, अश्लीलता, निहतार्थता, अवाचकता नेयार्थता पदांश में भी सम्भव है। निरर्थकता, असमर्थता, च्युत संस्कारता, केवल पदमें होगा। परुषवर्ण प्रयुक्त होने से श्रवण दुःखद होता है, अतः दुःश्रवत्व कहते हैं, यथा—कंस की मृत्यु होने से कृतार्थ हुए थे। कृतार्थ का भावकार्त्तार्थ्य यण् प्रत्ययान्त पदसे श्रोता का श्रवण समय में दुःख उपस्थित होता है। श्रवण वैमुख्य रूपरसप्रकष हानि से दुःश्रवत्व होता है ॥१॥

**अश्लील**—व्रीड़ा जुगुप्सा अमङ्गलव्यञ्जक रूपसे तीन प्रकार हैं। दैत्यस्त्री गर्भ नाशके लिए यह महत् साधन है, कंस नृपति की सभा में वायु धीरे प्रवाहित हुआ।

कंस विनष्ट होने पर परम सुहृद के प्रति नष्ट दृष्टि होगी। इसमें साधन, वायु, विनष्ट शब्द अश्लील है ॥२॥

कुरु वीरगण रण रूप अध्वर में पशु रूपता को प्राप्त किए थे। यहाँ पशु पदसे कातरता की अभिव्यक्ति होती है, यह अनुचितार्थ है॥३

**अप्रयुक्तत्व**—प्रसिद्ध होने परभी कविके द्वारा आदृत नहीं है। यथा—सूर्यपुत्री यमुना में पद्म विकशित है, यहाँ 'पद्म' में पुरुषोत्तम लिङ्ग का प्रयोग, अप्रयुक्त है, एवं दुश्चयवन शब्द स्वत ही अप्रयुक्त है ॥४॥

"कंसे मृते कटि स्तस्य स्त्रीणां स्तब्धा गति प्रति ।"

अत्र कटि शब्दो ग्राम्यः ॥५॥

अप्रतीतत्वमेकदर्शनमात्रप्रसिद्धत्वं, यथा—

"हरिभक्त्या धुताशयः"।

अत्र योगशास्त्रे एव वासनार्थे आशय शब्दः ॥६॥

"आशिषं हे हरे वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु।"

अत्र वन्द्यामिति किं वन्दीभूतायामुत वन्दनीयामिति सन्देहः॥७॥

नेयार्थत्वं रूढ़िप्रयोजनाभावादशक्तिकृतं लक्ष्यप्रकाशनं, यथा—

"कमले चरणाघातं चक्रतु श्चरणौ हरेः।"

अत्र चरणाघातेन निर्जितत्वं लक्ष्यं ॥८॥

निहतार्थत्वमुभयार्थस्याप्रसिद्धेऽर्थे प्रयोगः। यथा—

"कंसं मृतं जघ्नुरमुष्य भार्य्याः।"

'हन्ति'रत्र घाते प्रसिद्ध इति गतौ निहतार्थः ॥९॥

'यमुना शम्वरमम्वरं व्यतानी'दित्यत्र यमुनापदान्वितत्वाच्छम्वरशब्दो दानव-विशेषार्थत्वमप्यतिक्रामेत्। 'गोविन्दे मन आदत्ते, आङ्पूर्वो दा-धातुः

---

कंस की मृत्यु से उसकी स्त्रीयों की कटि की गति स्तब्ध होगई। यहाँ कटि शब्द ग्राम्य है ॥५॥

**अप्रतीतत्व**—एक दर्शन मात्र प्रसिद्ध। यथा—हरिभक्ति से आशय शुद्ध हुआ। योगशास्त्र में ही वासनार्थ में आशय शब्द का प्रयोग होता है ॥६॥

हे हरे! वन्दना को सुन कर आशीर्वाद दो। यहाँ वन्द्यां शब्द से वन्दीभूत किम्वा वन्दनीय, इस प्रकार सन्देह है ॥७॥

**नेयार्थत्व**—रुढ़ि प्रयोजन का अभाव से अशक्ति कृत लक्ष्य का प्रकाशन है, यथा—श्री हरिके चरण कमल में चरणाघात किया। यहाँ चरणाघात से कमलजयी चरण है, यह लक्ष्य है ॥८॥

**निहतार्थता**—उभयार्थ का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग है, यथा—कंस की मृत्यु से उस की भार्या चली गई, यहाँ 'हन' धातु का घात अर्थ प्रसिद्ध है, गति अर्थ में निहतार्थ है ॥९॥

दानार्थेऽवाचकः। 'ध्वान्तच्छन्नापि रात्रीयं कृष्णध्यातु दिनं मत'मित्यत्र तु प्रकाशातिशयमयता–व्यञ्जना प्रयोजनवत्या-लक्षणया सम्भवत्यपि गोर्वाहीकवत् ॥१०॥

क्लिष्टत्वमर्थ प्रतीते र्व्यवहितत्वं। यथा—

'क्षीरोदजावसति-जन्मभुवः प्रसन्नाः। अत्र क्षीरोदजा लक्ष्मीः, तस्या वसतिः पद्म, तस्य जन्मभुवो जलानीति व्यवहितिः ॥११॥

'वन्दे सीतापतिप्रियां'। अत्र सीतापति-शब्दोऽयमेकपत्नि व्रतधरस्य श्रीरामस्य प्रियान्तरव्यञ्जकतया **विरुद्धमतिकृत्** ॥

अविमृष्टः प्राधान्येनानिर्द्दिष्टो विधेयांशो यत्र तत्। **अविमृष्ट विधेयांशमाह—**

"स्वर्गग्रामटिका-विलुण्ठन वृथोच्छूनैः किमेभि र्भुजैः।"

अत्र स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनेनापि वृथेवोच्छूनैरिति वाच्यं। वृथात्वं हि विधेयं। तच्च समासे गुणीभूतत्वादनुवादप्रतीतिकृत्।

---

"यमुनाशम्वरमम्वरं व्यतानीत्" यमुना पदान्वित शम्वर शब्द दानव विशेष अर्थ को अतिक्रम करेगा। गोविन्दे मन आदत्ते, आङ्पूर्व 'दा' धातु दानार्थ में **अवाचक** है। अन्धकाराच्छन्न रात्रि, कृष्णाध्यानकारीके लिए दिन है, यहाँ प्रकाशातिशयता व्यञ्जना प्रयोजनवती लक्षणा द्वारा सम्भव है। गोर्वाहीकवत् ॥१०॥

अर्थ प्रतीति का व्यवधान से क्लिष्ट होता है। यथा—क्षीरदजा-वसतिजन्मभुवः प्रसन्नाः। यहाँ क्षीरोदजा लक्ष्मीः, उनकी वसति पद्म, उसका जन्मस्थल जल है। इससे व्यवहित हुआ ॥११॥

"वन्दे सीतापतिप्रियां" यहाँ सीतापति शब्द एकपत्नि व्रतधर राम का प्रियान्तर व्यञ्जक होने से **विरुद्धमतिकृत्** हुआ।

**अविमृष्ट**—प्राधान्य रूपसे अनिर्दिष्ट विधेय यहाँपर है। **अविमृष्ट** विधेयांश का उदाहरण—स्वर्ग लुण्ठन परायण विशाल भुजोंसे क्या है। यहाँ स्वर्ग ग्रामटिका विलुण्ठन के द्वारापि उच्छून होना वृथा है, यहाँ वृथात्व विधेय है। उच्छूनत्वं वृथा इस अभिप्राय से उच्छूनत्व को उद्देश्य कर वृथा को विधेय करना उचित है, किन्तु

'रक्षांस्यपि पुरः स्थातुमलं रामानुजस्य मे'। इत्यत्र चास्तु तावत् रामस्य वार्त्ता, तमनुजातस्यापि ममेति वाच्यं।

"कटाक्षः पतति श्रीश यस्यां यस्यां तवात्र सा।
तं मेने पञ्चवाणस्य षष्ठवाणमिवाच्युत ॥"

अत्र वाणं षष्ठमिवेत्युत्प्रेक्ष्यं। यथा वा—

आनन्दसिन्धुरति चापलशालि चित्तं
सन्दाननैक-सदनं क्षणमप्यमुक्ता।
या यादवेन्द्र ! भवता तदुदन्तचिन्ता
तान्ति तनोति तव संप्रति धिग्धिगस्मान् ॥

---

उच्छूनत्वांश में विशेषण हो जाने से गौण हो गया है, तथा च तात्पर्य्य विषयी भूतान्वयानुपपत्त्या रस प्रकर्ष हानि रूप दोष है। मैं रामानुज हूँ, मेरे सामने भी राक्षसों का उपस्थित रहना सम्भव नहीं है। यहाँ रही रामकी वात, किन्तु मैं उन का अनुज हूं, मेरे सामने रहना सम्भव नहीं है। अनेक दुर्जय राक्षस वधसे राम की तो ख्याति है ही, किन्तु मैं तो उनका अनुज हूँ, मेरे सामने भी राक्षसों का रहना असम्भव है, लक्ष्मण का दर्पसे कहने का अभिप्राय वह था, किन्तु रामानुजस्य कहने से उसकी प्रतीति नहीं होती है, समास होने से बोध नहीं होता है, किन्तु 'रामस्य' इस प्रकार सविभक्तिक पद प्रयोग से उक्त बोध होता।

हे श्रीश अच्युत ! जहाँ जहाँ पर तुम्हारी कटाक्ष निक्षिप्त होती है, वह कन्दर्प का षष्ठ वाण स्वरूप ही है। यहाँ पञ्चशर का षष्ठ वाण की भाँति कटाक्ष है। यहाँ उत्प्रेक्षा आवश्यक है, मदन का प्रसिद्ध पञ्चवाण है, षष्ठ शर असम्भव है, इस तुम्हारे शरगत षष्ठत्व है। 'षष्ठ वाण इव' कहने से वैसा अर्थ नहीं आता है। षष्ठ समासमें गुणीभूत हुआ है।

यथा वा—(रुक्मिणी बोली)

आनन्दसिन्धु—अति चापलशालि चित्त है, सब कुछ को छोड़कर हे यादवेन्द्र ! चिन्ता, तुम्हारे सङ्ग प्राप्ति के लिए हो रही है, इससे

अत्रामुक्तेत्यत्र नञः प्रसह्यप्रतिषेधत्वमिति विधेयत्वमेवोचितं। यदुक्तं—

अप्राधान्यं विधे र्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता।

प्रसह्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्॥

यथा—विद्युत्वानयमाभाति न तु पीताम्वरः स्वयं।

उक्तोदाहरणे तु तत्पुरुषसमासे गुणीभावान्नञः पर्य्युदासतया निषेधस्य विधेयतयानवगमः। यदाहुः—

प्रधानत्वं विधे र्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता।

पर्य्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्॥

तेन तु—'जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे कृष्णमनातुरः'—अत्रात्रस्तत्वाद्यमनूद्य मात्मगोपनाद्यमेव विधेयमिति नञः पर्य्युदासतया गुणभावो युक्तः। ननु 'अश्राद्धभोजी' 'असूर्य्यम्पश्या राजदारा' इत्यादाविवामुक्तेत्यत्रापि प्रसह्य-प्रतिषेधो भविष्यतीति चेत् न। तत्रापि यदि भोजनादि क्रियांशेन नञः सम्बन्धः स्यात्, तदैव तत्र प्रसह्यप्रतिषेधत्वं वक्तुं शक्यं। न च तथा।

---

धिक्कार है। यहाँ अमुक्ता, नञ् प्रसह्य प्रतिषेध है, विधेय होना आवश्यक है। कहा गया है—जहाँ विधि में अप्रधानता है, और निषेध में प्रधानता है, उसे प्रसह्य प्रतिषेध कहते हैं, यह नञ् क्रियान्वयि होता है। यथा—यह स्वयं पीताम्वर नहीं है, यह विद्युद् युक्त मेघ है। उक्त उदाहरण में तत्पुरुष समास से गुणीभूत नञ् पर्य्युदास रूपसे निषेधकी प्रतीति विधेय रूपसे नहीं होती है। कहा भी है—यहाँ विधि की प्रधानता है और प्रतिषेध में अप्रधानता है। उसे पर्य्युदास जानना होगा। उत्तर पद में नञ् होगा।

इससे "जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे कृष्णमनातुरः"—यहाँ अत्र अत्रस्त को अनुवाद कर आत्मगोपनादि विधेय है, इससे नञ् पर्य्युदास होकर गुणभाव है। 'अश्राद्धभोजी', 'असूर्य्यम्पश्या राजदारा' की भाँति 'अमुक्ता' यहाँ भी प्रसह्य प्रतिषेध होगा, यह कहना ठीक नहीं है। वहाँ यदि भोजनादि क्रियाके अंशके साथ नञ् का सम्बन्ध हो, तब प्रसह्य प्रतिषेध कहना सङ्गत होगा। ऐसा नहीं है, विशेष्य

विशेष्यतया प्रधानेन ततोऽत्यर्थेन कर्त्रंशेनैव सम्बन्धात्। यदाहुः—श्राद्ध-भोजनशीलो ह्यत्र कर्त्ता प्रतीयते। न तद्भोजनमात्रं तु 'कर्त्तरि णिने विधानादिति। अमुक्तेत्यत्र तु क्रिययैव सम्बन्ध इति दोष एव।

एते च क्लिष्टत्वादयः समासगता एव पददोषाः। वाक्ये दुःश्रवत्वाद्यं यथा— "स्मरार्त्त्यन्धः कदा लप्स्ये कार्त्तार्थ्यं हरिसङ्गमात्" ।। स्पष्टं।

"कृतप्रवृत्तयोऽन्यार्थे कवयः कंसभूपतेः।
सभायां भुञ्जते वान्तं निर्लज्जस्य गतत्रपाः ।।"

अत्र प्रवृत्तिवान्त-शब्दौ जुगुप्साव्यञ्जकौ।

"सन्ध्यायाः वधुराभीर्य्यः पद्मलौहित्यभूषणं।
अभिसर्त्तुं किन्तु तासां वक्रा श्चक्रुस्तुलां क्रुधा ।।"

अत्र पद्मलौहित्य-वक्र-शब्दौ न पद्मराग-वामाबाचकौ।

"केशव केशगवेशे प्रेक्ष्य न कस्याः कुरङ्गशावाक्ष्यः।
रजत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्ते र्मानसं शोभां ।।"

अत्र केशव-केशग-शोभां प्रेक्ष्येत्यादिकः सम्बन्धः क्लिष्टः।

'न्यक्कारो ह्ययमेव यदरयः' अत्रायमेव न्यक्कार इति न्यक्कारस्य विधेयत्वं

---

रूप से प्रधान होकर ही कर्त्तृ अंश में सम्बन्ध है। कहा भी है, श्राद्ध भोजनशील ही यहाँ कर्त्ता है, ऐसी प्रतीति होती है, भोजन मात्र नहीं, कर्त्ता में निन् का विधान हुआ है। अमुक्ता—यहाँ क्रियाके साथ सम्बन्ध है, इसलिए दोष है।

क्लिष्ट प्रभृति समासगत होकर पददोष है, वाक्य में दुःश्रवत्वादि दोष है। यथा—हरिसङ्गम से कृतार्थ कब होगे। निर्लज्ज कंसभूपति की सभा में अर्थलोलुप लज्जा विहीन कविगण वान्त भोजन करते हैं। यहाँ प्रवृत्ति वान्त शब्द घृणा व्यञ्जक है।

सन्ध्याकालीन अभिसार के लिए आभीरी रमणीगण पद्म-लौहित्यभूषण धारण किए थे। किन्तु यह वाम्यता का सूचक हुआ। यहाँ पद्मलौहित्य वक्र शब्द पद्मराग वामावाचक नहीं है।

'केशव केशगवेशे'—यहाँ केशव केशग शोभा को देखकर इस प्रकार अन्वय क्लिष्ट है। 'न्यक्कारो ह्ययमेव यदरयः' यह ही न्यक्कार

विवक्षितं । तच्च शब्दरचना-वैपरीत्येन गुणीभूतं । रचना च पदद्वयस्यापि विपरीततेति वाक्यदोष एव ।

"आनन्दयति ते नेत्रे योसौ राधे समागतः ।" इत्यादिषु 'यत्तदो नित्य-सम्बन्ध' इति न्यायादुपक्रान्तस्य यच्छब्दस्य निराकाङ्क्षत्व-प्रतीतये तच्छब्द-समानार्थतया प्रतीयमाना इदमेतददः शब्दा विधेया एव भवितुं युक्ताः । अत्र तु यच्छब्द-निकटतया ऽनुवादप्रतीतिकृदेवादः शब्दः । तच्छब्दस्यापि यच्छब्द-निकटस्थितस्य प्रसिद्ध-परामर्शित्वमात्र । यथा—'यः स ते नयनानन्ददाता राधे समागतः ।' यच्छब्दव्यवधानेन तु स्थिता स्ते निराकाङ्क्षत्वमवगमयन्ति । यथा—'आनन्दयति ते नेत्रे राधे यः पुरतः स तु'। यत्र तु यत्तदो रेकस्यार्थत्वं सम्भवति, तत्रैकस्योपादानेऽपि निराकाङ्क्षत्व प्रतीति रिति लक्ष्यते । तथाहि—यच्छब्दस्योत्तरवाक्यगतत्वेनोपादाने सामर्थ्यात् पूर्ववाक्ये तच्छब्द-स्यार्थत्वं । यथा—'अहं जानामि यः कृष्णः ।' एवं यं सर्वशैलाः परिकल्पच

---

है, इस प्रकार न्यक्कार को विधेय करना अभिप्रेत है, वह शब्द रचना 'वैपरीत्य' से गौण होगया है। रचना पदद्वयस्यापि विपरीतता यह वाक्य दोष है ।

हे राधे ! समागत व्यक्ति तुम्हारे नेत्रानन्द विस्तार कर रहे हैं। यहाँ यत् तद् का नित्य सम्बन्ध है, इस नियम से उपक्रान्त यत् शब्द का निराकाङ्क्षत्व-प्रतीति के लिए तत् शब्द का समानार्थतया प्रतीयमाना इदम् एतत् अदस् शब्द विधेय होना उचित है। यहाँ यत् शब्द का निकट होने से अनुवाद की प्रतीति सम्पादक अदस् शब्द है। तत् शब्द भी निकट स्थित का ग्रहण करता है। जैसे जो वह तुम्हारे नयनानन्द दाता है, हे राधे! उन का आगमन हुआ है ।

यत् शब्द व्यवधान से स्थित 'ते निराकाङ्क्षत्व' का बोध करता है। यथा—हे राधे! तुम्हारे नेत्रों को आनन्दित करते हैं, वे ही तुम्हारे समान हैं। यहा 'यत्तद्' का एक का अर्थ प्रतीत होता है, वहाँ एक का प्रयोग से भी 'निराकाङ्क्षत्व' की प्रतीति होती है। थाहि—यत् शब्द उत्तर वाक्यगत रूपसे प्रतीत होने की सामर्थ्य से

वत्सभि'त्यादावपि। तच्छब्दस्य च प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थत्वं। क्रमेण यथा—'स हत्वा बालिनं वीर' इत्यादि। 'स वः शशिकला-मौलि' रित्यादि। 'तां गोपवंशकमलामि'त्यादि। यत्र च यच्छब्दनिकटस्थितानामिदमादीनां भिन्नलिङ्ग-विभक्तित्वं, तत्रापि निराकाङ्क्षत्वमेव। क्रमेण यथा—

"विभाति राधिका येदं परमं कृष्णभूषणं।
हरिः क्रीड़ति य स्तेन नन्दितं नन्दगोकुलं॥"

क्वचिदनुपादानात्तयो र्द्वयोरप्यार्थत्वं। यथा—

"न मे शमयिता कोऽपि भारस्येत्युर्वि मा शुचः।
नन्दस्य भवने कोऽपि बालोऽस्त्यद्भुतपौरुषः॥"

अत्र योऽस्ति स भारस्य शमयितेति बुध्यते। किञ्च—

"यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षीं
सा सा क्रिया नम्रमुखी बभूव॥" इति माघकाव्ये।

"यत् यत् पापं प्रतिजहि जगन्नाथ नम्रस्य तन्मे" इति तु मालतीमाधवे,

---

पूर्व वाक्य में तत् शब्द का अर्थत्व है। यथा—मैं जानता हूँ, जो कृष्ण है। इसप्रकार जिनको सकल पर्वतवृन्द वत्स बनाकर अभिमत पदार्थ दोहन किए थे। यहाँपर प्रक्रान्त प्रसिद्ध अनुभूति के लिए यत् शब्द सार्थक है। क्रमश:—'स हत्वा बालिनं वीरः' 'स वः शशिकला-मौलिः', 'तां गोपवंशकमलामि'त्यादि। यत्र च यच्छब्द-निकटस्थितानाम इदमादि शब्दों का भिन्न लिङ्ग विभक्तित्व है, वहाँ निराकाङ्क्ष ही है। क्रमशः उदाहरण,—जो राधिका विराजित है, उन्होंने परम कृष्णभूषण नन्द गोकुल को आनन्दित किया है। उससे हरि क्रीड़ा करते हैं।

किस स्थान में शब्दतः प्रयोग न होने परभी अर्थात् गृहीत होता है, यथा—हे पृथिवि! मेरा भार कोई उतारेगा, इस प्रकार म शोच। नन्द भवन में अद्भुत पौरुषसम्पन्न एक बालक है। यहाँ जो है भार उतारने वाले वह वहाँ है, इस प्रकार बोध होता है। और भी प्रिय ने कातराक्षी को जैसे जैसे देखा, उस उस क्रिया नम्र मुखी हुई। मालती माधव में लिखित है, 'यत् यत् पापं प्रतिजहि

तदिदं द्वयं विविच्यते—'यां यामि'त्यादौ यच्छब्द-द्वये साकाङ्क्षे। 'शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव प्रपूर्य्यते' इति न्यायेन सा सेति यदुक्तं, तद् युक्तमेव। 'यद् यत् पाप'मित्यादौ यद्यदित्यनेन विशेषानिर्दिश्य तदित्यनेन सामान्यं प्रतिनिर्दिष्टं। तच्च जातिः, सा च विशेषरूपासु व्यक्तिषु पुनः पर्य्यवसायितव्येति नेयतया कष्टं स्यात्। तच्च तच्च तदित्येकशेषेपि प्रतिपत्ति-गौरवं स्यात्। ततः साध्वेव भगवतगीतं—'यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंश-सम्भवं'। एवमन्येषामपि वाक्यगतत्वेनोदाहरणं मन्तव्यं।

पदांशे श्रुतिकटुत्वं यथा—'तद्गच्छ सिद्धयं कुरु देवकार्य्यं'। एवं 'अलं सन्ति चपलत्वात् स्वप्नमायोपमत्वा'दित्यत्र त्वादिति। किञ्च—

'धातुमत्ताङ्गिरि धंत्ते पश्य गोपाल-नायक'। अत्र मत्ता शब्दः क्षीववाचकता-प्रसिद्धया निहतार्थः।

'कृष्णः किं वर्णनीयः स्याद्विजेयो यस्य शङ्करः'। अत्र 'विजेय' इति कृत्यप्रत्ययार्थोऽयमवाचकः। 'येन विजित' इत्येव वक्तव्यं।

---

जगन्नाथ नम्रस्य तन्मे'। यहाँ दोनों का विचार करते हैं—'यां यां' यहाँ यच्छब्द द्वय साकाङ्क्ष है, शाब्दी आकाङ्क्षा की शब्द से ही पूर्त्ति होती है, इस नीति से 'सासा' कहना उचित है। 'यत् यत् पाप' यहाँ 'यद् यद्' इससे विशेष का निर्देश नहीं हुआ है। 'तद्' शब्दसे सामान्य निर्देश हुआ है। यह जाति है। वह विशेष रूप व्यक्ति में पर्य्यवसित होता है, इससे कष्टक कल्पना होगी। 'तच्च तच्च तत्' इस प्रकार एकशेष समास से भी बोध सहज से नहीं होगा, अतएव श्री भगवत वचन ही उत्तम है, उन्होंने कहा—'यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽश सम्भवम्'। इस प्रकार अपर की रचना से भी उदाहरण प्रस्तुत करें।

**पदांश में श्रुति कटुकत्व** का उदाहरण—'तद्गच्छ सिद्धयै कुरु देवकार्यं, एवं अलं सन्ति चपलत्वात् स्वप्नमायोपमत्वात्।' और भी 'धातुमत्ताङ्गिरि धंत्ते पश्य गोपाल-नायक। यहाँ मत्ता शब्द-क्षीव वाचक है, अतः **निहतार्थ** है। 'कृष्ण किं वर्णनीयः स्याद्विजेयो यस्य शङ्करः'। यहाँ 'विजेय' कृत्यप्रत्ययार्थ है, यह **अवाचक** है, 'येन

'कृष्णेन निहताः शूरा वचोवाणत्वमागताः' अत्र गीर्वाण-प्रतिपादनीयवचः शब्दस्य गीः शब्दवाचकत्वे नेयार्थत्वं । तथात्रैव गीः शरत्वमिति पाठे तद्वत् । तस्मादत्र पादद्वयमपि न परिवृत्तिसहं । जलध्यादौ तूत्तरपदंवड़वानलादौ पूर्वपदं । एवमन्येऽपि यथासम्भवं पदांशे दोषा ज्ञेयाः ।

"निरर्थकत्वादीनां त्रयाणान्तु पदमात्र गतत्वेनैव लक्ष्ये सम्भवः ।"

क्रमेण यथा—'मुञ्च मानं हि राधिके'—अत्र 'हि' शब्दो वृत्तमात्रपूरण प्रयोजनः । 'कुञ्जं हन्ति हरिप्रिया' - अत्र हन्तीति गमनार्थे पठितमपि न तत्र समर्थं । 'गाण्डवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः'—आङो यमहनो स्वाङ्गकस्यैवात्मनेपदं नियमितं । इह तु तदुल्लङ्घितमिति संस्कृतव्याकरण लक्षण-हीनत्वाच्चुयत-संस्कारत्वं । नन्वत्राजघ्न इति पदस्य न स्वतो दुष्टता, अपितु पदान्तरापेक्षयैवेत्यस्य वाक्यदोषता ; मैवं । तथाहि — दोषगुणालङ्काराणां शब्दानुगतत्वेन व्यवस्थितिः, तदन्वयव्यतिरेकानु-

---

विजित' इस प्रकार कहना उचित है। 'कृष्णेन निहताः शूरा वचोवाणत्वमागताः' यहाँ 'गीर्वाण प्रतिपादनीय वचः' शब्द से 'गी' शब्द का बाध होनेसे नेयार्थत्व दोष है। यहाँ गीः शरत्वमिति पाठ में भी उस प्रकार होगा। अतएव यहाँ पादद्वय भी परिवृत्ति सह नहीं है। जलध्यादि में उत्तर पद वड़वानलादि में पूर्वपद परिवृत्ति सह है, इस प्रकार यथासम्भव पदांशगत दोष को जानना होगा। निरर्थकत्वादि तीनों का पदमात्र गत होने से दोष होगा।

क्रमेण उदाहरण—'मुञ्च मानं हि राधिके' यहाँ 'हि' शब्द छन्द पूरण के लिए है, 'कुञ्जं हन्ति हरिप्रिया' यहाँ हन धातुका गमनार्थ होने परभी प्रस्तुत स्थलमें उक्तार्थ की प्रतीति नहीं होती। 'गाण्डवी कनकशिलानिभ भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः—आङ् यमहन स्वाङ्गकर्म्मक होने से ही आत्मपद होता है, यहाँ उस का लङ्घन हुआ है, अतः संस्कृत व्याकरण लक्षण हीन होने से च्युत संस्कार दोष है। 'आजघ्न' यह पद पदान्तर की अपेक्षा से दुष्ट हुआ है, अतः वाक्य दोष नहीं होगा, ऐसा नहीं। दोष गुण अलङ्कार शब्दानुगत होते है, और अन्वयव्यतिरेक से दोष गुण का

विधायित्वं हेतुः। इह तु दोषस्याजघ्ने इति पदमात्रान्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वं। पदान्तर-परिवर्त्तेऽपि तस्य तादवस्थ्यादिति पददोष एव। यथेहात्मनेपद-परिवृत्तावपि न पददोष स्तथा हन प्रकृते रपीति न पदांशदोषः। एवं पद्म इत्यत्राप्रयुक्तस्य पदगतत्वं बोद्धव्यं। एवं प्राकृतव्याकरण-लक्षणहीनत्वपि च्युतसंस्कारत्वमूह्यं।

इह शब्दानां सर्वथाप्रयोगाभावे त्वसमर्थत्वं, विरल-प्रयोगे निहतार्थत्व मनेकार्थ-शब्दविषयं। अप्रतीतत्वं तु एकार्थस्यादिशब्दस्य सार्वत्रिक-प्रयोग-विरहः। अप्रयुक्तत्वमेकार्थशब्दविषयं। असमर्थत्वमनेकार्थशब्दविषयं। असमर्थत्वे हन्त्यादयो गमनार्थे पठिता। अवाचकत्वे तु दिनादयः शब्दाः प्रकाशमयाद्यर्थे तु न तथेति परस्परभेदः।

एवं पददोष-सजातीय वाक्यदोषा उक्ताः। संप्रति तद्विजातीया उच्यन्ते।

---

विधान होता है। 'आजघ्न' पदमात्रान्वय व्यतिरेकानुविधायित्व है।

पदान्तर परिवर्त्तन से भी उक्त दोष रह जायेगा, अतः पददोष ही है। आत्मनेपद न होने से पददोष नहीं होगा, उस प्रकार हन धातुसे भी पदांश दोष नहीं होगा। एवं 'पद्म' यहाँ अप्रयुक्त पदगतत्व दोष है, इस प्रकार प्रकृत व्याकरण लक्षण हीन होने से भी च्युत संस्कार दोष होगा।

शब्दों का सर्वथा प्रयोगाभाव से असमर्थता एवं विरल प्रयोग से निहतार्थता अनेकार्थ शब्द विषयता होगी, अप्रतीतत्व—एकार्थ का आदि शब्द का सार्वत्रिक प्रयोगविरह। अप्रयुक्तत्व—एकार्थ शब्द विषय। असमर्थत्व—अनेकार्थ शब्द विषय। असमर्थत्व में हन्त्यादि का प्रयोग गमनार्थ में हुआ है। अवाचकत्व में दिनादि शब्द प्रकाश-मयादि अर्थ में प्रयोग हुआ है, किन्तु वैसा नहीं होता है, यह ही पारस्परिक भेद का कारण है।

इस प्रकार पददोष सजातीय वाक्य दोष कहा गया है, सम्प्रति उसका विजातीय का वर्णन करते हैं। पददोष विजातीया वाक्य दोष, पदमें दोष होनेसे वाक्य में भी दोष होता है, पद दोष सजातीय वाक्य दोष है, पद में दोष न होने परभी वाक्य मात्र में दोष होने से पददोष विजातीय वाक्य दोष होता है।

१ २ ३
वर्णानां प्रतिकूलत्वं लुप्ताहतविसर्गता ।
४ ५ ६ ७
अधिक-न्यून-कथितपदता हतवृत्तता ॥
८ ९ १० ११
पतत्प्रकर्षता सन्धौ विश्लेषाश्लील-कष्टता ।
१२ १३
अर्द्धान्तरैकपदता समाप्तपुनरात्तता ॥
१४ १५ १६
अभवन्मत-सम्बन्धाऽक्रमामत-परार्थता ।
१७ १८
वाच्यस्यानभिधानञ्च भग्नप्रक्रमता तथा ॥
१९ २० २१
त्यागः प्रसिद्धे रस्थाने न्यासो पद-समासयोः ।
२२ २३
सङ्कीर्णता गर्भितता दोषाः स्यु र्वाक्यमात्रगाः ॥

---

१. वर्णानां प्रतिकूलत्व प्रतिकूल वर्णता, २. लुप्ताहत विसर्गता लुप्तविसर्गता, ३. आहत विसर्गता (ओत्वप्राप्त), ४. अधिक पदता, ५. न्यून पदता, ६. कथित पदता, ७. हत वृत्तता (छन्द पात), ८. पतत् प्रकर्ष (वाक्योत्कर्षका स्खलन), ९. सन्धि विश्लेष, १०. सन्धि अश्लीलता, ११. सन्धि कष्टता, १२. अर्द्धान्तरैकपदता—उभय पादमें मिलित एकपदता, १३. समाप्त वाक्य का पुनर्वार अनुसन्धान, १४. अभवन्मत सम्बन्ध—अनुपपद्यमान मत अभिमत सम्बन्ध, १५. अक्रम—न विद्यते क्रमोयत्र तदक्रमं वाक्यम्, १६. अमतः अनभिमतपरार्थता, १७. वाच्य का अनभिधान, वाच्यानभिधान, १८. भग्न प्रक्रमता—भग्नः प्रकारान्तरेण ।

वर्णानां रसानुगुण्यविपरीतत्वं प्रतिकूलत्वं, यथा—

कष्टं स्पष्टं सदाप्योष्ठं स्वं दष्टं कुरुतेऽबला।
विष्टरश्रवसाविष्टा न या त्वत् प्रेष्ठतां गता।

अत्र ष्टकाराः शृङ्गार-परिपन्थिनः कष्टाय कल्पन्ते। केवलं शक्तिप्रदर्शनाय निबद्धाः ॥१॥

'गता निशा इमा राधे।' अत्र लुप्ता विसर्गाः ॥२॥

आहता 'ओ'त्वं प्राप्ता विसर्गा यत्र। यथा—धीरो वीरो नरो जिष्णुः ॥३

तथा 'विद्युते राधिका तत्र विम्वतुल्यारुणाधरा, अत्र तुल्यपदमधिकम्।

'सदा शिवं नौमि पिनाकपाणिम्—अत्र पिनाक-पाणिमिति पदं अधिकं।'

'कुर्य्याद् भवस्यापि पिनाकपाणे धैर्य्यच्युतिं संप्रति शश्वदच्युतः' अत्र विशेषप्रति-

---

द्वितीयादि प्रयोगान्नष्टः प्रक्रमः—उपक्रमोयत्र। १९. प्रसिद्धित्याग, अस्थान में न्यास: २०. पद एवं २१. समास का अस्थान पदता—अस्थान समासता। २२. सङ्कीर्णता, २३. गर्भितता।

ये त्रयोविंशति दोष वाक्यमात्रगा—केवल वाक्यगत है। वर्णो का रसानुगुण्यविपरीत प्रकृत रस विरोधित्व ही प्रतिकूल वर्णता है, प्रकृतरस विरोधी होकर रसप्रतीति प्रतिबन्धक होनेसे दोष होता है। यह नित्य दोष है। उदाहरण—अबलागण स्पष्टरूप ओष्ठ दंशन करती रहती हैं, वे सब कृष्ण में आविष्ट चित्त थीं। यहाँ ष्टकारों का प्रयोग शृङ्गार रस का परिपन्थी है, और दुःखद होता है। केवल कवित्व शक्ति प्रकाश के लिए ही लिखा है ॥१॥ "गता निशा इमा राधे।" यह लुप्तविसर्गता का उदाहरण है। बहुतर विसर्ग लोप होनेसे श्रोता का विरक्तिकर होता है। रस प्रकर्ष नाशक होनेसे नित्यदोष यह है ॥२॥ आहता विसर्गता शब्दका अर्थको कहते हैं। जिस वाक्य में ओत्व प्राप्त विसर्ग है। यथा—धीरो वीरो नरो जिष्णुः ॥३॥ "विद्युते राधिका तत्र विम्वतुल्यारुणाधरा"—यहाँ तुल्य पदका अधिक प्रयोग है। अनावश्यकपदवत्त्वमधिकपदत्वमिति॥ सदा शिवं नौमि पिनाक पाणिम्॥ यहाँ 'पिनाक पाणिम्' पद अधिक है। कुर्य्याद् भवस्यापि पिनाक पाणे धैर्य्यच्युतिं सम्प्रति

पत्यर्थमुक्तत्वाद् युक्तमेव। यथा वा 'वाचमुवाच कृष्णः' अत्र वाचमित्यधिकं। उवाचेत्यनेनैव गतार्थत्वात्। क्वचित्तु विशेषदानार्थं तत्प्रयोगोऽपि युज्यते। 'आह कृष्णः शुभां वाचं।' केचित्त्वाहुः—यत्र क्रियाया विशेषणेनैव चरितार्थता स्यात्तत्रापि तादृक् प्रयोगो न कर्त्तव्यः। यथा—उवाच मधुरं कृष्णः ॥४॥

'यदि मय्यर्पिता दृष्टिः किं न राधे तदारचि'—अत्र त्वयेति न्यूनं ॥५॥

'रति लीलाश्रमजेत्री मरुल्लीलेयमच्युत।' अत्र लीलाशब्दः पुनरुक्तः ॥६

हतवृत्तं—लक्षणानुसरणे ऽप्यश्रव्यं, रसाननुगुणमप्राप्तगुरुलघुभावान्तलघु च। क्रमेण यथा—

"कृष्ण सतत मेतस्या हृदयं भिन्ते मनोभवः कुपितः।" अत्र कृष्ण मेत्यत्र यतिदोषः।

'हरिमनुपरिहर मानिनि मानं' इदं वृत्तं हास्यरसस्यैवानुकूलं।

"विकसित सहकार सार हारि-परिमल एष हरे मधु विभाति।" यत्

---

शश्वदच्युतः" यहाँ विशेष बोध हेतु प्रयोग होनेसे उचित है। 'वाचमुवाच कृष्णः' यहाँ वाचं अधिक है। उवाच शब्द से ही अर्थ बोध होता है। विशेषार्थ बोधक होनेसे उक्त प्रयोग साधु होता है। यथा—"आह कृष्णः शुभां वाचम्" कुछ व्यक्ति का मत है—क्रिया की विशेषण से ही पूर्णता होने से वहाँ परभी वैसा प्रयोग करना उचित नहीं है। यथा—उवाच मधुरं कृष्णः ॥४॥ यदि मय्यर्पिता दृष्टिः किं न राधे तदारचि" यहाँ 'त्वया' न्यून पद है॥५॥ "रतिलीला-श्रमजेत्री मरुल्लीलेयमच्युत" यहाँ लीला शब्द पुनरुक्त है ॥६॥

हतवृत्तम्—लक्षणानुसरण से भी अश्रव्य, रसानुगुण प्राप्त न होना, गुरु-लघुभाव अन्त लघु होना है। यह नित्य दोष है। यह तीन प्रकार है,—छन्द लक्षणानुसरण से भी श्रुति मधुर न होना, प्रकृत रसका अनुकूल न होना, गुरु जहाँ होना है, वहाँ गुरु न होना, पादके अन्त में लघुवर्ण होना, हतवृत्त है। क्रमेण यथा—"कृष्ण सतत मेतस्या हृदयं भिन्ते मनोभवः कुपितः।" यहाँ 'कृष्ण' यहाँ यति दोष है। 'हरिमनुपरिहर मानिनि मानं' यह वृत्त हास्य रसका अनुकूल है। "विकसित सहकार सार हारि परिमल एष हरे मधु

पदान्ते लघोरपि गुरुभाव उक्त स्तत् सर्वत्र द्वितीय-चतुर्थपादं विषयम् । प्रथम-तृतीयपाद विषयं तु वसन्ततिलकादावेवेति । 'प्रमुदितसौरभ एष हरे वसन्त इति तु पाठो युक्तः ।

अन्या स्ता गुणरत्नरोहणभुवो धन्या मृदन्यैव सा
जातो यत्र महाहरिन्मणितनुः सोऽयं महापूरुषः ।
यत्तेजः पतिताः सुरारि-निकरा वाढं सुरस्त्रीगणा
धर्त्तुं न प्रभवन्त्यनुक्रमगतान्यस्त्राणि वस्त्राणि च ॥

अत्र वस्त्राणि चेति श्लथत्वश्रुतिः । वस्त्राण्यपीति पाठे तु बन्धदार्ढ्यं च स्यात् । इदमप्यप्राप्तगुरु लघुभावोन्तलघ्वित काव्यप्रकाशकारः । वस्तुतस्तु लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यमित्यन्ये ॥७॥

प्रज्वलज्ज्वलन-ज्वाला विकटोरु-सटाघटः ।
श्वास-क्षिप्तकुलक्ष्माभृत् पातु वो नरकेसरी ॥

अत्र क्रमेणानुप्रास-प्रकर्षः पतितः ॥८॥

---

विभाति' पदान्त में लघुका भी गुरु भाव होना जो विधान है, वह सर्वत्र द्वितीय चतुर्थ पादमें होता है । प्रथम तृतीय पाद विषय तो वसन्ततिलकादि में हैं । 'प्रमुदित सौरभ एष हरे वसन्त' इह पाठ साधु है ।

अन्या स्ता गुणरत्नरोहणभुवो धन्या मृदन्यैव सा
जातो यत्र महाहरिन्मणितनुः सोऽयं महापूरुषः ।
यत्तेजः पतिताः सुरारि-निकरा वाढ़ सुरस्त्रीगणा
धर्त्तुं न प्रभवन्त्यनुक्रमगतान्यस्त्रानि वस्त्राणि च ॥

यहाँ 'शार्दूल विक्रीड़ित छन्द' होनेसे अन्तिम वर्णका गुरु होना आवश्यक है । किन्तु 'वस्त्राणि' लघु है । 'वस्त्राण्यपीति पाठ' होनेसे गुरु होता है, काव्य प्रकाश में वह पाठ नहीं है, अतः दोषका उद्धार नहीं होता है । लक्षणानुसरण से भी अश्रव्य दोष रह ही जाता है, यह मत अपर का है ॥७॥

प्रज्वलज्ज्वलन-ज्वाला विकटोरु-सटाघटः ।
श्वास-क्षिप्तकुलक्ष्माभृत् पातु वो नरकेसरी ॥

'दलिते अम्वुजे एते अक्षिभ्यां सुरवैरिणः।' एवम्विध सन्धिविश्लेषस्यासकृत् प्रयोग एव दोषः। अनुशासनमुल्लङ्घ्य वृत्तभङ्गभयमात्रेण सन्धिविश्लेषस्य तु सकृदपि, यथा—

"हरि वृन्दाबने भाति इन्दिरावृन्द-सङ्गतः" ॥९॥

'चुक्रोध स तदा कंसश्चलण्डामर-चेष्टितः।' अत्र सन्धौ जुगुप्सा व्यञ्जितमश्लीलत्वं ॥१०॥

'दैत्यजित्युदयत्युच्चै स्तव्ययत्यार्त्तिः किमित्यभूत्'। अत्र सन्धो कष्टत्वं ॥११

अर्द्धान्तरैकपदता माह—

'इन्दु र्विभाति कर्पूरगौरै र्धवलयन् करैः।
जगन्मा कुरु तम्वङ्गि मालं काकुकरे हरौ॥'

अत्र जगदिति पदं प्रथमार्द्धे पठितुमुचितं ॥१२॥

'नाशयन्तो घनध्वान्तं तापयन्तो वियोगिनीः।
विलसन्ति कराश्चान्द्राः पूरयन्तः स्मरं हरौ॥'

अत्र तृतीय-चरणे वाक्ये समाप्तेऽपि चतुर्थचरणे तद्विशेषणं पुनरात्त ॥१३

---

यह क्रमिक प्रकर्ष हीनता का उदाहरण है। इसके श्रोता का आनन्द क्रम से ह्रास होता है। यहाँ क्रम से अनुराग का प्रकर्ष पतित है॥८॥ 'दलिते अम्वुजे एते अक्षिभ्यां सुरवैरिणः।" यहाँ सन्धि विहीन दोष है, इससे श्रोता का मन विरक्त होता है, रस प्रकर्ष नाशक यह है। यह तो बारम्बार के लिए है, किन्तु अनुशासन का उल्लङ्घन कर वृत्तभङ्गभय से सन्धिविश्लेष करने स सकृत् प्रयोग से भी दोष होता है। यथा—"हरि वृन्दाबने भाति इन्दिरा-वृन्द-सङ्गतः" ॥९॥ "चुक्रोध स तदा कंसश्चलण्डामर-चेष्टितः।" यहाँ सन्धि से भी जुगुप्सा व्यञ्जित अश्लीलता है॥१०॥

"दैत्यजित्युदयत्युच्चै स्तव्ययत्यार्त्तिः किमित्यभूत्।" यहाँ सन्धि क्लिष्टता का सूचक है॥११॥ अर्द्धान्तरैकपदता दोष दिखाते हैं।

"इन्दु र्विभाति कर्पूरगौरै र्धवलयन् करैः।
जगन्मा कुरु तम्वङ्गि मालं काकुकरे हरौ॥"

अत्र जगदिति पदं पथमार्द्धे पठितुमुचितम्॥१२॥

अभवन्मत-सम्बन्धो यथा—

'या जयश्री र्मनोजस्य जया जगदलङ्कृतं ।
यामेणाक्षीं विना प्राणा विफला मे हरेः क्व सा ।।

अत्र यच्छब्दनिर्द्दिष्टानां वाक्यानां परस्परनिरपेक्षत्वादेकान्तः पातिना त्वेणाक्षी शब्देनान्येषां सम्बन्धः कवे रभिमतोऽपि नोपपद्यत एव । 'यां विनाहं वृथा कृष्णः स्यामेणाक्षी क्व सा मम' इति तच्छब्दनिर्द्दिष्टवाक्यान्तःपाते तु सर्वैरपि यच्छब्दनिर्द्दिष्टवाक्यैः सम्बन्धो घटते ।

यथा वा—ईक्षते यत्कटाक्षेण कृष्ण स्तर्हि कुलस्त्रियः ।
सर्वतृष्णां परित्यज्य तत्तृष्णामेव बिभ्रति ।।

अत्र यदित्यनेन तदित्यस्य सम्बन्धो न घटते । ईक्षते चेदिति तु पाठो युक्तः ।

तथा—'ज्योत्स्नाचयः पयःपूर स्तारकाः कैरवाणि च ।
विधुस्तु व्योमकासारहंसः कृष्ण समीक्ष्यतां ।।'

---

पुनरात्त दोष—

"नाशयन्तो घनध्वान्तं तापयन्तो वियोगिनीः ।
विलसन्ति कराश्चान्द्राः पूरयन्तः स्मर हरौ ।।"

यहाँ तृतीय चरण में वाक्य समाप्त होने परभी चतुर्थ चरण में उस का एक विशेषण दिया गया है, यह पुनरात्त है ।।१३।।

भवन्मत-सम्बन्ध—

"या जयश्री र्मनोजस्य यया जगदलङ्कृतं ।
यामेणाक्षीं विना प्राणा विफला मे हरेः क्व सा ।।"

यहाँ 'यत्' शब्द निर्दिष्ट वाक्यों का परस्पर निरपेक्षत्व है । 'एणाक्ष' शब्द अलग पड़गया है, उसका अन्वय होना कवि का मत है, किन्तु सम्भव नहीं है । "यां विनाहं वृथा कृष्णः स्यामेणाक्षी क्व सा मम" तत् शब्द के द्वारा समस्त तच्छब्दनिर्दिष्ट वाक्यों का सम्बन्ध होगा । यथा वा—

"ईक्षते यत्कटाक्षेण कृष्ण स्तर्हि कुलस्त्रियः ।
सर्वतृष्णां परित्यज्य तत्तृष्णामेव बिभ्रति ।।"

यहाँ 'यद्' शब्द 'तत्' का सम्बन्ध नहीं होता है । 'ईक्षते चेदिति'

अत्र कासार-शब्दस्य समासे गुणीभावान्न तदर्थस्य सर्वैः संयोगः तस्माद्व्योमः-कासार इति सप्तम्यन्तमेव पदं वक्तव्यं । विधेयाविमर्शे यदेवाविमृष्टं तदेव दुष्टं । इह तु प्रधानस्य कासार-पदार्थस्य प्राधान्येऽप्रतीतेः सर्वोऽपि पयःपूरादि-पदार्थं स्तदङ्गतया क प्रतीयते इति सर्ववाक्यार्थ तिरोभाव इत्युभयो र्भेदः ॥१४

**अक्रमता** यथा—'हरिभक्तिः परं श्रेयः प्रवदन्तीति साधवः'

अत्र परामृश्यमान वाक्यानन्तरमेवेति-शब्द प्रयोगो युक्तः । न तु प्रवदन्ती-त्यनन्तरं । एवं—

'द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागतप्रार्थनयापि नाकिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावत स्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥

अत्र त्वमित्यनन्तरमेव 'च'कारो युक्तः ॥१५॥

**अमतपरार्थता** यथा—

राम-मन्मथशरेण ताड़िता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिर-चन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥

---

इस प्रकार पाठ युक्त है । तथा—

"ज्योत्स्नाचयः पयःपूर स्तारकाः कैरवाणि च ।
विधुस्तु व्योमकासार हंसः कृष्ण समीक्ष्यतां ॥"

यहाँ 'कासार' शब्द समास से गौण हो गया है, उसके साथ अपर सब का अन्वय नहीं होगा, अतः व्योमकासारे सप्तम्यन्त पद देना आवश्यक है । विधेयाविमर्श में जो अविमृष्ट है, वह ही दोष है । यहाँ तो प्रधान कासार पदार्थ का प्रधान रूपसे बोध नहीं होता है । सकल पयःपूरादि पदार्थ, उसके अङ्ग रूपसे प्रतीत नहीं होते हैं । सर्व वाक्यार्थ का तिरोभाव यहाँ है, यह दोनों का भेद है ॥१४॥

**अक्रमता**—"हरिभक्तिः परं श्रेयः प्रवदन्तीति साधवः" यहाँ परामृश्यमान वाक्यके अनन्तर इति शब्द का प्रयोग होना युक्त है। प्रवदन्तीति के बाद नहीं । एवं—

"द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागतप्रार्थनयापि नाकिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावत स्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥"

अत्र 'त्वं' इसके बाद ही 'च'कार होना उचित है ॥१५॥

अत्र शृङ्गाररस-व्यञ्जको द्वितीयोर्थः गन्धवद्रुधिरेत्यादि सूचितवीभत्सरस-विरुद्धत्वादनिष्टं ॥१६॥

**वाच्यानभिधां यथा—**

'व्यतिक्रमलवं कं मे वीक्ष्य गोपि प्रकुप्यसि' अत्र व्यतिक्रमस्य लवमपीत्यपि रवश्यं वक्तव्यो नोक्तः। न्यूनपदत्वे वाचकपदस्यैव न्यूनता विवक्षिता। अपेस्तु द्योतकत्वान्न तथात्वमिति भेदः।

'अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च दृष्टै रत्यद्भुतै रपहृतस्य तथापि नास्था'—तत्रापहृतोऽस्मीति विधि र्वाच्यः। स च षष्ठ्या गुणीभूतः। तस्मादत्रैव न्यून-पदता वाच्यानभिधानयो र्भेदः स्पष्टः। अविमृष्टविधेयांशता वाच्यानभिधानयो र्विधेयस्यास्थान-पतितत्वेन वाच्याभावेन भेदो ज्ञेयः। तत्तु विधेयमनूद्यापेक्षं। वाच्यं तु स्वतन्त्रमिति विधेयवाच्ययो र्भेदः ॥१७॥

**भग्नप्रक्रमता यथा** - 'एवमुक्तो मित्रवर्गं रावणः प्रत्यभाषत।'

---

**अमतपरार्थता—**

"राम-मन्मथशरेण ताड़िता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिर-चन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा॥"

यहाँ शृङ्गार रस व्यञ्जक है, द्वितीय अर्थ—गन्धवद्रुधिर से सूचित वीभत्स रस है। अतः विरुद्ध होने से अनिष्ट है ॥१६॥

**वाच्चानभिधान**—'व्यतिक्रमलवं कं मे वीक्ष्य गोपि प्रकुप्यसि" यहाँ व्यतिक्रम लवमपि, इस प्रकार अवश्य कहना चाहिये, किन्तु नहीं कहा है। न्यून पदत्व में वाचक पदकी न्यूनता कही गई है, अपि द्योतक होने से उक्त दोष यहाँ नहीं है।

"अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च दृष्टै
रत्यद्भुतै रपहृतस्य तथापि नास्था॥"

यहाँ 'अपहृतोऽस्मीति विधि र्वाच्यः।' वह षष्ठी से गुणीभूत हो गया है। अतः यहाँपर ही न्यूनपदता वाच्यानभिधान का भेद सुस्पष्ट है। 'अविमृष्टविधेयांशता वाच्यानभिधान' का भेद विधेय का अस्थान पतित होने से वाच्य का अभाव से क्रमशः जानना होगा। 'तत्तु विधेयमनूद्यापेक्षं' वाच्य स्वतन्त्र है, विधेय वाच्यका यह भेद है॥१७

अत्र वचिना प्रक्रान्त-प्रतिवचनमपि तेनैवोचितं। तेन रावणः प्रत्यवोचतेति युक्तं। एवञ्च सति न कथित-पदत्वं दोषः। तस्योद्देश्यप्रतिनिर्देश्येतर-विषयत्वात्। इह हि वचन-प्रतिवचनयो रुद्देश्य प्रतिनिर्देश्यत्वं। यथा—

"उत्थन् हरिदिशि रागी गच्छन्नस्तं च रोचते रागी।
तां रुचिमदं तमन्त विभवं विघ्नं विभर्त्ति मार्त्तण्डः॥

अत्र हि रागीत्यत्र पदान्तरेण यदि स एवार्थः प्रतिपाद्यते, तदान्योऽर्थ इव भासमानः प्रतीतिं स्थगयति।

यथा वा—'ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनं।
सिद्धञ्चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः॥

अत्रास्मा इतीदमा प्रक्रान्तस्य तेनैव तत्समानाभ्यामेतददः शब्दाभ्यां वा परामर्शो युक्तो, न तच्छब्देन।

यथा वा—'उदन्वच्छिन्ना भू र्व्यवहितिकरीत्याननशत-
पति र्वारामास्ते जनकदुहिता तत्परदिति।'

---

**भग्नप्रक्रमता**—'एवमुक्त मित्रवर्गं रावणः प्रत्यभाषत।' यहाँ 'वच' धातु से आरम्भ कर प्रतिवचन उससे देना ही आवश्यक था, 'तेन रावणः प्रत्यवोचत' ऐसा कहना ठीक था, इससे कथित-पदत्व दोष नहीं होगा। उसका उद्देश्य प्रतिनिर्देश्य भिन्न विषय है। यहाँ पर वचन प्रतिवचन का उद्देश्य प्रतिनिर्देश्यत्व है। यथा—

"उत्थन् हरिदिशि रागी गच्छन्नस्तं च रोचते रागी।
तां रुचिमदं तमन्त विभवं विघ्नं विभर्त्ति मार्त्तण्डः॥"

यहाँ 'रागी' पदान्तर से भी यदि वैसा अर्थ ही होता, तब अन्य अर्थ की भाँति प्रतीति होकर बोध का बाधक बनेगा। यथा वा—

"ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनं।
सिद्धञ्चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः॥"

यहाँ 'इदम्' शब्द से आरम्भ होकर उसका समानार्थक एतत् अदस् शब्द से ही परामर्श युक्त था, तत् शब्द से नहीं। यथा वा—

"उदन्वच्छिन्ना भू र्व्यवहितिकरीत्याननशत-
पति र्वारामास्ते जनकदुहिता तत्परदिशि।"

अत्र 'उदन्वच्छिन्ना भू र्व्यवहिति रुदन्वानपि चतुःशतक्रोशास्ते' इति वक्तव्यं। एवं—'त्वामेवाश्रयितुं कृष्ण त्वद्भक्तै रेव वाञ्छया।
तवाप्तिमेव निश्चेतुं श्रीमद्भागवतं भजे॥'

अत्र त्वयि प्रेमैव वाञ्छितमिति युक्तं। अत्र आद्ययोः प्रकृतिविषयः प्रक्रमभेदः॥ तृतीये पर्य्यायविषयः। चतुर्थे प्रत्यय-विषयः॥१८॥

**प्रसिद्धित्यागो** यथा—

"मेघानां रववत् प्रोचे जरासन्धमुरान्तकः।"

अत्र मेघानां गर्जितमेव प्रसिद्धं। यदाहुः—मञ्जीरादिषु रणितप्रायं। पक्षिषु कूजितप्रभृति। सुरते स्वनित मणितादि। मेघादिषु गर्जितमुखमित्यादि॥

**अस्थानपदता** यथा—'गोवर्द्धन-समः क्वापि गिरिरस्ति सखे नहि।
यः स्वयं छत्रतां नीत श्छत्रता सर्वमूर्द्धनि॥'

---

यहाँ 'उदन्वच्छिन्ना भू र्व्यवहिति रुदन्वानपि चतुःशतक्रोशास्ते' इस प्रकार कहना उचित है, एवं

"त्वामेवाश्रयितुं कृष्ण त्वद्भक्तै रेव वाञ्छया।
तवाप्तिमेव निश्चेतुं श्रीमद्भागवतं भजे॥"

यहाँ तुम्हारे प्रति प्रेम की वाञ्छा के लिए, ऐसा कहना ठीक है। प्रथमचरण द्वयमें प्रकृति विषय प्रक्रमभेद, तृतीये पर्य्याय विषय, चतुर्थ में प्रत्यय विषय है॥१८॥

**प्रसिद्धित्याग** का उदाहरण—'मुरान्तक' श्री कृष्ण मेघध्वनि सदृश शब्दसे जरासन्ध को कहे थे। यहाँ मेघ गर्जन प्रसिद्ध है। 'रव' शब्द प्रयोग से प्रसिद्धि त्याग हुआ है। पण्डितगण कहते हैं—मञ्जीर में रणित शब्द, पक्षि में 'कूजित रुत' शब्द, सुरतमें स्वनित स्तनित मणित रुत शब्द, मेघादि में सिंहादि में गर्जित स्तनितादि शब्द का प्रयोग करे॥१९॥

**अस्थान पदता**—अनुपयुक्त स्थान में वाचक पदप्रयोगवत्त्व अस्थानस्थ पदत्व है, अस्थान में वाचक पद प्रयोग से अस्थान पदता है। अस्थान में द्योतक पद प्रयोग से अक्रम होता है। अन्वयोपयोगि स्थानानुसन्धान के लिए विलम्ब होनेसे यह नित्य दोष होता है।

अत्र नहि रस्थानपतितः। अत्र पदमात्रस्यास्थान-निवेशेऽपि सर्वमेव वाक्यं विवक्षितार्थ-प्रत्यायने मन्थरमिति वाक्यदोषता। एवमन्यत्रापि। इह केचिदाहुः—पदशब्देन वाचकमेव प्रायो निगद्यते। नहि नञ् पर्य्यायस्य नहे र्वाचकता निर्विवादा। स्वातन्त्र्येणार्थ-बोधविरहात् इति। यथा द्वयं गतमित्यादौ त्वमित्यनन्तरं चकारानुपादानादक्रमता तथेहापीति ॥२०॥

**अस्थानस्थ-समासता** यथा—

अद्यापि स्तनशैलदुर्ग-विषमे कृष्णप्रियाणां हृदि
स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः।
उद्यन् दूरतर-प्रसारित-करः कर्षत्यसौ तत्क्षणात्
फुल्लत् कैरव-कोषनिःसरदलिश्रेणी कृपाणीं शशी ॥

अत्र कोपिन उक्तौ समासो न कृतः। कवेरुक्तौ तु कृतः ॥

---

उदाहरण—हे सखे! गावर्द्धन के समान काई भी पर्वत नहीं है, जो स्वयं सबके शिर में चित्रता को प्राप्त किए है। यहाँ 'नहि' शब्द, अस्थान पतित है, अस्थान में पदों का निवेश से विवक्षिताथ बोधन में देरी होगी। यह वाक्य दोष है, कोई कहते हैं, पद शब्द से वाचक का ही प्राय प्रयोग होता है। अमानोना प्रतिषेध में होता है, 'न' के स्थान पर 'नहि' का प्रयोग है। स्वतन्त्र होकर अर्थ बोधक नहीं हाता है। द्वयंगतं इत्यादि में "त्वम्" इसके बाद चकारका प्रयोग न होनेसे अक्रमता है ॥२०॥

**अस्थानस्थ समासता**—दोष को कहते हैं, समास का अवस्थान स्थानान्तर में होने से स्वपोषक रसका अपोषक से दोष होता है, यह नित्य दोष है। उदाहरण—आज भी कृष्णप्रिया के स्तनशैल दुर्ग विषम हृदय में मान रहना चाहता है, मैं रहना हुआ ऐसा हाता है, इससे मुझे धिक्कार है। इस प्रकार चन्द्रमा क्रोध से लोहित वर्ण होकर प्रस्फुटित कैरव श्रेणी से निर्गत अलिश्रेणी रूप तरवारि को ग्रहण करता है मान को छेदन करने के लिए मान के प्रति क्रुद्ध चन्द्र का समास नहीं किया अभिप्राय यह है कि—दीर्घ समास आजोगुण व्यञ्जक है, ओजोगुण रौद्र रस में प्रयोजनीय है। रौद्ररस क्रुद्ध चन्द्रका

वाक्यान्तरपदानां वाक्यान्तरेऽनुप्रवेशः सङ्कीर्णत्वं। यथा—

''मुञ्च चन्द्रं कृष्णकान्ते पश्य मानं नभोऽङ्गने''

अत्र चन्द्रं पश्य मानं मुञ्चेति युक्तं। क्लिष्टं त्वेकवाक्यविषयमित्यसंभिन्नं ॥२२

वाक्यान्तरमध्ये वाक्यान्तरानुप्रवेशो गर्भितत्वं। यथा—

कृष्णे त्वच्चरण-प्रान्ते दृष्ट्वा शश्वत् स्तुवत्यपि।
वदामि सखि ते तत्त्वं कदाचिन्नोचिताः क्रुधः ॥२३॥

---

**अर्थदोषानाह—**

१ २ ३ ४ ५ ६
**अपुष्ट-दुष्क्रम-ग्राम्यव्याहताश्लील-कष्टताः।**

---

वाक्य में है, कवि वाक्य में नहीं, चन्द्र वाक्य में दीर्घ समास होना आवश्यक था, किन्तु नहीं हुआ है। कवि वाक्य में समास करना आवश्यक नहीं था किन्तु किया है। स्वव्यङ्ग्यरसाव्यञ्जक शब्द में समास होनेसे अस्थानस्थ समासता दोष है, उदाहरण—हे कृष्णकान्ते! चन्द्र को छोड़ो,नभोऽङ्गन में मान को देखो। यहाँ चन्द्र पश्य, मान मुञ्च कहना ठीक था।

**क्लिष्ट**—एक वाक्य विषय क्लिष्ट है सङ्कीर्णत्व दोष से यह भिन्न है, यह अनेक वाक्य विषय है, अनेक वाक्य में क्लिष्टत्व दोष नहीं है ॥२२॥

वाक्यान्तर में वाक्यान्तर का अनुप्रवेश से गर्भितता दोष होता है। उदाहरण—हे सखि! तुम्हारे पास मैं सत्य तत्त्व कहती हूँ, कृष्ण तुम्हारे चरण प्रान्त में है, और स्तवभी कर रहा है,अतः क्रोध करना ठीक नहीं है, यहाँ वदामि सखि ते तत्त्वम्—अंश, कृष्णे त्वच्चरण प्रान्ते दृष्ट्वा शश्वत् स्तुवत्यपि कदाचिन्नोचिताः क्रुधः—इस वाक्य में प्रविष्ट होने से गर्भितता दोष हुआ है ॥२३॥

वाक्य दोष कहने के बाद अर्थ दोष का कहते हैं, यहाँ अर्थ शक्य लक्ष्य व्यङ्ग्यरूप तीन प्रकार है। यह दोष २३त्रयोविंशति प्रकार हैं। १.अपुष्टता, २.दुष्क्रमता, ३.ग्राम्यता, ४.व्याहतता, ५.अश्लीलता,

७ ८ ९
अनबीकृत-निर्हेतु-प्रकाशितविरुद्धताः ॥
१० ११ १२ १३
सन्दिग्ध-पुनरुक्तत्वे ख्याति-विद्याविरुद्धते ।
१४ १५ १६
साकाङ्क्षता-सहचरभिन्नता-स्थानयुक्तता ॥
१७ १८
अविशेषे विशेषश्चानियमे नियम स्तथा ।
१९ २० २१ २२
तयो विपर्य्ययो विध्यनुवादयुक्तते तथा ।
२३
निर्मुक्त-पुनरुक्तत्वं महादोषाः प्रकीर्त्तिताः ॥

तद्विपर्य्ययो विशेषेऽविशेषो नियमेऽनियमश्च । अत्रापुष्टत्वं मुख्यानुपकारित्वं । यथा—"विलोक्य वितते व्योम्नि विधुं राधे रुषं त्यज ।" अत्र वितत शब्दो मानत्यागं प्रति न किञ्चिदुपकुरुते । अधिकपदत्वे पदार्थान्वय-

---

६.कष्टता, ७.अनबीकृतता, ८.निर्हेतुता, ९.प्रकाशितविरुद्धता । १०. सन्दिग्धता, ११.पुनरुक्तता, १२.ख्यातिविद्या, १३.विरुद्धता, १४. साकाङ्क्षता, १५.सहचरभिन्नता १६.स्थानयुक्तता, १७.अविशेषमेंविशेष, १८.अनियम में नियम, १९.विशेष में अविशेष, २०.नियम में अनियम, २१.विधि अयुक्तता, २२.अनुवाद अयुक्तता, २३.निर्मुक्त पुनरुक्तता त्रयोविंशति प्रकार अर्थ दोष है । ये महा दोष हैं ।

मूलोक्त तद्विपर्य्यय शब्द का अर्थ—विशेष में अविशेष, नियम में अनियम, अपुष्टत्व–मुख्यानुपकारित्व–उद्देश्यानुपयोगित्व । उद्देश्यानुपयोगि अर्थ का सन्निवेश से कारणानुसन्धान में विलम्ब होता है, इससे रस प्रतीत में विलम्ब होना है । यह नित्य दोष है । उदाहरण —हे राधे ! विस्तृत आकाश में चन्द्रमा को देखकर क्रोध परित्याग करो । यहाँ वितत शब्दका अर्थ मानत्याग के प्रति कुछ भी सहायक

प्रतीतेः समकालमेव बाध-प्रतिभासः। इह तु पश्चादिति विशेषः ॥१॥

**दुष्क्रमता** यथा—"देहि मे वाजिनं कृष्ण ! गजेन्द्रं वा मदालसं।" अत्र गजेन्द्रस्य प्रथमयाचनमुचितं ॥२॥

**ग्राम्यता** यथा—"एहि वीर गृहं यामो न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे।
त्वयोन्मथित-चित्तायाः प्रसीद पुरुषर्षभ ॥"

अत्रार्थो ग्राम्यः ॥३॥

**व्याहतता** यथा—कस्यचित् प्रागुत्कर्षमपकर्षं वाभिधाय पश्चात्तदन्यथा प्रतिपादनं व्याहतत्वं।

---

नहीं होता है। अतएव अपुष्टता दोष है। चन्द्र दर्शन मात्र से ही मदनोद्दीपन होता है, उससे मानत्याग भी होता है। चन्द्र की आकाश में स्थिति रूप अर्थ मानत्याग के लिए उपयोगी नहीं है, व्योम्नीति पद भी यहाँ अनावश्यक हैं। यहाँ अधिक पदत्व दोष होना ही आवश्यक है, ऐसा कहा नहीं जा सकता। अधिक पदत्व में पदार्थान्वय प्रतीति के समकाल में ही अनावश्यक रूपसे व्यर्थता का ज्ञान होता है। अपुष्टता दोष स्थल में पदार्थान्वय के बाद ही अनावश्यक रूप में व्यर्थता का बोध होता है। यह दोनों का विशेष अर्थात् भेद है ॥१॥

**दुष्क्रमता** यथा—हे कृष्ण ! मुझको अश्व दो, अथवा मदमत्त हस्ती प्रदान करो। यहाँ प्रथम गजराज की प्रार्थना की आवश्यकता रही ॥२॥

**ग्राम्यता** यथा—हे वीर ! आओ, घरको चलें, तुम्हें छोड़ने का मन नहीं करता है, तुम से मन उन्मथित हो गया है। हे पुरुषश्रेष्ठ ! प्रसीद ! इसका अर्थ ग्राम्य है, अशिक्षित साधारण प्रयोज्य ही ग्राम्यता का लक्षण है। ग्राम्यरूप निकृष्टार्थ का श्रवण से ही श्रोता का मन अप्रसन्न होता है ॥३॥

**व्याहतता**—किसी वस्तु का पहले उत्कर्ष स्थापन कर पश्चात् अपकर्ष प्रतिपादन अथवा पहले अपकर्ष स्थापन कर पश्चात् उत्कर्ष प्रतिपादन। पूर्वापर परस्पर का विरोध होने से परस्पर-परस्पर का

"हरेन्न हृदयं स्त्रीणां पूर्णशीतांशुरप्यसौ ।
वीक्ष्यते याभि रेतस्य श्यामस्य स्मितचन्द्रिका ॥"

अत्र यासां पूर्ण शीतांशु र्नानन्दहेतु स्तासामेवानन्दाय चन्द्रिकात्वारोपः ॥४॥

**अश्लीलता** यथा—"हन्तुमेव प्रवृत्तानां स्तब्धानां विवरैषिणां ।
असाधूनां ध्रुतं पातः पुनरुत्थानमाशु न ॥"

अत्र श्लेषेण दृष्टान्तार्थोऽश्लीलः ॥५॥

**कष्टता** यथा—[ अर्थस्य दुरूहत्वं कष्टत्वं ]

वर्षत्येतदहर्पति र्न तु घनो धामस्थमच्छं जलं
सत्यं सा सवितुः सुता सुरसरित् पूरो यया प्लावितः ।
व्यासस्योक्तिषु विश्वसित्यपि कथं श्रुत्वा न कस्य श्रुतौ
न प्रत्येति तथापि मुग्धहरिणी भास्वन्मरीचिष्वपः ।

अत्र यस्मात् सूर्य्याद् वृष्टे र्यमुनायाश्च प्रभव स्तस्मात्तयो र्जलमपि सूर्य्य-प्रभवं । ततश्च सूर्य्यरश्मीनां जल-प्रत्ययनमुचितं । तथापि मृगी भ्रान्तत्वात्तत्र जल-प्रत्ययं न करोति—इत्ययमप्रस्तुतोऽप्यर्थो दुर्बोधः । दूरे चास्मात् प्रस्तुतार्थबोध इति कष्टार्थत्वं ॥६॥

---

बाधक होने से व्याहत संज्ञा होती है। उदाहरण—पूर्ण चन्द्र जिन ललनाओं का चित्त हरण करने में असमर्थ है, श्रीकृष्ण को स्मित चन्द्रिका उसमें समर्थ है। यहां पूर्णशितांशु जिनका आनन्ददायक नहीं है, उनके आनन्द के लिए कृष्णस्मित चन्द्रिका पर्याप्त है ॥४॥

**अश्लीलता**—शत्रु विजय में प्रवृत्तजन नीतिज्ञानाभाव से स्तब्ध होकर रहने से सहसा शत्रु का आक्रमण से उसकी हार होती है, इस प्रकार अर्थान्तर में अश्लीलता है ॥५॥

**कष्टता**—अर्थ का बोध कष्ट से होने से यह दोष होता है। उदाहरण आदित्य से वर्षा होती है, उससे यमुना नदी बनी है और गङ्गा से मिलकर प्रवाह को बढ़ाती रहती है। श्रीव्यासदेव की उक्ति भी इस प्रकार ही है, तो भी मुग्ध हरिणी मरीचिका में जल नहीं है, ऐसा मानती है। यहाँ सूर्य से वृष्टि एवं उससे यमुना होती है, अतः दोनों का जल भी सूर्य से ही होता। अतः सूर्यरश्मि भी जल है, ऐसा मानना

**अनवीकृतता** यथा—"सदा चरति खे भानुः सदा वहति मारुतः ।
सदा धत्ते भुवं शेषः कृष्णः पाति सदा सतः ॥"

अत्र सदेत्यनवीकृतं । अत्रास्य पदस्य पर्य्यायान्तरेणोपादानेपि यदि नान्यद्-विच्छित्यनन्तरं, तदास्य दोषस्य सद्भाव इति कथित-पदाद्भेदः ।

**नवीकृतन्तु** यथा—"हरिः सदा पाति समस्तलोकं
रात्रिन्दिवं तं विबुधाः स्तुवन्ति ॥७॥"

**निर्हेतुता** यथा—"यद्यप्यानकदुन्दुभिसुतताख्यातिं गतः कृष्णः ।
तदपि च नन्द स्तं सुतमेवाजानीत नान्यकं क्वापि ॥"

---

उचित है। तथापि मृगी भ्रान्त है, वैसा नहीं मानती है। यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा है। अप्रस्तुत सूर्य के द्वारा वर्षा होती है। इस कथन से प्रस्तुत निज द्वारा धनप्रदान को पुष्ट करना अप्रस्तुतप्रशंसा है। किन्तु यह दुर्बोध है, इससे प्रस्तुतार्थ का बोध अत्यन्त व्यवहित होता है ॥६॥

**अनवीकृतता**—एकविध शब्द से पुनर्वार एकार्थकथन अनवीकृत है। अन्यविध शब्द से अर्थमें नवीनता न आने से अनवीकृत दोष होता है। चर्वित चर्वण रीति से एकविध शब्द के द्वारा पुनः पुनः एकार्थ का ज्ञान होने से श्रोता का विराग उत्पन्न होता है, इस से रसोत्कर्ष नष्ट होता है। यह नित्य दोष है। उदाहरण—भानु सर्वदा आकाश में विचरण करते हैं, पवन भी दिन-रात प्रवाहित होते हैं। शेषनाग सर्वदा पृथिवी को धारण करते हैं। धीरगण सर्वथा आत्मश्लाघा हीन होते हैं। यहाँपर 'सदा' शब्द अनवीकृत दोष का सूचक है। विच्छित्ति बोधक नहीं है। इस पदका पर्यायवाची शब्द का प्रयोग से भी यदि चमत्कारातिशय नहीं होता है तो उक्त दोष रह ही जाता है। नवीकृत का उदाहरण—श्रीहरि सदा समस्त भुवन का पालन करते हैं, देवतागण उन्हें दिन-रात स्तव करते हैं। यहाँपर दोष नहीं है ॥७॥

**निर्हेतुता** यथा—यद्यपि कृष्ण आनकदुन्दुभि के पुत्र रूपसे ख्यात थे, तथापि नन्द उनको अपना पुत्र ही जानते थे। अन्यका नहीं।

अत्राजानीते।यत्र हेतु र्नोक्त इति निर्हेतुत्वं। 'गर्गगीविस्रब्ध' इति तु पठिते सहेतुता स्यात् ॥८॥

**प्रकाशित-विरुद्धता** यथा—'कुमार स्ते जरासन्ध राज्यं समधिगच्छतु।'
अत्र त्वं तु म्रियस्वेति विरुद्धार्थ प्रकाशनेन प्रकाशितविरुद्धत्वं ॥९॥

**सन्दिग्धता** यथा—'हरो हरि र्वा सेव्यः स्यादिति निर्णयमाचर।"
अत्र प्रकरणाभावाद् वक्तुरस्य शिवविष्णो रेकत्र वासनेति सन्दिग्धत्वं ॥१०

**पुनरुक्तत्वं** यथा—"हरिमेव भजेत बुद्धिमां स्तदभक्तिः परमापदां पदं।
तदनुव्रतमाशु वृण्वते सुखलुब्धा स्वयमेव सम्पदः॥"
अत्र द्वितीयार्द्ध व्यतिरेकेण द्वितीयचरणस्यार्थं इति पुनरुक्तता ॥११॥

---

यहाँ आजानीते हेतु का कथन नहीं है, अत यह निर्हेतुक है। "गर्गगीविस्रब्ध" इस प्रकार पाठ से सहेतुता होगी ॥८॥

**प्रकाशित विरुद्धता** यथा—अनिष्टार्थ व्यञ्जकत्व-प्रकाशितविरुद्धता है। अनिष्टार्थ प्रकाशन से श्रोता का उद्वेग होता है, और रस पोषक नहीं होता है, यह नित्य दोष है। उदाहरण—हे जरासन्ध! तुम्हारे कुमार राज्य प्राप्त करे। पिता जीवित होने पर पुत्र की राज्य प्राप्ति असम्भव है। अतः तुम मर जाओ, पश्चात् कुमार राजा होगा, इस प्रकार अनिष्टार्थ सूचित होता है। विरुद्धार्थ प्रकाशन के साथ इस का भेद यह है। विरुद्धार्थ में शब्द भेद से दोष नहीं होगा, यहाँ कुमार शब्द का अप्रयोग से भी उक्त दोष होगा ॥९॥

**सन्दिग्धता** यथा—हर हरि में सेव्य कौन है, निर्णय करो। यहाँ वक्ता का कथन पहले से नहीं है। यहाँ वक्ता का निश्चय नहीं है। शाब्दत्व आर्थत्व भेद से प्रागुक्त दोष से यह भिन्न है ॥१०॥

**पुनरुक्तता** यथा—जिस किसी से ज्ञात अर्थ का पुनर्वार कहना पुनरुक्तता है। उदाहरण—बुद्धिमान् हरि का ही भजन करें, हरि भक्ति न करना ही परमापद का स्थान है, हरि भक्ति का अनुसरण सम्पद स्वयं ही करती है, सुखलुब्धा स्वयं ही सम्पद् होती है। द्वितीयार्द्ध में 'वृणते' वाक्य में विपरीत भावसे अर्थ हो जाता है,

**प्रसिद्धिविरुद्धता** यथा—"तत श्चचाल समरे शितशूलधरो हरिः ।" अत्र हरेः शूलधरत्वमप्रसिद्धं ।

यथा वा—'पादाघातादशोक स्ते राधे जाताङ्कुरः स्फुटं ।" अत्र पादाघातादशोकस्य पुष्पमेव जायते इति प्रसिद्धं । न चाङ्कुरोऽपीति कवि समयख्यात-विरुद्धता ॥१२॥

**विद्याविरुद्धता** यथा—'अधरे करजाघातं मुरारेः" । अत्र शृङ्गार-शास्त्रविरुद्धता । एवमन्य-शास्त्रविरुद्धत्वमपि ॥१३॥

**साकाङ्क्षता** यथा—"ऐशस्य धनुषो भङ्गं क्षत्रस्य च समुन्नतिं ।
स्त्रीरत्नञ्च कथं नाम सहतां रामभार्गवः ॥"

अत्र स्त्रीरत्नमित्यत्र तव स्त्रीरत्न-प्राप्तिमित्यपेक्ष्यं ॥१४॥

---

'एतदभक्तिः परमापदां पदं', इस से भक्ति परम सम्पद का स्थान है, इस प्रकार स्वाभाविक अर्थ होता है, 'वृणते' इसके द्वारा उसको पुनर्वार कहा गया है ॥११॥

**प्रसिद्धि विरुद्धता** यथा—'शितशूलधरो हरि' समर में गए । यहाँ हरिशूल धारणकारी हैं, यह प्रसिद्ध नहीं है, इससे अर्थ प्रतीति ही नहीं होगी, रसप्रतीति की तो बात ही नहीं । यथा वा—हे राधे ! तुम्हारे पदाघात से अशोक अङ्कुरायित हुआ। यहाँ पदाघात से अशोक पुष्पित होता है, यह प्रसिद्ध है । अङ्कुर वर्णन प्रसिद्ध नहीं है, यह कवि नियम विरुद्धता है ॥१२॥

**विद्या विरुद्धता** यथा—मुरारि के अधर में करजाघात है । यहाँ शृङ्गारशास्त्र विरुद्ध है । पार्श्व स्तनद्वय, ऊरु, नितम्ब, कक्षस्थल, कर्णान्त, कपोल, बाहुमूल, ग्रीवा कण्ठदेश में नखराघात प्रसिद्ध है । इस प्रकार धार्मिक द्विज मध्याह्न में प्रातः सन्ध्याचरण करता है। यह स्मृति शास्त्र विरुद्धता है ॥१३॥

**साकाङ्क्षता** यथा—भार्गव परशुराम, अधुना हरधनुभङ्ग, क्षत्रिय जाति की उन्नति, एवं सीता की उपेक्षा कैसे करेंगे ? निज गुरु महादेव का धनर्भङ्ग, क्षत्रिय जाति का अभ्युदय, परशुराम के लिए अनिष्ट है, और असह्य भी है, स्त्री-रत्न अनिष्ट नहीं है । 'मृग्यत'

**सहचरभिन्नता** यथा— "गोप्यः कृष्णवियोगिन्यः पाण्डवा विपिनं गताः।
जीवाः संसारदुःखार्त्ता स्तापाय मम चेतसः॥"

अत्र क्रमेण कृष्णप्रेयसीनां तदेकशरणानामभक्तजीवानां च साहचर्य्येणोक्ति र्न युक्तेति सहचरभिन्नता॥१५॥

**अस्थान युक्तता**—स्थानमत्र प्रसङ्गसमापनयोग्यं वचनं, तदतिक्रम्य पद्यपूरण-मात्रार्थमप्रशक्तवचनमस्थानं – तत्र युक्तता च काव्यस्य परिच्छेद-समापनमिति यावत्। यथा—

"रमायाः स्पृहणीयश्चेत् कृष्ण स्ते कान्तताङ्गतः।
अस्ति पुण्यवती मौलिमणिः सर्वगुणान्विताः॥

अत्र मौलिमणिरित्यन्तेनैव समाप्यं॥१६॥

**अविशेषो** यथा—"कदम्बानां निधि वृन्दावनं कश्यमुवर्ण्यतां।"
अत्र वृक्षाणां निधिरित्यवशेष एव वाच्यः॥१७॥

---

पद का अर्थ असंलग्न होता है। सार्थक करने के लिए पदार्थ की आकाङ्क्षा है। यह साकाङ्क्षता दोष है॥१४॥

**सहचर भिन्नता** यथा—उत्कृष्ट अपकृष्ट का एकत्र सञ्चयन से सहचर भिन्नता दोष होता है। कृष्ण वियोगिनी गोपी, पाण्डवगण, संसारदुःख संतप्त जीवगण बन गमन करते हैं। यहाँ कृष्ण प्रेयसी, कृष्णैक शरण भक्तगण, अभक्त जीवगण का एकसाथ उल्लेख से सहचर भिन्नता दोष हुआ है, उस प्रकार लिखना उचित नहीं है॥१५

**अस्थान युक्तता**—स्थान शब्द से प्रसङ्ग समापन योग्य वचनको जानना होगा, उस का अतिक्रम करके पद्य पूरण के लिए अप्रशस्त वचन को अस्थान कहते हैं, युक्तता वह है—जैसे काव्य का परिच्छेद समापन। उदाहरण—हे कृष्ण! तुम्हारे कमनीय अङ्ग यदि लक्ष्मी का भी स्पृहणीय हो तो, सर्वगुणान्विता पुण्यवती मौलिमणि तो है ही। यहाँ मौलिमणि कहकर समाप्त करदेना आवश्यक था, किन्तु सर्वगुणान्विता फिर से कहा गया है। यह अनावश्यक है॥१६॥

**अविशेष** यथा—सामान्य कहने का अभिप्राय से विशेष का कथन से अविशेष दोष होता है।—यहाँ विवक्षितार्थ की प्रतीति

अनियमे नियमो यथा--

"आवर्त्त एव नाभि स्ते नेत्रे नीलसरोरुहे ।
भङ्गाश्च बलय स्तेन राधा सा सरसीकृता ।।"

अत्रावर्त्त एवेति नियमो न कार्य्यः ।।१८।।

विशेषेऽविशेषो यथा—

"रात्रौ नीलनिचोलिन्यः कृष्णं सस्रु र्व्रजाङ्गनाः ।।"

अत्र तमिस्रायामिति रात्रिविशेषो वाच्यः ।।१९।।

नियमेऽनियमो यथा—"आपात-सरसे भोगे मग्नाः कृष्णपराङ्मुखाः ।"
अत्र आपात एवेति नियमो वाच्यः । ननु वाच्यानभिधाने 'व्यतिक्रमलवमि'-त्यादौ अपेरभावः, इहैवकारस्येति कोऽनयो र्भेदः । अत्राह—व्यतिक्रमेत्यादौ

---

विलम्ब से होता है । रस प्रतीति का विलम्ब होने से दोष होता है । यह नित्य दोष है । उदाहरण—वृन्दावन कदम्बों की निधि वृन्दावन की वर्णना कैसे करे । वह तो वृक्षों की निधि है ।।१७।।

**अनियम में नियम**—प्रयोजन न होने पर भी उसका वर्णन अनियम में नियम है । अप्रयोजन का कथन से प्रयोजन का अनुसन्धान में विलम्ब होता है, इससे रस प्रतीति में विलम्ब होता है । यह नित्य दोष है । यथा—नाभि आवर्त्त है, नेत्र, नील कमल है, तरङ्ग बलय है—इससे राधा सरोवर स्वरूपा है । यहाँ आवर्त्त एवं इस प्रकार नियम करना ठीक नहीं है । प्रयोजन नहीं है ।।१८।।

**विशेष में अविशेष**—विशेष का कथन में सामान्य का कथन से विशेष में अविशेष दोष होता है । अनुरक्ति ज्ञान से रस की प्रतीति नहीं होती है, अतः उदाहरण—व्रजाङ्गनागण रात्रि में नील-वसनावृत होकर कृष्ण के निकट याती हैं । यहाँ 'तमिस्रायां' इस प्रकार रात्रि विशेष का कथन आवश्यक है । अन्यथा ज्योत्स्नान्वित रजनी का बोध भी होगा, नील-वसना का बोध से अनायास प्रतीति होगी, गोपन गमन भी व्याहत होगा, कवि का अभिप्राय सिद्ध नहीं होगा, अतः दोष है ।।१९।।

**नियम में अनियम**—'आपात-सरसे भोगे मग्नाः कृष्णपराङ्मुखाः'

**शब्दोच्चारणानन्तरमेव दोष इति प्रतिभासते, इह त्वर्थप्रत्ययानन्तरमेवेति भेदः। एवञ्च शब्द-परिवृत्तिसहत्वासहत्वाभ्यां पूर्वैरादृतोऽपि शब्दार्थदोष-विभाग एव पर्य्यवस्यतीति यो दोषः शब्द-परिवृत्त्यसहः स शब्ददोष एव; यः पदार्थान्वय-प्रतीत्यनन्तरबोध्यः सोऽर्थाश्रय इति। एवञ्चानियम-परिवृत्त्या-देरप्यधिक-पदत्वादे र्भेदो बोद्धव्यः। अमतपरार्थत्वे तु 'राम-मन्मथे'त्यादौ नियमेन वाक्य व्यापित्वाभिप्रायाद् वाक्यदोषता अश्लीलत्वादौ तु न नियमेन वाक्यव्यापित्वमिति ॥२०॥**

---

नियम कथनावसर में उसको न कहना अनियम है। विवक्षितार्थ का बोध न होने से रस चमत्कारिता का ह्रास होता है। यह नित्य दोष है। आपात एवं उपस्थिति मात्रसे ही सुखकर है। इस प्रकार विषयोपभोग में कृष्ण पराङ्मुख जनगण निमग्न है। यहाँ आपात शब्द के उत्तर में एव शब्द देना आवश्यक था। वाच्यानभिधान के साथ नियम में अनियम का भेद क्या है? 'व्यतिक्रमलवं' यहाँ अपि शब्द का अभाव है, उस प्रकार प्रकृत स्थल में 'एव'कार का अभाव है। उत्तर में कहते हैं—'व्यतिक्रमलवम्' स्थल में शब्दोच्चारण के अनन्तर दोष की प्रतीति होती है। नियम में अनियम स्थल में अर्थ बोध के बाद ही दोष ज्ञान होता है। इस प्रकार दोनों में शब्दार्थ दोष भेदसे भेद है, इस प्रकार शब्द परिवृत्ति सहत्व—शब्द परिवृत्ति असहत्व के द्वारा शब्दार्थ दोष का निरूपण होता है। जो दोष शब्द परिवृत्ति का सहन नहीं करता है, वह शब्द दोष है, और जो दोष पदार्थान्वय प्रतीति के बाद प्रतीत होता है, वह अर्थ दोष है। इस रीति से अन्यत्र भी दोष को जानना होगा। अनियम में नियम, आदि शब्द से अपुष्टत्व अस्थान युक्त का भी ग्रहण होगा। द्वितीय आदि शब्द से न्यून पदत्व समाप्तपुनरात्त को जानना होगा। अधिक पद होने से शब्द श्रवण के पश्चात् दोष की प्रतीति होती है। अनियम में नियम स्थल में अर्थ प्रतीति के अनन्तर दोष ज्ञान होता है। यह भेद दोनों में है।

अर्थ प्रतीति के बाद दोष-ज्ञान, अमत परार्थता में है, तो भी

**विध्ययुक्तता** यथा—"निशां शेते हरि स्तत्र स्तुतिभिः प्रतिबोधितः।"
अत्र शयितः प्रतिबोध्यत इति विधेयं ॥२१॥

**अनुवादायुक्तता** यथा—' चण्डीशचूड़ाभरण ! चन्द्र ! लोकतमोपह ।
विरहिध्रुग् मां कृष्ण-त्यक्तां त्वमपि तापय ॥"

अत्र विरहिण्या उक्तौ विरहिध्रुगिति नानुवाद्यं ॥२२॥

**निर्मुक्तपुनरक्तता** यथा—

"यन्मम द्विष्ट मिष्टं वा तद् वेत्सि पुरुषोत्तम ।
तस्मान्निवेदनीयं मे किम्वेत्यप्यवधारय ॥"

---

उसे शब्द दोष क्यों मानागया ? 'राम-मन्मथेत्यादि में नियम से वाक्यव्यापित्वाभिप्राय से वाक्य दोषता है। इससे अमत परार्थता अर्थ दोष मध्य में गणित होना वास्तविक है, सूचित हुआ। 'हन्तुमेव प्रवृत्तस्य' यहाँ अवश्यम्भाव से सर्वत्र 'वाक्यव्यापित्व' नहीं है, अतः अश्लीलता दोष अर्थ दोष है ॥२०॥

**विध्ययुक्तता**—यथा रात्रि में हरि शयन करते हैं, एवं स्तुति के द्वारा प्रबुद्ध होते हैं। यहाँ 'शयितः प्रतिबोध्यतः'। यह विधेय है। अयोग्य में विधित्वारोप ही विधि-अयुक्तता दोष है। यहाँ विधि समापिका क्रिया है। असमापिका क्रिया में समापक क्रियात्वारोप से प्रतीति विपर्य्यय होता है, उस से रस-प्रतीति नहीं होती है। यह नित्य दोष है ॥२१॥

**अनुवादायुक्तता** यथा—हे चण्डीश चूड़ाभरण ! दुर्गापति शिव का शिखालङ्कार ! हे चन्द्र ! हे लोकतमोपह ! जगदन्धकार नाशक ! हे विरहि ध्रुग् ! हे विरहि दुःखद ! कृष्णविरहिणी मुझे तुम कन्दर्पोद्दीपन के द्वारा क्लेश मत दो।

विरहिणी को इस उक्ति में विरहिणी को निरर्थक क्लेश देना वाक्य के साथ स्वाभाविक सार्थक विरहिध्रुग् विशेषण सार्थक नहीं है। अतः वह विरोध से अनुवाद अयुक्तता दोष घटित है ॥२२॥

**निर्मुक्तपुनरक्तता** यथा—समाप्त वाक्यार्थ का कारकान्तर से पुनर्वार ग्रहण से निर्मुक्तपुनरुक्त दोष होता है। वाक्य समाप्त के बाद विशेषण का पुनर्वार अनुसन्धान करने से समाप्त पुनरात्तता

अत्र किम्वेत्यनेन निर्मुक्तमपि इत्यप्यवधारयेत्यनेन पुनरुपात्तं ॥२३॥

# इति दोषा दर्शिताः

– ※:※:※ –

रसदोषास्तु श्रीरसामृतसिन्धोरन्ते विवृता एवेति तदवशिष्टाः केचिदेवोद्दिश्यन्ते।

१ २ ३
**रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायि-सञ्चारिणोरपि।**
४ ५
**व्यक्तता कल्पिता कृच्छ्रादनुभाव-विभावयोः॥**
६ ७ ८
**अकाण्डे प्रथन-च्छेदौ तथा दीप्तिः पुनः पुनः।**
९ १०
**अङ्गिनोऽननुसन्धानमनङ्गस्य च कीर्त्तनं॥**

---

दोष है, विशेष्यीभूतकारकान्तर द्वारा पुनर्वार ग्रहण से निर्मुक्त-पुनरुक्तता दोष है। उभय में यह भेद है। मध्य में आकाङ्क्षा भङ्ग से रसभङ्ग होता है, यह नित्य दोष है। उदाहरण—हे पुरुषोत्तम! मेरा हित अहित जो कुछ हो जानता हूँ। अतः मेरा निवेदनीय क्या है, इस को भी जानो। यहाँ किम्वा के द्वारा वाक्य समाप्त ही जाने परभी 'अवधारय' कह कर पुनर्वार उसे उठाया गया है ॥२३॥ **इति दोषा दर्शिताः॥**

---

श्री भक्ति रसामृत सिन्धु के अन्त में रसदोष का कथन हुआ है। अवशिष्ट कुछ दोषों का वर्णन यहाँ करते हैं।

१. रसस्योक्तिः स्वशब्देन, २. स्थायि-, ३. सञ्चारिणोरपि।
४. व्यक्तता, ५. कल्पिता कृच्छ्रादनुभाव-विभावयोः॥
अकाण्डे ६. प्रथन-, ७. च्छेदौ, तथा ८. दीप्तिः, पुनः पुनः।
अङ्गिनो- ९. ऽननुसन्धान मनङ्गस्य च १०. कीर्त्तनं॥

११ १२
**अतिविस्तृतिरङ्गस्य प्रकृतीनां विपर्य्ययः ।**
१३ १४
**अर्थानौचित्यमन्ये च दोषा रस-गता मताः ॥**

---

११. अतिविस्तृति रङ्गस्य प्रकृतीनां १२. विपर्य्ययः ।
१३. अर्थानौचित्यमन्ये च दोषा १४. रस-गता मताः ॥

**स्व-शब्दो**—रस शब्द शृङ्गारादि शब्द के द्वारा उस का कथन से दोष होता है। वह दो प्रकार है, रस शब्द से रस की उक्ति, तथा शृङ्गारादि शब्द से रस की उक्ति, स्थायि सञ्चारि भाव की उक्ति से दोष होता है। स्व-शब्द से स्थायि भाव की उक्ति, स्व-शब्द से सञ्चारि भाव की उक्ति दोष है। परिपन्थी विरोधी रस का अङ्ग स्वरूप जो विभावादि है, उस का उपादान दोष है। कृच्छ्र कष्ट से अनुभाव विभाव का आक्षेप प्रतीतिः कल्पिता दोष है। अकाण्ड—अनवसर में रस का विस्तार, तथा च्छेद भङ्ग दोष है। रस का पुनः पुनः दीप्ति रुद्बोधन भी दोष है। अङ्गि प्रधान रस का अननुसन्धान दोष है। जो रस अङ्ग रूप से प्राप्त नहीं है। उस का वर्णन दोष है। अङ्ग रूप रस का विस्तृत रूप से वर्णन दोष है। नायकादि का उन के स्वभावों का विपर्य्यय अन्यथा करण दोष है। अनौचित्य में इस का अन्तर्भाव होने से भी प्राधान्य ज्ञान के लिए पृथक् कहा गया है। अन्य प्रकार से अनौचित्य भी रस दोष है। इस से रस का स्व-शब्द वाच्य होना, स्थायि का स्व-शब्द से कथन, सञ्चारि का निज शब्दसे कथन, विरोधि रसाङ्ग ग्रहण, कष्टाक्षिप्तानुभावत्व, कष्टाक्षिप्त विभावत्व, अकाण्ड में रस स्थापन, अकाण्ड में रसच्छेद, पुनः पुनः रसोद्दीप्तिः, अङ्गि रसकाननुसन्धान, अनङ्ग रस कीर्त्तन, अङ्ग रस की अति विस्तृति, प्रकृति विपर्य्यय, अनौचित्य नामक चतुर्दश रस दोष है।

रसस्य स्वशब्दो रसशब्दः शृङ्गारादिशब्दश्च । क्रमेण यथा—

"तमुदीक्ष्य सरोजाक्षं रसो न कोप्यजायत ।
श्यामसुन्दरमालोक्य शृङ्गारेऽमज्जदङ्गना" ॥१॥

स्थायिभावस्य स्वशब्दवाच्यत्वं यथा—

"तस्मिन् कमलपत्राक्षे रति स्तस्या व्यजायत" ॥२॥

व्यभिचारिणो यथा—"जाता लज्जावती गोपी कृष्णेन परिचुम्बने ।' अत्र प्रथमपादे 'आसीन्मुकुलिताक्षी सेति' लज्जाया एवानुभाव-मुखेन कथनेन दोषः ॥३॥

"धवलयति शिशिररोचिषि भुवनतलं लोकलोचनानन्दे ।
ईषत् क्षिप्तकटाक्षा स्मेरमुखी सा निरीक्षिता गोपी ॥"

अत्र शृङ्गाररसस्य उद्दीपनालम्बनविभावावनुभाव पर्य्यवसायिनौ स्थितावित्येषा कष्टकल्पना । स्वैरतया चेष्टितेऽपि तत्सम्भवात् ॥४॥

'परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलतितरां परिवर्त्तते च भूयः ।
इति वत विषमा दशास्य देहं विभवति हन्त किमत्र कृष्ण कुर्मः ॥"

---

क्रमशः उदाहरण—रस का स्व-शब्द रसशब्द शृङ्गारादि शब्द। कमलनयन श्यामसुन्दर को देख कर अपर कोई रस नहीं हुआ। अङ्गना शृङ्गार में डूब गयीं ॥१॥

स्व-शब्द से स्थायिभाव का कथन—कमलनयन श्रीकृष्ण में उन गोपी की रति हुई । २॥

व्यभिचारि का स्व-शब्द से कथन—कृष्ण के चुम्बन से गोपी लज्जावती हो गई। इस के प्रथम पाद में 'आसीन्मुकुलिताक्षी सा' अनुभाव मुख से लज्जा का कथन से यहाँ दोष हुआ है ॥३॥

लोकलोचनानन्द चन्द्रमा का उदय से धरातल शुभ्रवर्ण से मण्डित हो गया। "ईषत् क्षिप्तकटाक्षा स्मेरमुखी सा निरीक्षिता गोपी ॥" यहाँ शृङ्गार रस का उद्दीपन आलम्बन विभाव अनुभाव पर्य्यवसित है, यह कष्ट कल्पना है। स्वतन्त्र चेष्टा में भी वह सम्भव है ॥४॥

कष्ट से आक्षिप्त विभावत्व का उदाहरण—

इह रतिपरिहारादीनां भयानकादावपि सम्भवति, वियोगिनी गोपिका-रूपो विभावः कृच्छ्राद्वेद्यः ॥५॥

अकाण्डे प्रथनं यथा— वेणीसंहारे द्वितीयाङ्के प्रवर्त्तमानानेक वीर-संक्षयकाले दुर्य्योधनस्य भानुमत्या सह शृङ्गार-प्रथनम् ॥६॥

छेदो यथा वीरचरिते— राघव-भार्गवयोर्द्धाराधिरूढ़ेऽन्योन्य संग्रामे कङ्कण-मोचनाय गच्छामीति राघवस्योक्तिः ॥७॥

पुनः पुनर्दीप्ति यथा— कुमारसम्भवे रतिविलापे करुणस्य मुहुर्दीप्तिः ॥८

अङ्गिनोऽननुसन्धानं रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः ॥९॥

---

हे कृष्ण ! उस ने अन्य पदार्थ में अनुराग को छोड़ दिया है। धैर्य्यधारिणी बुद्धि भी है। वाक्य स्खलन भी होता है। शय्या में लोट लगाती रहती है, भीषण अवस्था हो चुकी है, क्या करें ? इस प्रकार रति परिहारादि भयानक रस में भी होना सम्भव है। वियोगिनी गोपिका रूप विभाव का बोध तो कष्ट से होता है ॥५॥

**अकाण्ड में प्रथन**—विरोधि रस के मध्य में रसविशेष का प्रसारण अकाण्ड में रस प्रथम है। वेणी संहार नाटक के द्वितीय अङ्क में वर्णित अनेक वीरों का विनाश के समय भानुमति के साथ दुर्योधन का शृङ्गार वर्णन ॥६॥

**छेद** यथा—वीर चरित में पुष्टि के विना ही सहसा रस भङ्ग होना अकाण्ड में रसच्छेद है। रस भङ्ग से रसप्रकर्ष का भङ्ग होता है। यह नित्य दोष है। वीर चरित में वर्णित है—पुरद्वार में राघव भार्गव के परस्पर संग्राम के समय राघव की उक्ति है—"कङ्कण-मोचनाय गच्छामि" ॥७॥

**पुनः पुनर्दीप्ति**—जिस किसी रसका बारम्बार उद्दीपन को दीप्ति कहते हैं। अमृत का पुनः पुनः आस्वाद से विरक्ति होती है, इसके लिए क्या कहना है ? यह नित्य दोष है। कुमार सम्भव काव्य में रति का विलाप में करुण रस की पुनः पुनः दीप्ति है। "अयि जीवित नाथ ! मधुरात्मानमदर्शयत् पुरः" इस के बाद "तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशम्" इसके द्वारा पुनरुद्दीपन हुआ ॥८॥

अनङ्गस्य कीर्त्तनं यथा—कर्पूरमञ्जर्य्यां राज-नायिकयोः स्वयं कृतं वसन्तवर्णनं अनादृत्य वन्दिवर्णित प्रशंसा ॥१०॥

अङ्गस्यातिविस्तृति र्यथा—किराते सुराङ्गना-विलासादि ॥११॥

प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च। तेषां च धीरोदात्तादिता, तेषामप्यूत्तम-मध्यमाधमत्वं। तेषां च यो यथाभूत स्तस्यायथावर्णने

---

**अङ्गीनोऽननुसन्धानं**—प्रधान पात्र का अननुसन्धान से प्रधान रस का अनुद्‌बोध होना। आलम्बन का उल्लेख होने पर भी रस भङ्ग होता है। आलम्बन का अनुल्लेख से रस भङ्ग होता है, अङ्गि का अननुसन्धान कारण है, इसप्रकार उभयमें भेद है। इसका नाशसे प्रकर्ष नाश होता है। यह नित्य दोष है। रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अङ्क में बाभ्रवि नामक कञ्चुकिका का आगमन से सागरिका की विस्मृति से दोष हुआ है ॥९॥

**अनङ्ग का कीर्त्तन**—अनङ्ग का कीर्त्तन, प्रधान रस का अनुप-योगि रसोद्बोध होना, उस समय प्रधान रस तिरोहित की भाँति रहता है। यह नित्य दोष है। कर्पूर मञ्जरी में राजनायिका का स्वयंकृत वसन्त वर्णन का उल्लङ्घन कर बन्दि वर्णित की प्रशंसा से उक्त दोष हुआ है ॥१०॥

**अङ्गस्य अतिविस्तृति**—अङ्गभूत रस का विस्तार से वर्णन। इससे प्रधान रस उच्छिन्न की भाँति प्रतीत होता है, किरातार्ज्जुनीय काव्य में इस का उदाहरण मिलता है। उस में वीर रस प्रधान है। शृङ्गार अङ्गरस है। किन्तु सप्तम सर्गसे लेकर दशम सर्ग पर्य्यन्त चार सर्गों में शृङ्गार रस वर्णित होने से वीर रस छिन्न को भाँति प्रतिभात होता है ॥११॥

प्रकृति विपर्य्यय दोष को कहने के लिए प्रकृति का विभजन करते हैं। "प्रकृत प्रक्रियते प्रकर्षेण रस उद्बोध्यते आभिरिति प्रकृतय नायकादयः।" वह तीन प्रकार हैं—दिव्या, अदिव्या, दिव्यादिव्या। दिव्या—देव, दानव,गन्धर्व,यक्ष, राक्षसादि। अदिव्या—दिव्यभिन्ना मानुषा दुष्मन्तादि। दिव्यादिव्या—दिव्य होकर भी अदिव्याभिमानी।

**प्रकृतिविपर्य्ययो दोषः। यथा धीरोदात्तस्य श्रीरामचन्द्रस्य बालिबधे धीरोद्धतवत् छद्मक्रियादोष इति वदन्ति। वस्तुतस्तु निगूढ़ भक्तिसंस्कारस्य सुग्रीवादे हिंसके उत्तरकाण्ड-प्रसिद्धया कृतरावण-सख्ये च तस्मिंस्तथाविधानं गुण एव। छद्मना दुष्टबधः कर्त्तव्य इति सदाचारात्। यथा वा कुमार-सम्भवे पार्वती-महेश्वरयोः सम्भोग-शृङ्गारवर्णनं। 'इदं हि पित्रोः शृङ्गार-वर्णनमिवात्यन्तमनुचितमित्याहुः। अन्ये त्वाहुः—ये तत्र सख्यकान्तात्वभाव-संपृक्ता निर्दोषान्तःकरणा स्वजातीये गुप्ततया वक्तारश्च स्यु स्तेषां तद्भावितानां तद्वर्णनं गुण एवेति। परे त्वाहुः—तैरपि अतिरहस्यं न वर्णनीयमिति। अन्यदप्यनौचित्यं देशकालादीनामयथात्व-वर्णनं। तथा सति काव्यस्यासत्यता-प्रतिभासेन विनेयानामुन्मुखीकरणासम्भवः ॥१२॥**

---

श्री रामचन्द्रादि दिव्यादि का धीरोदात्तादि भेद हैं। आदि शब्द से धीरोद्धता, धीरललित, धीरप्रशान्त, उस का भी उत्तम, मध्यम, अधम रूप से भेद है। उस में जो जिस प्रकार है, उस के अनुरूप वर्णन न होने से प्रकृति विपर्य्यय दोष होता है। जिस प्रकार धीरोदात्त श्रीरामचन्द्र का बालिबध के समय धीरोद्धतवत् छद्मक्रिया दोष है। वस्तुतस्तु निगूढ़ भक्ति संस्कार सम्पन्न सुग्रीव का हिंसक बाली था। उत्तरकाण्ड में सिद्ध है कि—बालिने रावण के साथ मित्रता किया था, इसलिए उस प्रकार आचरण गुण है। सदाचार यह है कि—छद्म से भी दुष्ट बध करना कर्त्तव्य है। कुमार सम्भव में पार्वती महेश्वर का सम्भोग शृङ्गार वर्णन हुआ है। यह मातापिता का शृङ्गार वर्णन की भाँति अत्यन्त अनुचित है। किसी के मत में यह गुण है, सख्यकान्तात्व भाव से अन्तःकरण निर्दोष होने से वक्ता भी स्वजातीय होता है। अतः तद्भावित अन्तःकरण वाले की यह वर्णना गुण ही है। मर्मज्ञगण कहते हैं, वह अति रहस्य है, अतः वर्णन करना अनुचित है। अन्य अनौचित्य वह है, जिस में देश-कालादि का अयथात्व वर्णन है। आदि पद से जाति वयः प्रभृति का विपरीत धर्म वर्णन भी दोषा वह है। उस से काव्य की असत्यता प्रतीत होने लगती है, और सहृदयों की प्रवृत्ति उस में नहीं होगी।

एभ्यः पृथगलङ्कारदोषाणां नैव सम्भवः ॥

तथाहि— उपमायामसादृश्यासम्भवयोः। उपमानस्य जाति प्रमाणगत न्यूनत्वाधिकत्वयोः। अर्थान्तरन्यासे तूत्प्रेक्षितार्थतानुचितत्वं। क्रमेण

यथा—"कृष्णस्य वर्णना चन्द्रः प्रकाशयति मन्मनः।"

"प्रज्वलज्जलधारावन्निपतन्ति हरेः शराः।"

"चण्डाल इव राजासौ साहसी कृष्ण-सङ्गरे।"

---

देशकालादि का उदाहरण—

"हिमाद्रौ सुमहान् ग्रीष्मः पौषे पुष्पयति पङ्कजम्।
अग्निहोत्री च चाण्डालः तरुण्यां रमते शिशुः॥"

यहाँ क्रम से देश काल जाति वयःक्रम का अन्यथा वर्णन से वर्णना अनौचित्य हुआ है ॥१२॥

भोजराज अलङ्कार दोष को पृथक् दोष मानते हैं, किन्तु उक्त दोनों को छोड़कर पृथक् अलङ्कार दोष होना सम्भव नहीं है। सब दोष का अन्तर्भाव उक्त दोष समूह में है। उपमालङ्कार में असादृश्ये साधारण धर्म का अभाव से, सादृश्यराहित्ये, असम्भवे—उस प्रकार उपमान पदार्थ अप्रसिद्ध होने से, उपमालङ्कार में उपमेय की अपेक्षा उपमान का जातिगत न्यूनत्व अधिकत्व होने से, एवं प्रमाणगत न्यूनत्व अधिक होने से अनुचितार्थत्व दोष होता है। प्रमाण शब्द से परिमाण को जानना होगा। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार में उत्प्रेक्षितार्थ का समर्थन से अनुचितार्थ दोष होगा। एवं असदृशोपमादि दोषान्तर अङ्गीकार भी अनर्थक है।

क्रम पूर्वक उदाहरण—उपमा का असादृश्य से अनुचितार्थ का उदाहरण—"कृष्णस्य वर्णना चन्द्रः प्रकाशयति मन्मनः।" यहाँ कृष्ण एवं चन्द्र का साधारण धर्म नहीं है, साधारण धर्म का अभाव से उपमा में अनुचितार्थ दोष है। उपमा में तादृश उपमान पदार्थ का असम्भव होनेसे अनुचितार्थ का उदाहरण-प्रज्ज्वलादिति। वह्नि एवं जलधारा में सादृश्य नहीं है। उपमान पदार्थ का अभाव से उपमा में अनुचितार्थ दोष है। उपमा में उपमान का जातिगत

"कर्पूर-खण्ड इव कृष्ण बिभर्ति चन्द्रः ।"

"शशी राधा मुखस्पर्द्धी स्फुटमूर्द्ध्वं भ्रमत्यसौ ।"

"कलङ्की स्पर्द्धते सार्द्धं शश्वदब्जान्तरान्तना ।।"

यमकस्य पादत्रयगतस्याप्रयुक्तत्वं यथा —

"सहसालिजनैः स्निग्धैः सहसा कृष्ण-सन्निधिं ।
उदिते रजनीनाथे सहसा याति सुन्दरी ।।"

उत्प्रेक्षायां यथा-शब्दस्योत्प्रेक्षाद्योतकत्वाऽ वाचकत्वं यथा —

"एष मूर्त्तो यथा धर्मः परिक्षिद्रक्षति क्षितिं ।"

उपमायाञ्च साधारणांशस्याधिकत्वन्यूनत्वयो रधिकपदत्वं न्यूनपदत्वञ्च— क्रमेण यथा—

---

न्यूनत्व में अनुचितार्थ का दृष्टान्त—"चण्डाल इव" क्षत्रियगत जाति की अपेक्षा उपमानभूत चण्डाल जातिगत हीन होने से उपमा में अनुचितार्थ दोष है। उपमा में प्रमाण गत न्यूनता दिखाते हैं। 'कर्पूर खण्ड इव' चन्द्रविम्व भी कर्पूर खण्ड के समान क्षुद्र होगा। उपमा में अनुचितार्थ दोष है।

उपमा में उपमान का जातिगत आधिक से अनुचितार्थ का उदाहरण—'शशी राधा मुखस्पर्द्धी' यहाँ उपमान भूत देव जातीय चन्द्र का जाति से आधिक्य होने से सादृश्य का विघटन होता है। अनुचितार्थ दोष है। उपमा में उपमान गत प्रमाणाधिक्य से अनुचितार्थ का उदाहरण—**'कलङ्की स्पर्द्धते'**।

यमक में पादत्रय गत अप्रयुक्तत्व दोष का उदाहरण—सुन्दरी राधिका चन्द्रादय होनेपर स्निग्ध सखीजनों के साथ सहसा कृष्ण के निकट जाने लगी। यहाँ तृतीय पाद में सहसा-पद का प्रयोग न होने से अप्रयुक्त दोष है, तीन पादों में सहसा पद का प्रयोग है, तृतीय पाद में नहीं है। उत्प्रेक्षा में यथा शब्द उत्प्रेक्षा द्योतकत्व अवाचकत्व प्रयुक्त दोष है। "एष मूर्त्तो यथा धर्मः परीक्षिद्रक्षति क्षितिम् ।।" यथा शब्द सादृश्य मात्र वाचक है। 'इव' शब्द की भाँति सम्भावनार्थ वाचकत्व उस में नहीं है। अतः अवाचकत्व दोष है।

उपमा में साधारण अंश धर्म, उपमान उपमेय उभय वृत्ति योग्य

"नयनज्जयोतिषा भाति शम्भु र्भूति सितद्युतिः ।
विद्युतेव शरम्मेघो नीलवारिदखण्डभृत् ॥"

अत्र महेशस्य नीलकण्ठत्वाप्रतिपादनाच्चतुर्थचरणोऽधिकः ।

"कमलालिङ्गित स्तारहारहारी मुरान्तकः ।
विद्युद् विभूषितो नीलजीमूत इव राजते ॥"

अत्रोपमानस्य सबलाकत्वं वाच्यं ।

अस्यामेवोपमानोपमेययोः लिङ्गवचन भेदस्य कालपुरुषविध्यादि भेदस्य च भग्नप्रक्रमत्वं, क्रमेण उदाह्रियते—

"सुधेव विमलः कृष्ण स्मितं राजति दृश्यतां ।"
"ज्योत्स्ना इव सिता कीर्त्तिः श्रीकृष्ण तव राजते ॥"

---

धर्म का अधिक होने से अधिक पदत्व दोष, न्यून होने से न्यून पदत्व दोष होता है। क्रमेण उदाहरण—"नयन ज्योतिषा भाति" यहाँ विशेषण द्वारा महेश का प्रतिपादन न होने से न्यून पदत्व एवं अधिक पदत्व दोष हुआ है। 'नीलवारिदखण्डभृत्' कहने की आवश्यकता नहीं थी। 'कमलालिङ्गित' पद्य में—उपमान नीलजीमूत का बलाका वक पक्षिश्रेणी के साथ तारहारोपमान रूप से वक पक्षि श्रेणी युक्त है। 'नीलजीमूत' विशेषण होने से 'सबलाकत्व' का बोध न होने से न्यून पदत्व दोष है। दण्डि प्रभृति स्वीकृत उपमागत दोषान्तर का अन्तर्भाव भग्न प्रक्रमता में करने के लिए कहते हैं। उपमा में लिङ्ग-पुंस्त्वादि, वचन—एक वचनादि। भेद—वैषम्य, काल—वर्त्तमानादि, पुरुष—प्रथम पुरुषादि, विधि—विधि बोधक तिङ् विभक्ति, आदि पद से अन्य विभक्ति, उस का भेद वैषम्य है। उपमान पद स्त्रीलिङ्ग होने से उपमेय पद पुरुषोत्तमलिङ्ग होने से अथवा उस का विपरीत होने से भग्न प्रक्रमता दोष होता है। क्रमेण उदाहरण—यहाँ 'सुधा इव' लक्ष्मी लिङ्ग से उपमान पद का प्रयोग कर 'कृष्ण' पुरुषोत्तम लिङ्ग प्रयोग से प्रक्रमभग्न हुआ है, 'विमल' साधारण धर्म वाचक पद में लिङ्ग व्यत्यय की आवश्यकता होने से भग्न प्रक्रमता है। उपमा में उपमान उपमेय का वचन भेद से भग्न

"काप्यभिख्या तयो रासीच्छ्रीराधा-कृष्णयो मिथः ।
हिमनिर्मुक्तवपुषो श्चित्रा-चन्द्रमसोरिव ॥"

अत्र तथाभूतचित्रा-चन्द्रमसोः शोभा न खल्वासीदपितु सर्वदैव भवति ।
'लतेव राजसे राधे ।' अत्र लता राजते, त्वं तु राजसे ।

"चिरं जीवतु ते सूतु मार्कण्डेयमुनि र्यथा ।"

अत्र मार्कण्डेयमुनि र्जीवत्येव, स एव तद्वच्चिरं जीवत्विति विधेयं । इह तु यत्र लिङ्गवचनभेदेऽपि न साधारणधर्मस्यान्यथाभाव स्तत्र न दोषः । क्रमेण यथा— "मुखं चन्द्र इवाभाति कृष्णस्य सखि दृश्यतां ।"

---

प्रक्रमता दोष है । उदाहरण—'ज्योत्स्ना इव' बहु वचन से उपमान पद का आरम्भ कर 'कीर्त्ति' यह उपमेय पद में एकवचन प्रयोग से 'सिता' साधारण धर्म का अन्यथाभाव होना आवश्यक है, अतः भग्नप्रक्रमता दोष है ।

उपमान उपमेय का काल भेद से भग्न प्रक्रमता दोष को दिखाते हैं । श्रीराधाकृष्ण की अनिर्वचनीय शोभा थी । हेमन्त काल के बाद चित्रा नक्षत्र एवं चन्द्र की जिस प्रकार शोभा होती है । प्रक्रम भङ्ग को दिखाते है । चित्रा एवं चन्द्रमा की शोभा प्रतिवर्ष हो हेमन्त काल के बाद सर्वदा होती रहती है, अतः अतीत काल आसीत् का प्रयोग नहीं हो सकता है, किन्तु 'अस्ति' का प्रयोग होना समीचीन है ।

उपमान उपमेय का पुरुष भेद से भग्न प्रक्रमता का उदाहरण— 'लतेव राजसे राधे ! यहाँ 'लता राजते, स तु राजसे' लता उपमान पद है, वह नाम होने से प्रथम पुरुष है, 'त्वं' यह मध्यम पुरुष उपमेय है, इस में प्रक्रम भङ्ग से भग्न प्रक्रमता दोष है ।

उपमान उपमेय का विधि भेद से भग्न प्रक्रमता दोष होता है, यथा—मार्कण्डेयमुनि चिरजीवी हैं, अतः जीवतु का विधेय नहीं हो सकता है । अप्राप्त प्रापक ही विधि है । मार्कण्डेयमुनि चिरजीवी है, अतः मार्कण्डेय मुनि जिस प्रकार चिरजीवी है, उस प्रकार वह चिरजीवी हो । यह विधेय है ।

"गोपीनां रोचमानानां वेशो मधुरताभृतः ।"

दधते वाचमुत्कर्षं तदीया विभ्रमा इव ॥"

पूर्वोदाहरणेषु तु उपमानोपमेययोरेकस्यैव साधारणधर्मान्वयासिद्धेः प्रक्रान्तस्यार्थस्य स्फुटमनिर्वाहः ।

एवमनुप्रासे वैफल्यास्यापुष्टार्थत्वं यथा—

"अनन् रणन्मणिशृंखलमविरलशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरं ।

हरिचरणद्वयमरुणं रणरणकमकारणं कुरुते ॥"

---

उपमागत दोष प्रकरण में उपमान उपमेय बोधक साधारण धर्म का युगपद् उभयान्वय होने पर भी स्वरूप वैषम्य नहीं होता है। भग्न प्रक्रमता दोष नहीं होता है, किन्तु रसादि अपकर्ष के द्वारा सहृदय का उद्वेग जनक होकर दोष होता है। आचार्य दण्डी ने कहा है—न लिङ्ग वचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा। उपमादूषणायाल यत्रोद्वेगो न धीमताम् ।

लिङ्ग भेद से भी भग्न प्रक्रमता दोष नहीं होता है, क्रमश उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। "मुख चन्द्र इवाभाति कृष्णस्य सखि दृश्यताम् ।" यहाँ उपमान उपमेय मुखचन्द्र का लिङ्ग भेद से प्रक्रम भङ्ग होने पर भी आभाति के साथ दोनों का अन्वय होने से क्रिया रूप से स्वरूप वैषम्य नहीं है, अतः भग्न प्रक्रमता दोष भी नही है।

वचन भेद से भग्न प्रक्रमता दोष का अभाव दिखाते हैं।—

"गोपीनां रोचमानानां वेशो मधुरताभृतः ।" माधुर्य्य पूर्ण वेश गोपाङ्गना के शोभित है। यहाँ उपमान उपमेय का वचन भेद से प्रक्रम भङ्ग होने पर भी 'रोचमानादि' शब्द से वैषम्य नहीं होता है, अतः भग्न प्रक्रमता दोष नहीं है। एवं 'दधते, विभ्रमा इव' स्थल में भी जानना होगा। पूर्व उदाहरण—'सुधेव विमलः कृष्ण इत्यादि के साथ प्रस्तुत उदाहरण का वैषम्य है। कहते हैं—पूर्व उदाहरणों में एक साधारण धर्म बोधक पदसे अर्थ सुधादि पदार्थ का स्फुट रूप से निर्वाह नहीं है, आकाङ्क्षित धर्मके साथ उपस्थिति स्पष्ट नहीं है। अतः उपमागत अभवन्मत सम्बन्धता दोष है।

अत्र वाच्यविविच्यमानं न किञ्चिदपि चारुत्वं प्रतीयत इति अपरिपुष्टतार्थतैवानुप्रासस्य वैफल्यं। एवं समासोक्तौ साधारण विशेषणवशात् परार्थस्य प्रतीतावपि पुनस्तस्य शब्दोपादानस्य। अप्रस्तुत-प्रशंसायां व्यञ्जनयैव प्रस्तुतार्थावगतेः शब्देन तदभिधानस्य च पुनरुक्तत्वं। क्रमेण यथा—

"शृणु कृष्ण रागिणमपीक्षणयो दंधतीं वपुः सुख-संतापकरं।
निरकाशयद्रविमपेतवसु वियदालयादपरदिग्गणिका॥"

अत्र विदूषकवचने तादृग् विशेषणैरेवापरदिशो गणिकात्वं प्रतीयते।

आहूतेषु विहङ्गमेषु मशकोऽप्यायाति हे श्रीमते
मध्ये वा धुरि वा वसं स्तृणमणि र्धत्ते मणीमां धुरं।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितु मध्येपि तेजस्विता
धिक् सामान्यमबुद्धविष्णुमहसां बुद्ध यथा तद्विधं॥

अत्राबुद्धविष्णुमहसामभिधानमनुचितं।

यथा वा—"विष्णुधिष्णे पृथग्देवो गङ्गान्तभुवि पल्वलः।
वैष्णवेषु च स्वच्छया भाति किं सत्सु वेतरः॥"

---

उस प्रकार अनुप्रास में केवल अनुप्रास घटक शब्द विशेष का विपर्य्यय से अपुष्टार्थता दोष है। उदाहरण—'अननू रणन्मणिशृङ्खलम्' यहाँ मणिमय भूषणों की लघु ध्वनि सुखद है। न पुनर्दीर्घ रणनम्। अतः अनणु पद—केवल अनुप्रास के लिए ही है, कुछ भी चारुता नहीं है। अपरि पुष्टता ही अनुप्रास का वैफल्य है। इस प्रकार समासोक्ति नामक अलङ्कार में सम्भव पर विशेषण के प्रभाव से द्वितीयार्थ का पुनरुक्त होना है। 'अप्रस्तुत प्रशसा में व्यञ्जना से ही प्रस्तुनार्थ की अवगति होती है; शब्द से उस का कथन होने से पुनरुक्त दोष होता है। क्रमश उदाहरण प्रस्तुत कर समासोक्ति को कहते हैं—शृणु कृष्ण! यहाँ विदूषक वचन में विशेषण के द्वारा ही अपर दिक् का गणिकात्व की प्रतीति होती है।

अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण—"आहूतेषु विहङ्गमेषु" यहाँ व्यञ्जना वृत्ति से बोध होने पर भी अबुद्ध विष्णुमहत्व का शब्द द्वारा कथन अनुचित है। उस प्रकार "विष्णुधिष्णे पृथग्देवो"

अत्र सत्सुवेतर इत्यनुचितं । एवमनुप्रासे प्रसिद्धयभावस्व ख्यातविरुद्धत्वं यथा— "चक्राधिष्ठिततां चक्री गोत्रं गोत्रभिदुच्छ्रितं ।

वृषं वृषभकेतुश्च प्रायच्छत्तस्य भूभुजः ॥

उक्तदोषाणाञ्च क्वचिद्दोषत्वं क्वचिद् गुणत्वमपीत्याह—

"वक्तरि क्रोध-संयुक्ते तथा वाच्ये समुद्धते ।

रौद्रादौ च रसेऽत्यन्तं दुःश्रवत्वं गुणो भवेत् ॥"

एषु चास्वाद्यस्वरूप-विशेषात्मक मुख्यगुणप्रकर्षोपयोगित्वाद् गुण इति व्यपदेशो युक्तः । क्रमेण यथा—

"धिग् भो रे दत्तयाप्यार्या कार्त्तार्थ्यं नान्ववर्त्तत ।

यत्तन्मार्गणभाग्भर्गः प्रागदुर्गामन्वकार्गयत् ॥"

---

उदाहरण में भी जानना होगा। यहाँ शब्दतः "सत्सु वेतरः" यह कहना अनुचित है। व्यञ्जना से ही उस का लाभ होता है। इस प्रकार अनुप्रास में प्रसिद्धयभाव का केवल अनुप्रासघटक रूप से निबद्ध शब्द का अभिलषित पदार्थ का अन्वय न होने से दोष होता है। अनुप्रास शब्द से शब्दालङ्कार मात्र को जानना होगा।

ख्यात विरुद्ध दोष का उदाहरण—तस्य भूभुजो राज्ञः, चक्री, चक्रपाणिः विष्णुः, चक्राधिष्ठिततां, चक्रवर्तित्वं सार्वभौमत्वं, गोत्रभिद् इन्द्रः, उच्छ्रितं उच्चं, गोत्र-कुलम्, वृषभकेतुः, वृषध्वजः शिवश्च, वृषं धर्मम् प्रायच्छत् प्रदत्तवान् ॥ यहाँ चक्री प्रभृति पद का लेखन केवल अनुप्रास के लिए ही हुआ है। विष्णु का चक्रवर्तित्व देना, इन्द्र का उच्चकुल दान, शिव का धर्मदान करना लोक में और शास्त्र में प्रसिद्ध न होने से ख्यात विरुद्धता दोष है।

सम्प्रति कुछ दोषों का अनित्यत्व प्रतिपादन के लिए कहते हैं। उक्त दोष समूह स्थल विशेष में गुण एवं दोष रूप में परिणत होते हैं। वक्ता क्रोधयुक्त होने से, एवं अति भयङ्कर होने से दुःश्रवत्व गुण होगा। रौद्रादि रस में तद्व्यञ्जक वाक्यगत दुःश्रवत्व अतिशय गुण होता है। आदि शब्द से वीर, वीभत्स, भयानक को जानना होगा। रसधर्म गुण है, उक्त रसों में दुःश्रवत्व शब्द से आस्वाद

अत्र शृङ्गारे सकोपा कृष्णकामिनी वक्त्री ।

उद्यद्दुन्दुभि वड्डु डिण्डिमडमर्वाद्ये मृदङ्गं गते
वाद्ये द्योपदवेद्य विघननदने साद्याथ विद्योतिते ।
ते तद्दुर्यङ्गद नाटचनीतिघटनासंघट्टनिष्कुण्ठता-
सूत्कण्ठाः पदपाणिकण्ठ कटसन्मोटानि कोटिं दधुः ।।

अत्र शृङ्गारमयेपि रासे ताण्डवनृत्यवर्णनामयत्वात् वाच्यमुद्धतं । रौद्रादौ रसे तु स्वत एव तादृशत्वं गुणः । यथा—

[ वरुणजनेन पितरि हृते क्रुधा तत्र गतं श्रीकृष्णमुद्दिश्य वर्णनं ]

स्निग्धश्यामलरुच्यपि क्रुदरुणद्योताददृश्यं वपु
र्ध्वान्तध्वंस्यपि तीव्रता-शवलनाद्द्ग्रोधनं दृग्द्वयं ।
कौमल्यादि-गुणापि रोष-रभसादुग्रा तथा तस्य गीः
कल्पान्ताब्दतड़िद्ध्वनि-भ्रमधराद् विस्मापयन्ते स्म तान् ।।

अत्र रौद्रो भयानकश्च रसो दुःश्रवत्वाधिक्येऽधिकमेव पुष्टः स्यात् ।

"सुरतारम्भगोष्ठ्यादावश्लीलत्वं तथा पुनः ।"

तथा पुनरिति पूर्ववद् गुण एव स्यादिति योजयति ।

---

स्वरूप मुख्य गुण का पोषक होता है। अतः गौण गुण होता है।

उदाहरण—"धिक् भो रे" यहाँ शृङ्गार रस में कुपिता कृष्ण कामिनी वक्त्री है। 'उद्यद्दुन्दुभि' 'ते तद्दुर्यङ्गट" यहाँ शृङ्गारमय रास में भी ताण्डव नृत्य वर्णनामय होने से उद्धत वाक्य का प्रयोग हुआ है। मुख्य रस का पोषक होने से यह गुण है। रौद्रादि रस में स्वत हो दुःश्रव वाक्य गुण होता है।

वरुण के भृत्यजन के द्वारा पिता नन्द महाराज का अपहरण होने से वहाँ पर उपस्थित क्रुद्ध श्रीकृष्ण को लक्ष्य कर वर्णन है— "स्निग्धश्यामलरुच्यपि" यहाँ रौद्र भयानक रस है, दुःश्रवत्वाधिक्य से अधिक पुष्ट होता है।

सुरतारम्भ गोष्ठी आरब्ध सुरत विषयक आलाप में, शमकथा विशेष में अश्लील नामक दोष गुण होता है। अधमोक्त ग्राम्यत्व के समान वहाँपर रस प्रकर्ष का जनक होता है। सुरतारम्भ वाक्य में

'द्व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यं वस्त्विति'हि कामशास्त्रस्थितिः।
तस्मात्तन्मतेनैव तदिदमुक्तं स्वमतेनेति भावः। आदिशब्दाच्छमकथादिष्वपि बोद्धव्यं। यथा शान्तिशतके—

समाश्लिष्यत्युच्चैर्घनपिशितपिण्डं स्तनधियेत्यादि।

"स्यातामदोषौ श्लेषादौ निहतार्था-प्रयुक्तते।"

यथा—पर्वतभेदि पवित्रं जैत्रं नरकस्य बहुमतङ्गहनं।
हरिमिव हरिमिव हरिमिव सुरसरिदम्भः पतन्नमत॥

---

"पुनः" पद से दोष भी गुण हुआ है। प्रमाण—अर्थ द्वय युक्त पदों के द्वारा रहस्य वस्तु का सूचन करे। कामशास्त्र की रीति उस प्रकार है। उदाहरण—

करि हस्तेन सम्बाधे प्रविश्यान्त र्विलोड़िते।
उत्सर्पन् ध्वजः पुंसः साधनान्त र्विराजते॥

यहाँ करि हस्त ध्वज साधन शब्द द्वयर्थक है। अतएव उन मत से ही निजमत का कहा है। आदि शब्द से शमकथादि को जानना होगा। शान्ति शतक में "समाश्लिष्यत्युच्चै र्घनपिशितपिण्डं स्तनधिया"।

**श्लेष**—समासोक्ति प्रभृति अलङ्कारोंमें ध्वनिमें अनेकार्थ बोधक श्लेष प्रौढ़ोक्ति निहतार्थ अप्रयुक्त रूप दोष द्वय न तो दोष होगा और गुण भी नहीं होगा। उक्त दोष द्वय को स्वीकार करने से श्लेषादि अलङ्कार, ध्वनि, प्रौढ़ौक्ति की सम्भावना प्राय कर नहीं होगी। अत दोनों का अदोषत्व माना गया है। चमत्कारितान्तर की प्रतीति न होने से अगुणत्व है। उदाहरण—यहाँ श्लेष से दोनों का अदोषत्व को दिखाते हैं।

**पर्वतभेदि पवित्रमिति**—पर्वतं क्रौञ्च नाम का चलं, भिनत्ति, परशुराम रूपेण विदारयतीति पर्वतभेदी स चासौ पवित्रश्चेति तम, नरकस्य नरका सुरस्य जैत्रं जयशीलम्, बहुमतं, सर्वैरादृतम्, गहनं–दुर्बोध स्वरूपञ्च हरिं विष्णुमिव। पर्वतान् भिनत्ति पक्षच्छेदनेन तेषां हृदयं विदारयतीति, पर्वतभेदी यः पवि र्वज्रस्तं त्रायते हस्तेन

अत्रेन्द्रपक्षे पवित्रशब्दो निहतार्थः। सिंहपक्षे मतङ्गशब्दो मातङ्गार्थेऽप्रयुक्तः।

"गुणः स्यादप्रतीतत्वं ज्ञत्वं चेद्वक्तृवाच्ययोः।"

---

पालयति दधातीति पर्वतभेदि पर्वत्रस्तम्, जैत्र–जिष्णम्। नरकस्य स्वानुकम्पनीय मनुष्य मात्रस्य बहुमतमनुग्राहकत्वेन अत्याहृतम्, गहनं—दुर्जयश्च, हरिमिन्द्रमिव। अत्र पक्षे—नरकस्येत्यनुकम्पायां 'क' प्रत्ययः। तथा कर प्रहारेण पर्वतमपि भिनत्तीति पर्वतभेदी महाबल इत्यर्थः स चासौ पवित्रो दुर्गाया वाहनत्वात् पूतस्वभावश्चेतितम्, नरकस्य क्षुद्र मानुषस्य जैत्र जयशीलम्, तथा बहून् मतङ्गान् गजान् हन्तीति तञ्च, हरिं सिंहमिव। अत्र पक्षे नरकस्येति अल्पार्थे 'क' प्रत्ययः। पर्वतभेदि हिमालय विदारि गोमुखाख्य हिमालय शृङ्गं भित्वा निर्गत मित्यर्थः। पवित्रं–पावनम्, नरकस्य निरयस्य जैत्रं जयशीलम् निवारकमित्यर्थः बहुमतं धार्मिक जनैत्याहृतम्, गहनं–महावेगम्, पतत्–पृथिव्यां अवतरत् सुरसरिदम्भो गङ्गाजलम्, नमत हे लोकाः! नरकजयाय नमस्कुरत।

यहाँ पवित्र शब्द पावनार्थ में है, प्रसिद्ध है। वज्रधारि रूप इन्द्र में निहतार्थ है, इस पक्ष में निहतार्थता दोष है, सिंह पक्ष में मतङ्ग शब्द लक्षणा से प्रसिद्ध होने पर भी कवियों ने नहीं कहा, अतएव यहाँ अप्रयुक्तता दोष है, किन्तु दोनों ही श्लेष विषय होने से अदोष है।

**गुणः स्यादिति**—यदि श्रोता का वह शब्द सङ्केत का जनक होता तो अप्रतीतत्व नामक दोष गुण होता है। एकदेश प्रसिद्ध से उस को न जानने वाले वक्ता श्रोता का उससे ज्ञान नहीं होता है। अतः अप्रतीतत्व दोष होता है। किन्तु वक्ता श्रोता अभिज्ञ होने से अर्थ प्रतीति जब होती है, तब अप्रतीतत्व ही कैसे होगा और वह दोष ही कैसे होगा? किन्तु गभीर विषय होने से चमत्कारितातिशय से गुण ही होगा। उदाहरण—ब्रह्मा की देवताओं के द्वारा स्तुति, हे देव! आप को भोग अपवर्ग को उत्पन्न करने वाली प्रकृति का मूल कारण कहते हैं। एवं आप को उस प्रकृति का द्रष्टा भी

यथा—"त्वामामानन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्त्तिनीं ।
तद्दर्शनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥"

"**स्वयं वापि परामर्शे**" अप्रतीत्वं गुण इत्यनुषज्यते । यथा—

युक्तः कलाभि स्तमसां विवृद्धयै क्षीणश्च भाति क्षतये य एषां ।
शुद्धं निरालम्वपदावलम्वं तमात्मचन्द्रं हरिसात् करोमि ॥

**"कथितञ्च पदं पुनः ।
विहितस्यानुवाद्यत्वे विषादे विस्मये क्रुधि ।
दैन्येऽथ लाटानुप्रासेऽनुकम्पायां प्रसादने ।
अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये हर्षेऽवधारणे ॥"**

---

कहते हैं, उदासीन, सर्वत्र असङ्ग पुरुष चिद्रूप भी आप ही हैं। योगिगण इस प्रकार मानते हैं।

सत्त्व रज तम की साम्यावस्था प्रकृति है, पुरुष चेतन है, पुरुष असङ्ग है। यह वृत्तान्त योग दर्शन सांख्य शास्त्र में प्रसिद्ध है, उस को न जानने वाले के लिए अप्रतीतत्त्व दोष होता है किन्तु वक्ता श्रोता, ब्रह्मा को जानते ही हैं, सब के लिए प्रतीत होने से अप्रतीत दोष नहीं होगा। किन्तु गुण ही होगा।

"**स्वयं वापि परामर्शे**" अप्रतीतत्व गुण होगा। अभिज्ञ वक्ता स्वयं ज्ञात होने से अप्रतीतत्व गुण होगा। उदाहरण—युक्त इति। यहाँ शास्त्रानभिज्ञ के लिए अप्रतीतत्व दोष होने पर भी अभिज्ञ वक्ता का अर्थ ज्ञान होता है, अतः गुण ही है।

**कथितञ्च पदं पुनः**—कथित पदत्वाख्यो दोष विहितानुवाद्यत्वादि एकादश स्थान में गुण ही होगा।

विहित का अनुवाद्यत्वे—उद्देश्य प्रतिनिर्देश्य स्थल में युगपद एकविध शब्द द्वय प्रयोग से सत्वर शब्द बोध होने से सत्वरस प्रतीत होने से गुण होता है। विषाद, विस्मय, क्रोध, दैन्य, लाटानुप्रास, अनुकम्पा, प्रसादन, अर्थान्तर संक्रमित वाच्य, हर्ष, अवधारण में गुण होता है।

गुण इत्येव यथा—उद्यन् हरिदिशि रागीत्यादि, अत्र हि विहितानुवादः।
"हन्त हन्त कथं कृष्णः सतृष्णोऽप्यालि नागतः।" अत्र विषादः।
"चित्रं चित्रं विधुः सोऽयं श्यामलः सखि भासते।" अत्र विस्मयः।
"मानधना मम सवयसो हर मा हर हरे धनं तस्याः।" अत्र क्रोधः।
"सुनयने नयने हरयेऽर्पय" लाटानुप्रासः।

"नयने तस्या नयने या हरिमालोकते गौरि।" अत्रार्थान्तर-संक्रमित-वाच्यता। एवमन्यत्र।

**"सन्दिग्धत्वं तथा व्याजस्तुति-पर्य्यवसायि चेत्" ॥१॥**

गुण इत्येव यथा—पृथुकार्त्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेष-परिजनं कृष्ण।
विलसत्करेणु गहनं संप्रति सममावयोः सदनं ॥

**"वैयाकरणमुख्ये च प्रतिपाद्येऽथ वक्तरि ॥२॥**
**कष्टत्वं दुःश्रवत्वं वा"** गुण इत्येव यथा—

"दीधी वेवीङ्समः कश्चिद् गुणवृद्ध्योरभाजनं।
क्विप्प्रत्यय समः कश्चिद् यो यः कृष्णात् पराङ्मुखः॥"

---

उद्यन् हरिदिशि रागी—यहाँ विहितानुवाद है।
हन्त हन्त कथं कृष्णः—यह विषाद है।
चित्रं चित्रं विधुः— यह विस्मय है।
मानधना मम सवयसो—यह क्रोध है।
सुनयने नयने— यह लाटानुप्रास है।

नयने तस्या नयने या हरिमालोकते गौरि। अर्थान्तर संक्रमित-वाच्यता है। इस प्रकार अन्यत्र भी जानना होगा।

**सन्दिग्धत्वं तथा व्याजस्तुति-पर्य्यवसायि चेत्**—तब गुण होता है। 'पृथुकार्त्तस्वरपात्रं' यहाँ उभय पक्षार्थ में सन्देह होने पर भी गुण है ॥१॥

व्याकरणाभिज्ञ जन श्रोता वक्ता हो तो कष्टत्व दुःश्रवत्व दोष गुण होगा। मुख्य शब्द से नीरस, स्मार्त्त, तार्किक को जानना होगा। उदाहरण—दीधीति कश्चिज्जनः दीधी वेवीङ्समः दीधीङ्

अत्रार्थः कष्टो वैयाकरणश्च वक्ता। एवमस्य प्रतिपाद्यत्वे—

"अस्मार्षं यत्प्रसादेन माहेशं शब्दशासनं॥" अत्र दुःश्रवत्वं। वैयाकरणो वाच्यः।

**"निर्हेतुता सुख्यातार्थे दोषतां नैव गच्छति" ॥३॥**

यथा—"व्रजवासिजनाः कृष्णे प्रेमवन्तो विभान्ति ते।"

---

दीप्ति देवनयोः। वेवीङ् तुल्ये इत्येताभ्यां धातुभ्यां समः तुल्यो, गुणोदयादाक्षिण्यादिः, वृद्धिरभ्युदयस्तयोरभाजन अपात्र, अन्यत्रतु अर् पूर्वे द्वे सान्ध्यक्षरे च गुणः। आरउत्तरे च वृद्धिः, इति सूत्राभ्यां सङ्केतिते गुणवृद्धौ तयोरभाजनं अविषयः, दीधी देव्योश्च, इत्यनेन गुणनिषेधेन वृद्धि निषेधात् गुणबाधिका वृद्धिरिति ज्ञापकम्। कश्चिज्जनश्च क्विप् प्रत्यय निभः क्विप् प्रत्ययेन तुल्यः विलुप्त स्वरूपः, इत्यर्थः एकत्र 'क'कार 'प'कारयोरनुबन्धत्वेन स्वत एवापगमात् विकारस्य तु वेर्लोपोऽपृक्तस्य च इत्यनेन लोपात्। अन्यत्र तु किञ्चिदपि कर्त्तुमक्षमतया सतोऽप्यसत् कल्पत्वादिति भावः। यत्र जने क्विपप्रत्यये च, ते उक्त प्रकारे उभे अपि गुणवृद्धि न समिहिते न प्रसक्ते अपि; एकत्र "क्वे यण्वञ्चयोक्त वर्जम्" इत्यनेन गुण निषेधेन वृद्धिनिषेधात्, अन्यतु तत् प्राप्त्युपयोगि प्राक्तन पुण्या भावादिति भावः॥

यहाँपर अर्थ बोध होना कष्ट साध्य है, व्याकरण सूत्रके अनुसार ही बोध होगा, साधारण के लिए दुर्बोध्य है। वैयाकरण वक्ता है। उस उस सूत्रों से सतत बोध होने से कष्ट से बोध नहीं होगा। व्याकरण ज्ञान बर्द्धक होने से गुण होगा, व्याकरणाभिज्ञ जन का बोध होने से "अस्मार्षं यत् प्रसादेन माहेशं शब्दशासनम्" 'अस्मार्षं' दुःश्रवत्व होने पर भी गुण है ॥२॥

लोक प्रसिद्ध अर्थ में निर्हेतुता नाम दोष नहीं होगा। चमत्कारिता न होने से गुण भी नहीं होगा। उदाहरण—व्रजवासि जनगण कृष्ण में प्रीतिशील दिखाई देते हैं ॥३॥

"कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यात-विरुद्धता" ॥४॥

कवि-समयख्यातानि च—

मालिन्यं व्योम्नि पापे यशसि धवलता वर्ण्यते हास-कीर्त्योः
रक्तौ च क्रोधरागौ सरिदुदधिगतं पङ्कजेन्दीवरादि ।
तोयाधारेऽखिलेपि प्रसरति च मरालादिः पक्षि-संघो
ज्योत्स्ना पेया चकोरैर्जलधर-समये मानसं यान्ति हंसाः ॥
पादाघातादशोको विकसति वकुलो योषितामास्यमद्यै
र्यूनामङ्गेषु हाराः स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापैः ।
मौर्वीरोलम्बमाला धनुरथ विशिखाः कौसुमाः पुष्पकेतो
र्भिन्नं स्यादस्य वाणैर्युवजन-हृदयं स्त्रीकटाक्षेण तद्वत् ॥
अह्न्यम्भोजं निशायां विकसति कुमुदं चन्द्रिका शुक्लपक्षे
मेघध्वानेषु नृत्यं भवति च शिखिनां नाप्यशोके फलं स्यात् ।

---

कवियों के नियम से ख्यात विरुद्धता नामक पूर्वोक्त दोष गुण होगा ॥४॥

रूप हीन आकार शून्य होने पर भी आकाश एवं पाप में मालिन्य कृष्ण वर्ण का वर्णन कविगण करते हैं। यश—हास्य, कीर्त्ति में धवलता का वर्णन है। यश—विद्यादि से होता है। कीर्त्ति—बल-वीर्य से उत्पन्न होती है। क्रोध एवं राग में रक्तवर्ण का वर्णन है। पङ्कज इन्दीवरादि शैवाल का वर्णन जलाशय में होता है, नदी समुद्र में भी होता है। निखिल जलाशय में पक्षि सङ्घ हंस प्रभृति का वर्णन होता है। चकोर के द्वारा ज्योत्स्ना पान का कथन होता है। वर्षा काल में मानस सरोवर को हंसगण जाते हैं। रमणी पादाघात से अशोक प्रस्फुटित होता है। वकुल प्रस्फुटित होता है। योषित के मुखमद से युवक के अङ्ग में हार का वर्णन होता है। विरह जनित ताप से हृदय विदीर्ण होता है, मदन का

न स्याज्जाती वसन्ते न च कुसुमफले गन्धसार-द्रुमाणा-
मित्याद्युन्नेयमन्यत् कविसमयगतं सत्कवीनां प्रबन्धे ॥५॥

एषामुदाहरणान्याकरेषु स्पष्टानि ।

"धनुर्ज्यादिषु शब्देषु शब्दास्तु धनुरादयः ।"

आरूढ़त्वादि-बोधाय यथा—

पूरिता रोदसी ध्वानै र्धनुर्ज्यास्फालनोद्भवैः ।
कृष्णेन पश्य यत्रालं जरासन्धोऽयमन्धति ।

अत्र ज्याशब्देनापि गतार्थत्वे धनुःशब्देन ज्याया आततीकरणं बोध्यते । आदिशब्दात् "भाति कर्णावतंस स्ते राधे मञ्जुलसंसकः ।" अत्र कर्णस्थितत्व-बोधनाय कर्णशब्दः । एवं श्रवणकुण्डल-शिरःशेखर प्रभृति । तथा निरुपपदो

---

धनुष भ्रमरावली को कहते हैं । और कुसुममय धनु का वर्णन होता है । उनके वाण से स्त्री कटाक्ष से युवक का हृदय बिद्ध होता है । दिन में अम्भोज, रात्रि में कुमुद, शुक्लपक्ष में चन्द्रिका, मेघ ध्वनि से मयूर का नृत्य, फल हीन अशोक वृक्ष, वसन्त में जाती पुष्प का विकास न होना, चन्दन वृक्ष में कुसुम फल का वर्णन न होना, सत् कवियों का नियम बद्ध वर्णन है । इस के उदाहरण समूह सत् कवियों के ग्रन्थों में है ॥५॥

पुनरुक्तता दोष भी गुण होता है । धनुर्ज्यादि शब्द में धनुरादि शब्द का प्रयोग होता है । आरूढ़त्वादि बोध के लिए उस का प्रयोग होता है । उदाहरण—कृष्ण के धनुर्ज्या के आस्फालन से आकाश पृथिवी व्याप्त हो गई, देखो, उससे जरासन्ध अन्ध बन गया है ।

यहाँ 'ज्या' शब्द से ही बोध होता, किन्तु पुनर्वार धनुः शब्द का प्रयोग हुआ है । आदि शब्द से "भाति कर्णावतंस स्ते राधे मञ्जुलसंसकः ।" अवतंस से ही कर्ण भूषण का बोध होता है । तथापि कर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है । उससे कर्ण स्थितत्व का बोध हुआ । इस प्रकार श्रवण कुण्डल, शिरः शेखर प्रभृति का

माला-शब्दः पुष्पस्रजमेवाभिधत्त इति स्थितावपि "पुष्पमाला हरे भाति।" अत्र पुष्पशब्दः उत्कर्षबुद्धये। एवं 'मुक्ताहार' इत्यत्र मुक्ताशब्देनान्य-रत्नामिश्रितत्वं ॥१॥

**प्रयोक्तव्याः स्थिता इमे ॥२॥**

इमे धनुर्ज्यादयः सत्काव्यस्थिता एव निबद्धव्याः, नत्वस्थिता जघनकाञ्ची-करकङ्कणादयः।

**"उक्तावानन्दमग्नादेः स्यान्न्यूनपदता गुणः" ॥३॥**

यथा—गाढ़ालिङ्गनवामनीकृतकुच-प्रोद्भिन्नरोमोद्गमा
सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा।
मा मा मानद मेति मेति विकलक्षामाक्षरोल्लाषिणी
सौरिन्ध्री मनरेखया जलधिजाना म्नथान भेदं ययौ ?

**"क्वचिन्नदोषो न गुणः"**

न्यूनपदत्वमित्येव यथा—

---

प्रयोग होता है। विशेषण विहीन माला शब्द पुष्पस्रज का बोधक है। ऐसा होने पर भो पुष्प माला हरे भाति, यहाँ 'पुष्प' शब्द उत्कर्ष बोधक है। एवं मुक्ताहार शब्द से अन्य रत्न अमिश्रित का बोध होता है ॥१॥

सत् काव्य में धनुर्ज्यादि शब्द का प्रयोग गुण है। सत् काव्य में वर्णित न होने से जघनकाञ्ची करकङ्कणादि शब्द प्रयोग करने पर पुनरुक्तता दोष होगा ॥२॥

आनन्दमग्न दुःखमग्न प्रभृति शब्द प्रयोग से न्यून पदता नामक दोष भी गुण होता है। आनन्द से विभोर होने से आनन्दादिका अत्यन्त आधिकच का ही सूचक है। उदाहरण—गाढ़ालिङ्गन श्रीकृष्ण पत्नी रसावेश से तन्मय होगई थी। यहाँ पीड़येति पद न्यून है, 'अलम्' इस से अन्वययोग्य 'आलिङ्गनेन' यह पद भी न्यून है।

कहीं पर उक्त पद का अनायास बोध होने से प्रागुक्त न्यून पदत्व

"तिष्ठेत् कोपवशात् क्वचापि पिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गं लोकमिता ममाशिवधिया तस्याः प्रमाणं मनः ।
तां हर्त्तुं मम वल्लभां जनकजां साध्वीञ्च शक्नोति कः
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयो र्जातेति कोऽयं विधिः ।।"

अत्र च पिहितेत्याद्यनन्तरं 'नैतद् यत' इति पदानि न्यूनानि । एषाञ्च पदानां न्यूनतायामपि एतद्वाक्यव्यङ्ग्यस्य वितर्काख्यव्यभिचारि भावस्योत्-कर्षाचरणाद् गुणः । दीर्घमित्यादिवाक्यजन्यया च प्रतिपत्त्या तिष्ठेदित्यादि वाक्य प्रतिपत्ते र्बोधः उत्तरा प्रतिपत्तिः पूर्वां बाधते इति न्यायेन स्फुटमेवाभासत इति न दोषः ।

"गुणः क्वाप्यधिकं पदं" ।।४।।

यथा—कालिय यदाचर स्त्वं यमुनावर्त्तिषु दुःसहानर्थान् ।
तन्न न जाने जाने स्पृशति मनः किन्तु नैव निष्ठुरतां ।।

अत्र 'न न जाने' इत्यनेनायोगव्यवच्छेदः, द्वितीय जाने इत्यनेनाहमेव जाने इत्यन्ययोगाद् विच्छित्तिविशेषः ।

---

दोष भी नहीं गुण भी नहीं है । न्यून पदत्व का उदाहरण—"तिष्ठत् कोपवशात्" यहाँ 'पिहित" शब्द के बाद "नैतद् यत" यह पद न्यून है । किन्तु वाक्य व्यङ्ग्य व्यभिचारि भाव का उत्कर्ष सम्पादक होने से बहुगुण है । यह श्री रामचन्द्र की उक्ति है । 'दीर्घं' इस वाक्य ज्ञान से 'तिष्ठेत्' वाक्य का बोध होता है । उत्तर वाक्य ज्ञान से पूर्व वाक्य ज्ञान बाधित होता है । "दीर्घं न सा कुप्यति" इस वाक्य जन्य बोध से विपरीत ज्ञान नष्ट हो जाता है, अतः स्पष्ट प्रतिपादन होने से दोष नहीं हुआ है ।।३।।

स्थल विशेष में अधिक पद गुण होता है । यह अवधारण बोधन स्थल में होता है । उदाहरण—हे कालिय ! तुम ने जो दुःसह अनर्थ का आचरण यमुना में रहकर किया है, उस को क्या मैं नहीं जानता हूँ, जानता हूँ, किन्तु मन निष्ठुरता का स्पर्श नहीं करता है । यहाँ 'न न जाने' इस से अयोग व्यवच्छेद है, द्वितीय जाने शब्द से मैं जानता हूँ, इस से अन्ययोग से विच्छित्ति विशेष होता है ।।४।।

"समाप्तपुनरात्तत्वं न दोषो न गुणः क्वचित्" ॥५॥

यथा—"कृष्णः सममर्चंतन्यं नान्यदित्येवं निश्चितं ।
न मन्यध्वे न मन्यध्वं यूयं दुस्तर्ककर्कशाः ॥"

अत्र प्रथमार्द्धे वाक्य-समाप्तावपि द्वितीयार्द्धे वाक्यं पुनरुपात्तं । एवं विशेषणमात्रस्य पुनरुपादाने समाप्तपुनरात्तत्वं न वाक्यान्तरस्येति ज्ञेयं ।

"गर्भितत्वं गुणः क्वापि" ॥६॥

यथा—दिङ्मातङ्गघटाविभक्त-चतुरा घाटा मही साध्यते
सिद्धासा च वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत ।
विप्राय प्रतिपाद्यते किमपरं रामाय तस्मै नमो
यस्मादाविरभूत् कथाद्भुतमिदं यत्रैव चास्तं गतं ॥

अत्र वदन्त एवेत्यादि वाक्यं वाक्यान्तर-प्रवेशाच्चमत्कारातिशयं पुष्णाति ।

---

समाप्त पुनरात्तत्व अन्वय सम्पन्न होने पर भी वाक्यान्तर से पुनरुपात्त स्थल में समाप्त पुनरात्तत्व नामकदोष, दोष नहीं होता, गुण भी नहीं होता है। उदाहरण—निश्चित तो यह है कि—कृष्ण के समान अपर कोई नहीं है, यदि न मानते हो तो न मानो, आप सब दुस्तर्क तर्क कर्कश हैं। यहाँ प्रथमार्द्ध में वाक्य समाप्त होकर भी द्वितीयार्द्ध में वाक्य का पुनर्वार अनुसन्धान किया गया है। एवं विशेषण मात्र का पुनर्वार ग्रहण से समाप्त पुनरात्तत्व होता है। वाक्यान्तर का पुनरुपादान से समाप्त पुनरात्तत्व दोष नहीं होता है ॥५॥

चमत्कारातिशय जनन स्थल में गर्भितत्वं नामक पूर्वोक्त दोष गुण ही होगा, उदाहरण—दिङ्मातङ्ग घटया दिग् दन्ति समूहेन विभक्ता नियमिताः चत्वारः आघाटाः सीमानो यस्याः सा तथोक्ता महीसाध्यते आयत्तो क्रियते। सिद्धापि समस्त राजगण विजयेन आयत्ती भूतापि सा मही, इति वदन्त एव हि वयम् आश्चर्य्य रसेन रोमाञ्चिता जाता इति यूयं पश्यत, विप्राय कश्यपाय प्रतिपाद्यते दीयते। अपरं किं ब्रूम इतिशेषः। 'यस्मात् इदं कथाद्भुतम्' उक्त वृत्तान्तरूपमाश्चर्यं प्रादुरभूत्। यत्रैव च अस्तं गतम्, यस्मात् पर

"पतत्प्रकर्षता तथा" ॥७॥

तथेति क्वचिद्गुणः यथा—

"उत्सर्पत्कर्परांशव्रणजनकजवः श्रोत्रदृक् तर्जगर्ज
ध्वानस्त्रुटयत् कुचेषु प्रकट कट कटेष्वर्द्दयन् वायुरायुः।
गोष्ठं कोष्ठञ्च भिन्दन्नटति कटु ह हा हन्त किं तत्र वृत्तं
यत्रास्ते नीलपङ्केरुह-क्रदतुलना लालिताङ्गः स बालः॥

अत्र भयानकानन्तमत्ते सुकुमारतया शब्दाडम्बर-त्यागः करुण-व्यञ्जनायां गुणः।

"क्वचिदुक्तौ स्वशब्देन न दोषो व्यभिचारिणः।
अनुभाव-विभावाभ्यां रचनं यत्र नोचितं" ॥८॥

यत्र विभावानुभावमुखेन प्रतिपादने विशदा प्रतीति र्नास्ति, यत्र च विभावानुभावकृतपुष्टिराहित्यमेवानुगुणं, तत्र व्यभिचारिणः स्वशब्देनोक्तौ न दोषः। यथा—

---

वीरो दाता च नाभूत् न भविष्यति चेत्यर्थः, तस्मै रामाय भार्गवाय नमः। यहाँ 'वदन्त एव' यह वाक्य 'सिद्धासापि विप्राय प्रतिपाद्यते' इस वाक्य के मध्य में प्रविष्ट होने से, दानवीर रस का चमत्कारातिशय का पोषण होता है। वक्ता भी विस्मित हो जाता है ॥६॥

**पतत्प्रकर्षता नाम दोष** भी किसी स्थल में गुण होता है। उदाहरण—तृणावर्त्त का आगमन से भयानक अवस्था का वर्णन उत्सर्पत् से हुआ। तीन चरणों में उस का निर्वाह उचित् रीति से होने पर भी चतुर्थ चरण में सुकुमार रूप से शब्दाडम्बर त्याग से करुण रस की व्यञ्जना हुई, अतः यहाँ पतत् प्रकर्षता गुण है ॥७॥

सञ्चारि भाव का उल्लेख—व्यभिचारी शब्द से होने पर भी स्वशब्द वाच्यत्व नामक दोष नहीं होगा, गुण भी नहीं होगा, कहाँ पर होगा, उसको कहते हैं—जहाँपर केवल अनुभाव विभाव बोधक शब्द के द्वारा रचना उचित नहीं है। वहाँपर अर्थात् केवल अनुभाव विभाव बोधक शब्दके द्वारा कविका अभिप्राय को प्रकट करनेपर भी सहृदयों का सुस्पष्ट अनुभव नहीं होता है, जहाँ विभावानुभाव के

"औत्सुक्येन कृतत्वरा व्यावर्त्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्नर्मसखीजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।
दृष्ट्वाग्रे हरिमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
संरोहत्पुलका सहासममुना श्लिष्टा शिवायास्तु वः ।।"

अत्रौत्सुक्यस्य त्वरारूपानुभावमुखेन प्रतिपादनेन झटिति प्रतीतिः। त्वराया भयादिनापि सम्भवात् ह्रियोऽनुभावस्य व्यावर्त्तमानस्य कोपादिनापि सम्भवः। साध्वसहासयोस्तु विभावादिपरिपोषकस्य प्रकृतरसस्य प्रतिकूलप्रायत्वादित्येषां स्वशब्दाभिधानमेव न्याय्यं ।

"सञ्चार्य्यादे र्विरुद्धस्य बाध्यत्वेन वचो गुणः" ।।८।।

अस्योदाहरणादि रसामृतसिन्धूज्ज्वलनीलमण्यो र्भावशावल्य-वर्णने द्रष्टव्यं ।

---

द्वारा पुष्टि राहित्य ही अनुगुण है, वहाँ व्यभिचारि का शब्दतः उल्लेख से दोष नहीं होता है। यथा—औत्सुक्येन पद्यन। इस पद्य में औत्सुक्य ह्री, साध्वस हास, चार व्यभिचार भाव का वर्णन है। 'निर्वेदावेग दैन्य, शृङ्गार वीरयोर्हासः" इस से व्यभिचारि भावका ग्रहण हुआ है। निज कार्यत्वरा रूप अनुभाव के द्वारा प्रतीति की चेष्टा होने पर श्रीकृष्ण के साथ सङ्गम की वेला में औत्सुक्य की सत्वर प्रतीति नहीं होगी, भय हर्ष से भी चाञ्चल्य हो सकता है। भय से भी त्वरा होना सम्भव है। लज्जा से पराङ्मुख होना, वहाँ कोपादि से भी पराङ्मुख होना सम्भव होगा, साध्वस एव हास का प्रतिपादन विभावादि कथन से हुआ है, वह युक्त है। प्रकृत शृङ्गार रस का वह प्रतिकूल प्राय है, साध्वस विभावादि से पुष्ट होने से भयानक रस होगा, और इससे शृङ्गार का विरोधी होगा, हास्य रस विभावादि से पुष्ट होने से हास्य रस होगा, और यह भी शृङ्गार का उपमर्दक होगा। इसलिए उस उस शब्दों से औत्सुक्य ह्री साध्वस हास्य नामक व्यभिचारी भावका वर्णन गुणमें पर्यवसान हुआ ।।८।।

'परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः" इस का समाधान कहते हैं, सञ्चार्य्यादेरिति, विरोधि रसाङ्गभूत व्यभिचारि भाव का उपमर्दक रूप से कथन गुण है, आदि पद से विभाव अनुभाव का

"विरोधिनोऽपि स्मरणे साम्येन वचने तथा ।
न चेद् विरोधो नान्योन्यमङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तयोः" ॥१०॥

क्रमेणोदाहरणानि रसामृतसिन्धौ रसादीनां वैरादि-निरूपण एव ज्ञेयानि ॥

इति रसामृत शेषे दोष-प्रकाशः ॥५॥

———

## षष्ठः प्रकाशः

### रीति-निर्णयः ।

अथ गुणप्रायया रीतिरप्याह—

पद-संघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् ।
उपकर्त्री रसादीनां ॥१॥

---

संग्रह होता है ।

इसका उदाहरणादि—रसामृतसिन्धु उज्ज्वल नीलमणि के भाव शावल्य प्रकरण में देखना आवश्यक है ॥९॥

विरोधि रस द्वय का एकत्र समावेश से दोष होता है, सम्प्रति उस का समाधान भी करते हैं, अङ्ग रूपी विरोधि रसका स्मरण से अथवा विरोधि रसका सादृश्य से कथन से अर्थात् सादृश्य प्रदर्शन के लिए कहने से। तथा अङ्गि रस भावादि में प्रधान भाव से रहने से, विरोधि रस अङ्गता को प्राप्त होने पर अन्योन्य विरोध नामक दोष नहीं होगा, किन्तु यथा सम्भव गुण होगा ॥१०॥

इस का क्रमपूर्वक उदाहरण—भक्तिरसामृतसिन्धु के रसादि वैरादि निरूपण प्रकरण से जानना आवश्यक है ।

इति रसामृत-शेषे दोष-प्रकाशः ॥५॥

———

## षष्ठः प्रकाशः

### रीति-निर्णयः ।

रसादीनामर्थात् शब्दार्थ-शरीरस्य काव्यस्यात्मभूतानाम् ।

सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ।

वैदर्भी चाथ गौड़ी च पाञ्चाली लाटिका तथा ॥२॥

---

# षष्ठः प्रकाशः

## रीति-निर्णयः

दोषनिरूपण के अनन्तर गुण वर्णन आवश्यक है, उस में गुणाभिव्यञ्जक रीति है, अतः उस का वर्णन गुणवर्णन के पहले करते हुए कहते हैं, दोष प्रकरण के पश्चात् गुण प्राय रीति का वर्णन करते हैं ।

शरीर में करचरणादि अवयव सन्निवेश की भाँति शब्दार्थ शरीर काव्य में यथास्थान में पद की संयोजना रीति है. यह ' उपकर्त्री" परम्परा से रस पोषिका होती है । अतः रसाद्युपकारक पद विन्यास को रीति कहते हैं । रीयते ज्ञायते गुण विशेषो अनया रीति । गत्यर्थक 'री' धातु का करण में क्ति है । रीति, प्रथा, व्यवहार यह उस का पर्य्याय है, यथा स्थान लाभ के लिए कारिका में विशेष पद दिया गया है ॥१॥

**रसादि का**—अर्थात् शब्दार्थ शरीर रूप काव्यात्मभूत का पोषक रीति है । यह वामन का मत है । रीतिरात्मा काव्यस्य, किन्तु काव्य का शरीर शब्दार्थ है । वामन के मत में विशिष्ट पद रचना रीति लक्षण है । पद—शब्द विशेष का नाम है, शब्द—काव्य का शरीर ही है । इस प्रकार शरीर कैसे आत्मा हो सकता है ? इस से "रीतिरात्मा काव्यस्य" वामन का कथन अयुक्त है ।

वह रीति—वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली, लाटी, भेद से चार प्रकार हैं । विदर्भ देशीय कवि की वैदर्भी, गौड़ देशीय कवि की गौड़ी, पञ्चाल देशीय कवि की पाञ्चाली, लाट देशीय कवि की लाटी है, लाटि का शब्द सज्ञा में छन्दः पूरण के लिए 'क' प्रत्यय से हुआ है। विदेह उत्कल को रीति इस में ही अन्तर्भूत है ॥२॥

सा रीतिः। तत्र—**माधुर्य्यव्यञ्जकै र्वर्णै रचना ललितात्मिका।**

**अवृत्ति रल्पवृत्ति र्वा वैदर्भी रीति रिष्यते ॥३॥**

यथा—अनङ्गमङ्गलभुव इत्यादि ; रुद्रटस्त्वाह—

असमस्तैकसमस्ता युक्ता दशभि र्गुणैश्च वैदर्भी। वर्गद्वितीय-बहुला स्वल्प-प्राणाक्षरा च सुविधेया। अत्र दशगुणा स्तन्मतोक्ताः।

**ओजः प्रकाशकै र्वर्णै र्बन्ध आड़म्बरः पुनः।**

**समास-बहुला गौड़ी ॥४॥**

यथा—चञ्चद्भुजेत्यादि। पुरुषोत्तमस्त्वाह—

---

उस रीति के मध्य में वैदर्भी रीति वह है, जिस में माधुर्य्य नामक गुणव्यञ्जक वर्ण हो, शब्दत, अर्थतः सुकोमल हो, समास रहित हो, अथवा स्वल्प समास दो अथवा तीन पदवृत्ति समास हो, ऐसी रचना पद योजना वैदर्भी नामक रीति होती है ॥३॥

यथा—"अनङ्गमङ्गलभुव" माधुर्यगुण व्यञ्जक वर्ण के द्वारा अनङ्ग इत्यादि पदत्रय मात्र वृत्ति समास विशिष्ट सुकुमारार्थक रचना से वैदर्भी रीति हुई है।

रुद्र का मत है—सर्वथा समास रहिता, पदद्वय मात्र वृत्ति समास युक्ता, श्लेषादि दश गुण युक्ता कादि वर्ग के द्वितीय वर्ण का बहुल प्रयोग युक्ता। अदीर्घोच्चारण युक्त अक्षर का प्रयोग युक्त वर्णना को वैदर्भी रीति कहते हैं। जो कवि के द्वारा सुन्दर रूप से निबद्धा होती है। इस में उन का कथित श्लेषादि दश गुण होते हैं।

गौड़ी रीति का वर्णन करते हैं। ओज गुण व्यञ्जक वर्णयुक्त, आड़म्बर उत्कट बन्ध रचना गौड़ी है। ओज प्रकाशक वर्ण न हो, केवल बहुतर पदवृत्ति समास विशिष्टा रचना हो तो उसे गौड़ी रीति कहते हैं। यथा—"चञ्चद्भुज" पुरुषोत्तम कहते हैं—बहुतर समास युक्त, अतितीव्र प्रयत्न उच्चारण युक्त वर्ण जिस में है, अनुप्रास बहुल युक्ता योग्यता आकाङ्क्षा युक्त वाक्य लक्षणाक्रान्ता रचना गौड़ी रीति होती है ॥४॥

"बहुतरसमासयुक्ता सुमहाप्राणाक्षरा च गौड़ीया ।
रतिरनुप्रास महिमा-परतन्त्रा स्तोकवाक्या च ।

वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः ।
समस्त-पञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता ।।५।।

द्वयो र्वैदर्भी गौडयोः । यथा—

मधुरया मधुबोधित माधवी मधुसमृद्धिसमेधितमेधया ।
मधुकराङ्गनया सह राधिका-मधुपतेः सविधे विविधं जगौ ।।

भोजस्त्वाह—समस्तपञ्चषपदामोजः कान्ति गुणान्वितां ।
मधुरां सुकुमाराञ्च पाञ्चालीं कवयो विदुः ।।

लाटी तु रीति र्वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता ।।६।।

यथा—अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीनां
मुदयगिरि बनालीत्यादि—

---

पाञ्चाली रीति का वर्णन करते हैं। द्वयो र्वैदर्भी गौड्योः—वैदर्भी एवं गौड़ी रीति में प्रयुक्त माधुर्य्य ओजगुण व्यञ्जक वर्ण भिन्न, पाच, छै, समासबद्ध पद युक्त रचना को पाञ्चाली रीति कहते हैं, यहाँ मध्यम परिमाण का समास होता है। उदाहरण—

"मधुरया मधुबोधित माधवी मधुसमृद्धिसमेधितमेधया ।
मधुकराङ्गनया सह राधिका-मधुपतेः सविधे विविधं जगौ ।।"

यहाँ के वर्ण माधुर्य्य गुण व्यञ्जक, ओज गुण व्यञ्जक नहीं है, प्रथमार्द्ध में मध्यम परिमाण समास होने से यह पाञ्चाली रीति है।

भोजराज के मत में—कविगण पाच छै पद युक्त समास, ओजः कान्ति गुणयुक्त, मधुर सुश्राव्य कोमल रीति को पाञ्चाली कहते हैं।।५

लाटी रीति का लक्षण करते हैं—वैदर्भी पाञ्चाली रीति के मध्य में स्थिता रीति लाटी कहलाती है। कतिपय वैदर्भी रीति घटित पद युक्त—कतिपय पाञ्चाली रीति घटक वर्णयुक्त रचना लाटी रीति की रचना है।

उदाहरण—अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीना
मुदयगिरि बनालीत्यादि—

कश्चिदाह—मृदुपद-समास-सुभगा युक्तं वर्णे नं चातिभूयिष्ठा ।
उचितविशेषण-परिपूरित-वर्णन्यासा भवेल्लाटी ।।

अन्ये त्वाहुः—"गौड़ी डम्वरबद्धा स्याद् वैदर्भी ललितक्रमा ।
पाञ्चाली मिश्रभावेन लाटी तु मृदुभिः पदैः ।।

**क्वचित्तु वक्त्राद्यौचित्यादन्यथा रचनादयः ।।७।।**

वक्त्रादीत्यादि शब्दाद् वाच्यप्रबन्धौ, रचनादीत्यादि शब्दात् वृत्तिवर्णौ ।

तत्र वक्त्रौचित्याद् यथा—

सर्व गर्वदपर्वश्रीतर्वन्तप्रमद-प्रदः ।
भ्राता न स्त्रिजगत्त्राता ब्रह्मभि र्ब्रह्मभिः स्तुतः ।।

अत्र वाच्यस्य क्रोधाद्यव्यञ्जकत्वेऽपि श्रीसङ्कर्षणवक्तृत्वेनाद्धता रचनादयः ।

वाच्यौचित्याद् यथा—

---

इस में श्व, न्द, न्द्व, न्धु, माधुर्य व्यञ्जक वैदर्भी युक्त तथा अपर वर्ण पाञ्चाली घटक लाटी युक्ता है ।

**किसी का कहना है**—सुकुमार पद युक्त समास, अतिशय संयुक्त वर्ण युक्त, उचित सार्थक विशेषण युक्त पदयुक्त रचना ही लाटी रीति है ।

**अपर का कथन है**—जिस में उत्कट बन्ध रचना है, वह गौड़ी रीति है । मधुर शब्द विन्यास परम्परा जिस में है, वह रीति वैदर्भी है । एकत्र मिश्रित गौड़ी वैदर्भी रीति से सम्पन्न रीति पाञ्चाली रीति है । मृदुपद के द्वारा सम्पन्ना **रीति लाटी** कहलाती है ।।६।।

कहीं पर वक्ता प्रभृति के स्वभावानुसार योग्य विपरीत रचनादि को रीति कहते हैं । इस में प्रतिकूल वर्णता दोष नहीं होता है । वक्त्रादि शब्द से वाच्य वक्तव्य बिषय, प्रबन्ध ग्रन्थ विशेष, वृत्ति-छन्दः, वर्ण-अक्षर को जानना होगा । उदाहरण—

सर्व गर्वदपर्वश्रीतर्वन्तप्रमद-प्रदः ।
भ्राता न स्त्रिजगत्त्राता ब्रह्मभि र्ब्रह्मभिः स्तुतः ।।

यहाँ वक्तव्य विषय क्रोध व्यञ्जक नहीं है, किन्तु वक्ता श्रीसङ्कर्षण

दद्भिः खण्डित-गण्ड स्त्वं कयाचित्तु
युक्तं स्यात्तदयुक्तं वा तदुक्तं सर्वथा वृथा ॥

वाचौचित्याद् यथा—मूर्द्धन्याधूयमानेत्यादौ

प्रबन्धौचित्याद् यथा—नाटिकादौ रौद्रेऽप्यभिनय-प्रतिकूलत्वान्न दीर्घ-समासादयः। एवमाख्यायिकायां शृङ्गारेऽपि न मसृणवर्णादयः। नवान्तः रौद्रेऽपि नात्यन्ताद्रताः। एवमन्यदपि ज्ञेयं।

इति रसामृतशेषे रीति-प्रकाशः ॥६॥

---

# सप्तमः प्रकाशः

## गुण-निर्णयः

**गुणमाह—रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्य्यादयो यथा।**
**गुणाः............॥१॥**

---

है, अतः उद्धत रचनादि है। वक्तव्य विषय का औचित्य से—

दद्भिः खण्डित-गण्ड स्त्वं कयाचित्तु
युक्तं स्यात्तदयुक्तं वा तदुक्तं सर्वथा वृथा ॥

वाचौचित्याद् यथा—"मूर्द्धन्याधूयमान" इत्यादि स्थल में।

प्रबन्धौचित्याद् यथा—आदि शब्द से प्रकरण को जानना होगा। शृङ्गार रस में तो होता ही है, उत्कट रौद्रादि रस में दीर्घ समासादि होते हैं। यह तो गद्य पर है, पद्य में दीर्घ समासादि में अभिनय प्रतिकूल नहीं होता है। इस प्रकार शृङ्गार में भी कोमल वर्णादि, गूढ़ क्रोध में भी अत्यन्त कोमल वर्ण दोषकर नहीं है। इस प्रकार केवल शृङ्गार नायक के प्रति कृत्रिम कोप में अत्यन्त उद्धत वर्ण का प्रयोग नहीं होता है ॥७॥

इति रसामृतशेषे रीति-प्रकाशः ॥६॥

---

# सप्तमः प्रकाशः

## गुण-निर्णयः

यथा खल्वङ्गित्वमाप्तस्यात्मन उत्कर्षहेतुत्वाच्छौर्य्यादयो गुणशब्दवाच्या, स्तथा काव्येऽङ्गित्वमाप्तस्य रसस्य धर्माः स्वरूपविशेषा माधुर्य्यादयोऽपि। स्वसमर्पक-पदसन्दर्भस्य काव्यव्यपदेशोपयिकानुगुण्यभाज इत्यर्थः। यथा चैषां रसमात्र-धर्मत्वं तथा पूर्वं दर्शितं।

माधुर्य्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा ॥२॥

तत्र—चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्य्यमुच्यते ॥३॥

यत् केनचिदुक्तं—"माधुर्य्यं द्रुति-कारणमिति," तन्न, द्रवीभावस्यास्वादरूपाह्लादाभिन्नत्वेन तत्कार्य्यत्वाभावात्। द्रवीभावश्च स्वाभाविकानाविष्टत्वात्मक-काठिन्यमन्यु-क्रोधादि-कृतदीप्तत्वविस्मयहासाद्युपहितविक्षेप-

---

"उत्कर्ष हेतवः प्रोक्ता गुणालङ्कार रीतयः" इस कथन के अनुसार प्रसङ्ग क्रम से गुण का वर्णन करते हैं। अङ्गि स्वरूप रस रूप आत्मा का उत्कर्ष व्यञ्जक शौर्य्य-औदार्य्य प्रभृति को गुण शब्द से कहते हैं। जिस प्रकार शरीरि का होता है, उस प्रकार काव्य में भी अङ्गित्व प्राप्त रस का धर्म स्वरूप विशेष माधुर्य्यादि भी है, पद समूह रस का व्यञ्जक होते हैं, वह ही काव्य है, "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। उस का अनुकूल करना गुण का कार्य है, रस व्यञ्जक वाक्य को काव्य कहते हैं। यह सब जिस प्रकार रस धर्म को प्राप्त करते हैं, उस का प्रदर्शन पहले हो चुका है ॥१॥

वह गुण माधुर्य्य ओजः प्रसाद नाम से तीन प्रकार होता है ॥२॥

माधुर्य का लक्षण करते हैं—चित्त का द्रवी भावमय गलितप्राय होना, ह्लाद-आनन्द विशेश को माधुर्य्य नामक गुण कहते हैं। "मधुर रसस्य भाव इति व्युत्पत्तेः" रस भी आनन्द विशेष ही है। यह उसका अंश विशेष होने से आनन्दस्वरूप कहलाते हैं। किसी के मत में "माधुर्य द्रुति-कारणम्" लक्षण है, चित्तद्रवित होने का कारण को माधुर्य कहते हैं। पहले चित्त द्रवीभाव को माधुर्य्य कहा है, इस से परस्पर विरोध होता है। द्रवीभाव—आस्वाद रूप आह्लाद से अभिन्न होने के कारण उस से अभिन्न है। उस का कार्य नहीं हो सकता है। द्रवीभाव स्वरूप वह है—जिस में द्रवीभाव न होने का

परिहारेण रत्याद्याकारानुविद्धानन्दोद्बोधे सहृदयचित्तस्यार्द्रप्रायत्वं । तच्च—

**सम्भोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात् ॥४॥**

सम्भोगादिशब्दा उपलक्षणानि । तेन तदाभासादिष्वप्येतस्य स्थिति र्ज्ञेया ।

**मूर्द्धिन वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान् विना ।**
**रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः ।**
**अवृत्ति रल्पवृत्ति र्वा मधुरा रचना तथा ॥५॥**

यथा—अनङ्गमङ्गेन निजेन साङ्गं कृत्वाधिरङ्गक्षिति सङ्गमय्य ।
अङ्गीचकाराङ्गतमङ्गहारै र्नव्याङ्गना सङ्गमभङ्गया ॥

---

कारण जो स्वाभाविक आविष्ट न होना है, जो काठिन्य क्रोध आदि से चित्त व्याप्त हो जाता है, ऐसे जो विस्मय हास प्रभृति हैं। उस से चित्त विक्षिप्त होता है, उस विक्षेप का कारण के साथ विदूरित करके रत्यादि के आकार से तन्मय होना ही सहृदय का चित्त आर्द्रप्राय है ॥३॥

वह माधुर्यास्वादन सम्भोग करुण विप्रलम्भ, शान्त रस में क्रमश: अधिक होता है। हास्य वत्सल रस की अपेक्षा सम्भोग शृङ्गार में अधिक है। सम्भोग से करुण में अधिक, करुण से विप्रलम्भ शृङ्गार में अधिक, विप्रलम्भ से भी शान्त रस में अधिक होता है। सम्भोगादि शब्द उपलक्षण है, यह माधुर्य गुण का आस्वादन उस के समान प्राय आभासादि में भी होता है ॥४॥

माधुर्य्य गुण व्यञ्जक वर्ण का निरूपण करते हैं। मस्तक में वर्ग के अन्त्य वर्ण (ङ-ञ-ण) न म मिलित (ट-ठ-ड-ढ) के बिना क-कारादि म-कारादि वर्ण अङ्क, शङ्क,सङ्क लघु प्रयत्न से उच्चारित वर्णान्तर से असंयुक्त, रेफ मूर्द्धन्य ण-कार माधुर्य्य गुण व्यञ्जक है। सर्वथा समास रहिता अथवा अल्प समासयुक्ता सुकोमल पद घटिता सुश्रव्या रचना माधुर्य्य गुण व्यञ्जिका है।

वर्गान्त्य वर्ण-संयुक्त वर्ण माधुर्य्य व्यञ्जक है,उसका उदाहरण—

**ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ।**
**वीर-वीभत्स-रौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ॥६॥**

अस्य ओजसः । अत्रापि वीरादि-शब्दा उपलक्षणानि । तेन वीराभासादिष्वप्यस्य स्थितिः ।

**वर्गस्याद्य-तृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ ।**
**उपर्य्यधो द्वयो र्वा सरेफौ टठडढैः सह ॥**
**शकारश्च षकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गताः ।**
**तथा समासबहुला घटनौद्धत्य-शालिनी ॥**

---

अनङ्गमङ्गेन निजेन साङ्गं कृत्वाधिरङ्गंक्षिति सङ्गमय्य ।
अङ्गीचकाराङ्गतमङ्गहारं न व्याङ्गना सङ्गमभङ्गया ॥५॥

ओजो गुण का वर्णन करते हैं। चित्त का विस्फारित रूप ही दीप्त है। विस्मय से उज्ज्वल प्राय को ओजो गुण कहते हैं। इस ओजो गुण का आधिक्य वीर-वीभत्स-रौद्र में क्रमश आधिक्य है। वीर की अपेक्षा वीभत्स में, वीभत्स की अपेक्षा रौद्र रस मे ओज का प्राचुर्य्य है।

यहाँ वीरादि शब्द उपलक्षण है। अत: वीराभासादि में भी ओज: की स्थिति है। चण्डीदास के मत में हास्य अद्भुत भयानक में भी ओज: की स्थिति है।।६॥

ओजो गुण व्यञ्जक वर्णों का निर्देश करते हैं। जिस किसी सजातीय विजातीय वर्ग का प्रथम-तृतीय वर्णयुक्त अन्तिम द्वितीय चतुर्थ वर्ण माधुर्य व्यञ्जक है, अर्थात् वर्ग के प्रथम वर्ण के साथ युक्त द्वितीय वर्ण, तृतीय वर्णके साथ युक्त चतुर्थ वर्ण ओजो व्यञ्जक होता है। जैसे द्राक् खनति, द्राग् घर्षति, द्राक् फलति, द्राग् धावति। उपर रेफ युक्त वर्ण सर्प माधुर्य व्यञ्जक है। नीचे सरेफ वर्ण दीप्र, युगपद् उपर नीचे रेफ-युक्त वर्ण आर्द्र। माधुर्य्य गुण में ट ठ ड ढ निषिद्ध होने से यहाँ निषिद्ध नहीं है। ट ठ ड ढ वर्ण

यथा—वृषस्त्वसौ रज इव पुच्छमार्जनी-
परिभ्रमं घनगणलक्षमुत्क्षिपन् ।
क्षितिक्षतामथ खुरवज्रविज्वलत्
खनित्रकैं विदधदगाद्धरिं प्रति ॥७॥

**चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ।**
**स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ॥८**

व्याप्नोति आविष्करोति । यथा—

---

संयुक्त हो अथवा असंयुक्त हो ओजो गुण व्यञ्जक है । जैसे कुट्टाक, विसष्ठुल गड्डुलिका, शण्डः । विकट कमठ डम्बर मूढ़, बर्णान्तर से असंयुक्त तालव्य श-कार, मूर्द्धन्य ष-कार ओजो गुण व्यञ्जक है, कर्षति, शीर्ष मेष, समास बहुल रचना, असंयुक्त वर्णादि युक्त दीर्घ समास युक्ता रचना, तथा औद्धत्य शालिनी अटमा दीर्घ समास युक्त वर्णों का अभाव से भी विकटार्थ बोधिनी रचना ओजो गुण व्यञ्जिका है । उदाहरण—वृषभासुर का आगमन प्रसङ्ग में ।

वृषस्त्वसौ रज इव पुच्छमार्जनी-
परिभ्रमं घनगणलक्षमुत्क्षिपन् ।
क्षितिक्षतामथ खुरवज्रविज्वलत्
खनित्रकैं विदधदगाद्धरिं प्रति ॥७॥

प्रसाद गुण का वर्णन करते हैं—जो गुण शुष्क इन्धन में अनल की भाँति शीघ्र चित्त में व्याप्त होती है, चित्त को आविष्ट करता, सम्यक् रूप से आवद्ध करता, वह प्रसाद नामक गुण है ।

'प्रसादयति स्वसौन्दर्य्य' द्वारा 'विषयान्तरे सम्बन्धनिवर्त्तनेन चित्तं प्रसन्नं करोतीती व्युत्पत्तिः ॥" प्रसादगुण—समस्त शृङ्गारादि रस में समस्त रचना में अवृत्ति अल्पवृत्ति पदयोजना में सम्भव है । व्याप्नोति शब्द का अर्थ आविष्ट करोति.......आविष्टं स्वस्मिन्नभि-निविष्टम् । इस से "व्याप्नोति आविष्करोति" इस का चमत्कारातिशयत्व सूचित हुआ है ॥८॥

**शब्दा स्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः ॥९॥**

यथा—सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणा त्वं
मुक्तातते हृदि विराजसि नन्दसूनोः ।
वाणैः स्मरस्य शतशो विनिकृत्तमर्मा
स्वप्नेऽपि तं कथमहं न विलोकयामि ॥

**एषां शब्दगुणत्वञ्च गुणवृत्त्योच्यते बुधैः ॥१०॥**

शरीरस्य शौर्य्यादिगुणयोग इवेति शेषः ॥

---

प्रसाद गुण की स्थिति सर्वत्र होने से माधुर्य्य गुण के साथ इसका साङ्कर्य्य क्यों नहीं होगा ? समाधान करते हैं—शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः ॥

श्रुतिमात्रतः श्रवणानन्तरमेव अर्थबोधकाः शब्दाः तस्य प्रसाद-गुणस्य व्यञ्जकाः । तथा च अवृत्त्यल्पवृत्तिस्थले सरलशब्दव्यङ्ग्यत्वे प्रसादगुणः, श्रुति माधुर्य्येसति असरल शब्द व्यङ्ग्यत्वे माधुर्य्यगुणः, विकटार्थ बोधक शब्द व्यङ्ग्यत्वे च ओजोगुण इति व्यञ्जक भेदाद्-भेद इति भावः ॥ उदाहरण—

सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणा त्वं
मुक्तातले हृदि विराजसि नन्दसूनोः ।
वाणैः स्मरस्य शतशो विनिकृत्तमर्मा
स्वप्नेऽपि तं कथमहं न विलोकयामि ॥९॥

"रसस्याङ्गित्वमाप्तस्यधर्माः" कथन से गुणों का रस धर्मत्व कहा गया है, वामनादि प्राचीन पण्डितगण गुण को शब्दार्थ धर्म मानते हैं, उस का समाधान क्या होगा ? उत्तर में कहते हैं—गुणों का शब्दार्थ धर्मत्व गौणवृत्ति से मानते हैं। स्वाश्रय रसादि-व्यञ्जकत्वरूप परम्परा सम्बन्ध से मानते हैं। एषां—माधुर्य्य ओजः प्रसाद गुणों का शब्द गुणत्व—शब्दार्थ उभय का धर्मत्व मानते हैं, साक्षात् रूप से नहीं। उदाहरण से कहते है—"शरीरस्य शौर्य्यादि गुण योग इवेति शेषः ॥" आदि शब्द से तेजः प्रभृति को मानना होगा। जिस प्रकार शौर्य्य तेजः प्रकृति गुण साक्षात् आत्मामें

**श्लेषः समाधिरौदार्य्यं प्रसाद इति ये पुनः ।**
**गुणाश्चिरन्तनैरुक्ता ओजस्यन्तर्भवन्ति ते ॥११॥**

ओजसि भक्त्या ओजःपदवाच्ये शब्दार्थ-धर्म-विशेषे । श्लेषो बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासमानता । यथा—

उद्याते जलधेर्जलद्विषनिभस्याघद्विषः पाणिगः
शङ्खः प्रागुदितः स पञ्चजनजस्तद्दन्त विभ्रान्तिदः ।
तस्यास्फाल-वशात्तरङ्गरभसादन्ये परः कोटयः
शङ्खास्तु क्षिति कीर्णतामुपगताः कृष्टयाङ्किताः स्पष्टतां ॥

समाधिरारोहावरोहक्रमरूपः, आरोह उत्कर्षः, अवरोहोपकर्षः, तयोः क्रमो वैरस्यानावहो विन्यासः । यथा—

---

ही वर्त्तमान होकर भी "स्वाश्रयाश्रयत्वरूप परम्परा सम्बन्ध से शब्दार्थ में रहता है ॥१०॥

सम्प्रति वामनादि पण्डितगण स्वीकृत गुणान्तरों का निज स्वीकृत गुण दोष भाव अलङ्कार गुणीभूत व्यङ्ग्य अन्तर्भाव करने के लिए कहते हैं—चिरन्तनैः प्राचीनैः श्लेषः समाधिः औदार्य्यं प्रसाद इति नामभिः ये पुनर्गुणा उक्ताः ते अस्मत् सम्मते ओजसि गुणे अन्तर्भवन्ति । 'ओजसि' शब्द से ओज पदवाच्य शब्दार्थ धर्म विशेष में अन्तर्भाव होगा, भक्त्या—अर्थात् उपादान लक्षणा के द्वारा । अतएव उपादान लक्षणा से 'ओज' शब्द से शब्दार्थ धर्म विशेष का बोध होने से उस में शब्द धर्म श्लेषादिका अन्तर्भाव होना सम्भव है, अतः उक्त दोष नहीं होगा ।

वामनादि सम्मत श्लेष का लक्षण कहते हैं—तत्र श्लेषो बहूनामपि पदानामेक पदवत् भासमानता अलक्षित सन्धिरूप से प्रतीयमान होना, एक पद के साथ अन्य पद का अभिन्न रूप से श्लेषण से श्लेष नाम होता है । तथा च वामनः यत्रैक पदवद्भावः पदानां भूयसामपि अनालक्षित सन्धीनां स श्लेषः परमोगुणः । यथा—उद्यातेः जलधेः शङ्खास्तु—अनेक पदों की हठात् अलक्षित सन्धि से एक

रव्यादिद्युतिजिष्णु दिव्यधरणि क्षौणीरुहान्तर्गत-

प्रासादस्थित-सिंहपीठमहसि च्छन्नान्यदृष्टित्विषि ।

स्पष्टात्मीयदिशि प्रकीर्णकविकीर्णालीहितालीवृता

राधामाधव-माधुरीवर-सुधा तृष्णां मुधा यच्छति ॥

अत्र पूर्वार्धे आरोहो बन्धगाढ़तया प्रतीयते, उत्तरार्धे तु तदशिथिलतया-वरोहः । उदारता विकटत्वलक्षणा । विकटत्वञ्च पदानां नृत्यत्प्रायत्वं, यथा—

अविकल कलधौतध्वंस-दक्षाङ्गलक्ष्मी वंदनमदन संपत्संपुट प्रस्फुटश्रीः ।

मदचकुरचकोरी चारुता चोरिदृष्टि मंधुरिपु मधुपाली राधिका सा धिनोति ॥

अत्र तन्मतानुसारेण वीराभासमये पूर्वार्धे तदनुगतशृङ्गार-व्यञ्जकेऽप्युत्तरार्धे रसानुसन्धानमन्तरेणापि शब्दप्रौढ़िमात्रेणौजः । प्रसाद ओजो-मिश्रितशैथिल्यात्मा ।

---

पदवत् प्रतीयमान् होने से वामनादि मतमें श्लेष नामक शब्द गुण है ।

वामनादि मत सिद्ध समाधि का लक्षण को कहते हैं—समाधि आरोह अवरोह क्रमरूप है, आरोह-उत्कर्षः, अवरोह-अपकर्षः दोनों का क्रम-वैरस्यानावह विन्यास है । तथा च वामनः—आरोह-न्यवरोहन्ति क्रमेण यतयो हि यत् । समाधि नाम सगुणस्तेन पूता सरस्वती । आरोह-उत्कर्ष, रचना की प्रगाढ़ता, अपकर्ष—रचना का शैथिल्य, वैरस्यानावह विरक्त्यजनक । प्रथम रचना की प्रगाढ़ता, द्वितीय—परश्च शैथिल्यम् । यह आरोहावरोहक्रम, वह ही समाधि है । उस रूप से रचना होने से समाधि सज्ञा होती है । उदाहरण—रव्यादिद्युतिजिष्णु दिव्यधरणि । यहाँ पूर्वार्ध में आरोह बन्धगाढ़ रूपसे प्रतीत होना है । उत्तरार्ध में शिथिलतया अवरोह है, उदारता—विकटत्व लक्षणा है, विकटत्व—पदों का नृत्यत्प्रायत्वरूप उदारता नाम है । उदाहरण—

अविकल कलधौतध्वंस-दक्षाङ्गलक्ष्मी वंदनमदन संपत्संपुट प्रस्फुटश्रीः ।

मदचकुरचकोरी चारुता चोरिदृष्टि मंधुरिपु मधुपाली राधिका सा धिनोति ॥

यहाँ वामन मत के अनुसार वीराभास के समय पूर्वार्द्ध में तदनुगत शृङ्गार का व्यञ्जक होने पर भी उत्तरार्द्ध में रसानुसन्धान

यथा—प्रायः शस्त्रं विभर्त्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनाञ्चमूनामित्यादि ।

ग्राम्यदुःश्रवता-त्यागात् कान्तिश्च सुकुमारता ॥१२॥

अङ्गीकृतेति सम्बन्धः । कान्ति रौज्ज्वल्यं । तच्च हालिकादिपदविन्यास-वैपरीत्येनालौकिकशोभाशालित्वं । सुकुमारता स्वपारुष्यं । अनयोरुदाहरणे स्पष्टे ।

---

न होने परभी शब्द प्रौढ़ि मात्रसे ओज है। केवल रचना कीप्रगाढ़ता से ओजगुण का स्वीकार हम भी करते हैं। यदाह—

पदन्यासस्य गाढ़त्वं वदन्त्योजः कवीश्वराः ।
अनेनाधिष्ठिताः प्रायः शब्दाः श्रोत्ररसायनम् ॥

वामन के मत में प्रसादोजोमिश्रित शैथिल्यात्मा का उदाहरण—ओज के साथ मिश्रित शैथिल्य ही आत्मा स्वरूप जिस का उस प्रकार बन्ध, जिस बन्ध में कहीं प्रगाढ़ता, कहीं शिथिलता है, उस प्रकार बन्ध को प्रसाद गुण कहते हैं। सभ्यानां मनसः प्रसादनात् प्रसादः। तथा च वामन—

श्लथत्व मोजसा मिश्रं प्रसादञ्च प्रचक्षते ।
अनेन न विना सत्यं स्वदते काव्य पद्धतिः ॥

उदाहरण—प्रायः शस्त्रं विभर्त्तं स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनाञ्चमूनाम् ॥

इस पद्य में सकल चरणों में प्रसाद गुण सुस्पष्ट है ॥११॥

प्राचीन मत सिद्ध कान्तिसुकुमारता नामक गुणों का निज मत में संग्रह दिखाते हैं। ग्राम्यदुःश्रवता-त्यागात् कान्तिश्च सुकुमारता। ग्राम्य दुःश्रव का भाव—ग्राम्य दुःश्रवता, उसका त्याग से, ग्राम्यता दोष है, उस का परित्याग से कान्ति है। दुःश्रवता दोष है, उसका परित्याग से सुकुमारता का स्वीकार हम ने भी किया है। उन्होंने भी स्वीकार किया है। कान्ति उज्ज्वलता आदि पद से अशिक्षित जन मात्रका संग्रह है। हालिकादि पद को छोड़कर नागर उपनागर पद प्रयोग से अलौकिक शोभाशालित्व है। सुकुमारता-अपारुष्य। भोजदेव—यदुज्ज्वलत्वं बन्धस्य काव्ये सा कान्तिरुच्यते।

अनिष्ठुराक्षर प्रायं सुकुमारमिति स्मृतम् ॥१२॥

क्वचिद् दोषस्तु समता मार्गाभेद-स्वरूपिणी ।
अन्यथोक्तगुणेष्वस्या अन्तःपातो यथायथम् ॥१३॥

मसृणेन विकटेन वा मार्गेणोपक्रान्तस्य सन्दर्भस्य तेनैव परिनिष्ठानं मार्गाभेदः, स च क्वचिद् दोषः । तथाहि—

अव्यूढाङ्कमरूढपाणिजठराभोगश्च बिभ्रद् वपुः
श्रीगोपेन्द्रशिशुः सपाणियुगले सम्मातु किं तावता ।
अद्रि-स्पर्द्धि-विवृद्धिमुद्धततया लब्ध्वा तदूर्द्ध्वं धृत-
स्वर्धामावधिलोकबुद्धि तिनदाधूतामुना क्ष्मयपि ॥

अत्रोद्धतेऽर्थे सुकुमारता त्यागो गुण एव । अनेवंविधस्थाने माधुर्य्यादावेवान्तःपातः । यथा—

---

प्राचीन गण स्वीकृत समता नामक गुण को सार्थक करते हैं । क्वचिदिति—मार्गाभेद स्वरूपिणी उपक्रमोपसंहारयोरेकप्रकार-रचनात्मिका, समता नाम गुणः, क्वचित् सुकुमारार्थे उत्कट रचना स्थले उत्कटार्थे सुकुमार रचनास्थले च प्रतिकूल वर्णत्वं नाम दोष एव । अन्यथा तादृश वैषम्याभावस्थले अस्याः समतायाः उक्त गुणेषु ओजः प्रभृतिषु मध्ये यथायथं सम्भवम् अन्तःपातो भवेत् ।

मार्गाभेद शब्द का अर्थ करते हैं—मसृणेन कोमलेन । मार्गेण—रचनाप्रकारेण, उपक्रान्तस्य—आरब्धस्य, सन्दर्भस्य वाक्यस्य—महावाक्यस्य वा, तेनैव—तादृशेणैव मार्गेण, परिनिष्ठानम्—समापनम् ॥ तथा च वामनः—प्रतिपादं प्रतिश्लोकमेकमार्गपरिग्रहः ।
दर्बन्धोर्दुर्विभावश्च समतेतिमतोगुणः ॥

स च क्वचिद् दोषः—मार्गाभेदरूपः प्राचीन सम्मतः समताख्यो-गुणश्चेत्यर्थः । एक पद्य से ही दोनों गुण-दोष का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । तथाहीति—

अव्यूढाङ्कमरूढपाणिजठराभोगश्च बिभ्रद् वपुः ॥

यहाँ उद्धत अर्थ में सुकुमारता का त्याग गुण ही है । सुकुमार रचना स्थल में,—उत्कटरचना स्थल में,—माधुर्य्यप्रसाद ओज में—अन्तर्भाव होगा ॥१३॥

**ओजः प्रसादो माधुर्य्यं सौकुमार्य्यमुदारता ।**
**तदभावस्य दोषत्वात् स्वीकृता अनुगा गुणाः ॥१४॥**

ओजः स्वाभिप्रायत्वं । प्रसादोऽर्थ वैमल्यं । माधुर्य्यमुक्तिवैचित्र्यं । सौकुमार्य्यमपारुष्यं । उदारता त्वग्राम्यत्वं । एषां पञ्चानामप्यर्थगुणानां यथाक्रमेणापुष्टार्थाधिक-पदानवीकृतामङ्गलरूपाश्लील-ग्राम्यतानां निराकरणे-नाङ्गीकारः । स्पष्टान्युदाहरणानि ।

**अर्थव्यक्तिः स्वभावोक्त्यलङ्कारेण तथा पुनः ।**
**रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यानां कान्ति-नामकः ॥१५॥**

अङ्गीकृत इति सम्बन्धः । अर्थव्यक्ति र्वस्तुस्वभावस्फुटत्वं । कान्ति र्दीप्त-रसत्वं । स्पष्टे उदाहरणे ।

---

सम्प्रति भोज देवादि सम्मत ओज प्रभृति दशविध अर्थगुणों का सार्थक प्रदर्शन निजमत से करते हैं—ओजः, प्रसादः, माधुर्य्यम्, सौकुमार्य्यम् उदारता, यह पाच अर्थ निष्ठ प्राचीन सम्मत गुण है। उस का अभाव से दोष होता है, यह हमारी मान्यता है। "दोष का परित्याग, गुण का ग्रहण" यह रीति है। ओजः—स्वाभिप्रायरूपम् विशेषण पदार्थस्य मुख्योपयोगित्वेन वक्तुरभिप्रेतम्। अर्थस्य वैमल्य विशदत्वम्, उक्ते वैचित्र्यम्। क्रोधादावप्यतीव्रम्। अपारुष्यम्—अनिष्ठुरत्वम्। अग्राम्यत्वं—हालिकादि अशिक्षित जनैर प्रयोज्यत्वम्। इस पञ्च अर्थ गुणों से अपुष्टार्थ अधिक पद—अनवीकृत अमङ्गलरूप अश्लील ग्राम्य का निराकरण होता है, उस प्रकार से हमने भी उसे स्वीकार किया। उदाहरण स्पष्ट है ॥१४॥

स्वभावोक्ति अलङ्कार को स्वीकार कर प्राचीनोक्त अर्थव्यक्ति नामक अर्थगुण को मान लिया, इस प्रकार ध्वनि गुणीभूत व्यङ्ग्य का मान कर कान्ति नामक प्राचीन उक्त अर्थगुण को स्वीकार किया। पदार्थ का स्वभाव सुस्पष्ट रूप से प्रतीयमान है। दीप्तरस स्पष्ट प्रतीयमान है। सरस्वती कण्ठाभरण के मत में अर्थव्यक्तिः स्वरूपस्य साक्षात् कथनमुच्यते। कान्तिर्दीप्तरसत्वं स्यात्। अर्थ

**श्लेषो विचित्रतामात्रमदोषः समता-परं ॥१६॥**

श्लेषश्च क्रमकौटिल्यानुल्वणत्वोपपत्तियोगरूपघटनात्मा। तत्र क्रमः क्रिया-सन्ततिः। विदग्धचेष्टितं कौटिल्यं। अप्रसिद्धवर्णनाविरहानुल्वणत्वं। उपपादकयुक्ति-विन्यास उपपत्तिः। एषां योगः सम्मेलनं। स एव रूपं यस्या घटनायाः तद्रूपः श्लेषो वैचित्र्यमात्रं। अनन्यसाधारण-रसोपकारित्वविरहादिति भावः। यथा –

**दृष्ट्वैकासन-सङ्गते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-**
**देकस्या नयने निरुध्य विहितक्रीड़ानुबन्धच्छलः।**

---

व्यक्ति का उदाहरण—ग्रीवाभङ्गाभिरामम्। अत्र स्वभावोक्त्य-लङ्कारेणैव अर्थव्यक्तिरूपो गुणः प्राप्तः। कान्ते यथा-शून्यंवासगृहम्। अत्र शृङ्गाररस ध्वनिनैव कान्तिरूपोगुणः संगृहीतः। अयं च रसनोत्कर्षी, इत्यादौ तु रसस्य गुणीभूत व्यङ्ग्यतया कान्तिरूपो गुणः सम्पादितः ॥१५॥

प्राचीन सम्मत श्लेष समता गुण का अगुणता प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं। श्लेषाविचित्रतामात्रमदोषः स्वमतापरम्॥ श्लेष नामक प्राचीन सम्मत गुण केवल वैचित्र्य रूप है, गुण स्वरूप नहीं है। इस प्रकार समता नामक प्राचीन सम्मत गुण कवल अदोष रूप है,गुण नहीं है। श्लेषका लक्षण करते हैं,–क्रमकौटिल्यानुल्वणत्वोप-पत्तियोगरूपघटनात्मा। क्रम—क्रिया की सन्तति समूह है। विदग्ध चेष्टित कौटिल्य है। निपुण व्यवहार। अप्रसिद्ध वर्णना का अभाव अनुल्वण है। उक्त विषय समर्थनकारिणी युक्ति स्थापन उपपत्ति है। इस का योग-सम्मेलन जिस घटना का उस प्रकार रूप है, वह श्लेष नामक गुण है, वह वैचित्र्य मात्र है। अनन्य साधारण रसोपकारित्व नहीं है।

प्राचीन सम्मत समता गुण को दिखाकर उस का अदोषत्व प्रतिपादन करते हैं। अवैषम्य क्रमवत्तां समत्वमिति कीर्त्तितम्। (सरस्वती कण्ठाभरण) प्राचीन मत में समता गुण है, निज मत में प्रक्रम भङ्गरूप दोष का अभाव है। अतिरिक्त गुण वह नहीं है।

तिर्य्यग्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा
मन्तर्हासि-लसत्कपोलफलकां कृष्णः परां चुम्बति ॥

अत्र दर्शनादयः क्रिया। उभयसमर्थानुरूपं कौटिल्यं। लोकसंव्यवहाररूपमनुल्वणत्वं। 'एकासन-सङ्गते' 'पश्चादुपेत्य नयने निमील्येषद्वक्रिम-कन्धर' इति चोपपादकानि। एषां योगः। अनेन च वाच्योपपत्तिग्रहण-व्यग्रतया रसास्वादो व्यवहितप्राय इत्यस्यागुणता। समता च प्रक्रान्तप्रकृतिप्रत्यया-विपर्य्यासेनार्थस्य विसम्वादिताविच्छेदः। स च प्रक्रमभङ्गरूप दोषविरह एव। स्पष्टमुदाहरणम्।

"न गुणत्वं समाधेश्च" ॥१७॥

समाधिश्चायोन्यन्यच्छायायोनिरूप द्विविधार्थदृष्टिरूपः। तत्रायोनिरर्थो यथा—

---

रसादि का उत्कर्ष जनक वह नहीं है। उदाहरण—दृष्टैकासन-सङ्गते प्रियतम कृष्ण आसन में बैठे थे, यह देखकर राधा पीछे से आकर कृष्ण के नेत्रों को दोनों हाथों से मुँद दिये, कृष्ण ने गर्दन को टेढ़ाकर आनन्दित पुलकायित चित्त से उसे निरन्तर चुम लिया।

यहाँ दर्शनादि क्रिया है, उभय समर्थानुरूप कौटिल्य है, लोक संव्यवहार रूप वर्णन है, 'एकासन-सङ्गते' 'पश्चादुपेत्य नयने निमील्येषद्वक्रिम-कन्धर' यह सब प्रकृत विषय प्रतिपादक युक्ति विन्यास है। इस का योग है। इस से वाच्योपपत्तिग्रहण-व्यग्रता से रसास्वाद व्यवहितप्राय है, इस लिए प्राचीन सम्मत श्लेष नामक गुण, गुण तथा दोष में पर्य्यवसित नहीं होता, रसोत्कर्ष जनक न होने से गुणता नहीं है। वास्तविक व्यवधान का अजनक होने से दोषता भी नहीं है। समता अदोष है, प्रथम अभिहित प्रकृति प्रत्यय का अवैषम्य से वक्तव्य विषय का वैषम्यका अभाव है, इस प्रकार रचना नियम से आरम्भ कर समापन होने से प्राचीन मत में समता गुण है, हमारे मत में प्रक्रम भङ्ग विरह रूप दोष का अभाव है, यह अतिरिक्त कोई गुण नहीं हैं, रसोत्कर्ष जनकता इस में नहीं है। उदाहरण स्पष्ट है—न दीयते तथा स्वाङ्गं दीयते तु स्मितं परम्॥१६॥

सद्यो मुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्द्धिनारङ्गकम् ।
वृन्दारण्यमिदं विलोकय सखे ! नेत्रे सखेले कुरु ॥

अन्यच्छायायोनि यथा —

निजनयनप्रतिबिम्बं रम्बुनि बहुशः प्रतारिता गोपी ।
नीलोत्पलेऽपि विमृशति करमर्पयितुं द्विधाभावं ॥

अत्र नीलोत्पल-नयनयोरतिप्रसिद्धं सादृश्यं विच्छित्तिविशेषेण निबद्धं । अस्य चासाधारणशोभानाधायकत्वान्न, किन्तु काव्यशरीरमात्रनिर्वाहकत्वं ।

---

प्राचीन सम्मत समाधि नामक अर्थ गुण भी हमारे मत में गुण नहीं है । विभाग प्रदर्शन पूर्वक लक्षण करते हैं । - समाधि अर्थदृष्टि यह लक्षण है । अर्थदृष्टि—अर्थबोध विशेष । अर्थ द्विविध-अयोनि, अन्यच्छायायोनि, तत्र न विद्यते योनिः प्रसिद्धि रूपं कारणं यस्य स अयोनिः । तथा अन्येषु काव्येषु या च्छाया प्रतिबिम्बं स्वरूप वर्णन प्रसिद्धिरित्यर्थः । सैव योनिः कारणं यस्य सः अन्यच्छायायोनिः ॥

अयोनि वर्णन का उदाहरण—

"सद्यो मुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्द्धिनारङ्गकम् ।
वृन्दारण्यमिदं विलोकय सखे ! नेत्रे सखेले कुरु ॥"

सद्यो मुण्डितं कृत क्षौरं यत् मत्तहूणस्य मद्यपानान् मत्त हूणदेशीय म्लेच्छस्य चिबुकं तस्य प्रस्पर्द्धि तुल्यं नारङ्गकम् पक्व नारङ्ग फलम् । अत्र मत्त हूण चिबुक पक्व नारङ्गयोः सादृश्यं काव्यान्तरेषु अप्रसिद्ध-मिति सादृश्यरूपोऽर्थः अयोनिः ।

अन्यच्छाया योनि का उदाहरण—

"निजनयनप्रतिबिम्बं रम्बुनि बहुशः प्रतारिता गोपी ।
नीलोत्पलेऽपि विमृशति करमर्पयितुं द्विधाभावम् ॥"

यहाँ नीलोत्पल नयन का सादृश्य अतिप्रसिद्ध है, किन्तु वर्णन से चमत्कारातिशय हुआ है । अति प्रसिद्ध सादृश्य विन्यास विशेष निपुणता से नूतन के समान हुआ है ।

सम्प्रति समाधिका अगुणत्व प्रतिपादन करते हैं ।—

अस्य समाधेस्तु, असाधारण शोभाया स्वाधीन अगुण सौन्दर्यस्य

**क्वचित् 'चन्द्र' इत्येतस्मिन्नर्थे वक्तव्ये 'अत्रे नयनसमुत्थं ज्योतिः' इति वाक्यरचनं। क्वचित् "निदाघशीतलहिमकालोष्ण सुकुमारशरीरा योषिदिति' वाक्यार्थे वक्तव्ये 'वरवर्णिनीति' पदाभिधानं। क्वचिदेकस्य वाक्यार्थस्या-किञ्चिद्विशेष-निवेशादनेकवाक्यैरभिधानमित्येवंरूपो व्यासः। क्वचिद्बहुवाक्य-प्रतिपाद्यस्यैकवाक्येनाभिधानमित्येवंरूपः समासश्च। इत्येवमादीनां अन्यैरुक्तानां न गुणत्वमुचितं। अपि तु वैचित्र्यमात्रावहत्वं।**

---

अनाधायकत्वादजनकत्वात्। काव्य शरीर मात्रस्य अर्थात्मक केवल काव्यदेहस्य निर्वर्त्तकत्वं-निष्पादकत्वम्॥

पदार्थे वाक्यरचना वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढ़ि व्यास समासौ च स्वाभिप्रायत्वमस्य च॥

इति वामनोक्तानां पञ्च प्रकाराणां। ओजसां अन्तिम प्रकारस्य साभिप्रायत्वस्य अपुष्टार्थता दोषाङ्गीकारेणैवाङ्गीकृतत्वं दर्शितम्, अपरेषां चतुर्णां प्रकाराणां कथमङ्गीकारः सम्पन्नः। इत्याकाङ्क्षायां तेषामगुणत्वमेव प्रतिपादयितुमाह क्वचिदिति अगुणत्व प्रतिपादन प्रकरण एव यस्य कस्यापि अगुणत्व प्रतिपादनस्य कर्त्तव्यत्वात् ओजसो व्यवस्था प्रकरणमुलङ्घ्य अस्य सन्दर्भस्योपन्यास इति द्रष्टव्यम्॥ क्वचित्-रघुवंशादौ। वाक्यस्य वचनमुक्तिः। यथा—रघुवंशे-अथ नयन समुत्थ ज्योतिरत्रेरिव द्यौः। ब्रह्मणः कश्चित् पुत्रोऽत्रिस्तस्य नयनाज्जातश्चन्द्र इति पुराणवार्त्ता। क्वचिदुद्भटादौ। निदाघे ग्रीष्मकाले शीतलाः हिमकाले चोष्णः सुकुमाराश्च शरीरावयवा यस्याः सा। तथा च रुद्रः—शीते सुखोष्णा सर्वाङ्गी ग्रीष्मे च सुख-शीतला। भर्तृभक्ता च या नारी सा भवेद् वरवर्णिनी। यथा—उपस्थिता सा वरवर्णिनीयम्॥ क्वचिन्नैषधादौ। किञ्चिद् विशेष-निवेशमभिप्रेत्य व्यासो विस्तारः। यथा-नैषधे द्वितीय सर्गे दमयन्त्यु-दरस्य कृशत्वरूप वाक्यार्थस्य मेरुदण्ड निम्नता हेमकाञ्चीरूप विशेषाभिप्रायेण 'उदरं नत' 'उदरं परिभाति' इत्यादि श्लोक द्वयेन अभिधानम्। क्वचित् चाणक्यनीत्यादौ समासः संक्षेपः। यथा—मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ट्रवत्। आत्मवत् सर्वभूतेषु यः

"तेन नार्थगुणाः पृथक्" ॥१८॥

तेनोक्तप्रकारेण । अर्थगुणा ओजः प्रभृतयः प्रोक्ताः ॥

— — — —

इति रसामृतशेषे गुण-प्रकाशः ॥७॥

## समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

— —:✻✻:— —

पश्यति स पण्डितः। मातरमिव परदारानाद्रियते, मातरमिव परदारान् सम्मानयति, मातरमिव परदारान् नाकाङ्क्षति चेत्यादि बहुवाक्यैः प्रतिपाद्यस्य अर्थस्य मातृवत् परदारेषु ॥ एक वाक्येनाभिधानम् । अन्यैर्वामनादिभिः। गुणत्वं नोचितमिति। रसादीनामुत्कर्षाजनकत्वात् ॥१७॥

गुण निरूपण प्रकरणमुपसंहरन्नाह तेनेति—"तेन नार्थगुणाः पृथक् ॥" तेन उक्त प्रकारेण, अर्थगुणाः, वामनोक्ता भोजराजोक्ता दण्डयुक्ता वा अर्थ वृत्तयोगुणाः न पृथक् नातिरिक्ताः। अपितु अस्मदुक्त गुणदोष भाव रसध्वनि गुणीभूत व्यङ्ग्यालङ्कारेष्वेवान्तर्भुना इति भावः। तेनेति । प्रोक्ताः प्राक्प्रदर्शिताः ॥ अर्थगुणा ओजः प्रभृतयः प्रोक्ताः ॥१८॥

इति रसामृतशेषे गुण-प्रकाशः ॥

## समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

हरिदासाख्यशास्त्रिण वृन्दारण्य निवासिना

पूरिता विमलाभाभा विदुषां परितुष्टये ॥

फाल्गुनस्यासितपक्षे चतुर्थ्यां रविवासरे

द्व्याधिकोनविंशेशाके व्याख्येयं पूर्णतागता ॥

